विश्वविद्यालय नेतृत्व कार्यक्रम पाठमाला

सपादन हरगोविन्द पन्त

राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त

लेखक ब्रज मोहन शर्मा, अनाम जैतली

राजनीति विज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर—302004

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली
के विश्वविद्यालय नेतृत्व कार्यक्रम
के अन्तर्गत प्रकाशित श्रृंखला)

शीर्षक राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त
(©) राजनीति विज्ञान विभाग
(1982) राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रथम संस्करण—1982

प्रकाशक राजनीति विज्ञान विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर—302004

मुद्रक : भारत प्रकाशन, नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

विषय सूची

आमुख

राजस्थान विश्वविद्यालय का राजनीति विज्ञान विभाग हमारे देश के एक सकडा से अधिक विश्वविद्यालयो के ऐसे ही राजनीति विज्ञान विभागो म एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है। वह उन गिने चुन विभागा म से एक है जिन्ह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली ने "विश्वविद्यालय नेतृत्व कायक्रम" (यू० एल० पी०) चलाने की जिम्मेदारी सौंपी है। विगत तीन वर्षों से यह काय क्रम विभाग मे चल रहा है। इस सीढी पर चढकर विभाग आशान्वित है कि उसे शीघ्र ही मा यता प्राप्त होगी कि वह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से "विशिष्ट सहायता" (स्पशल असिस्टन्स) प्राप्त करने के योग्य मान लिया जाए। इस मान्यता का प्राप्त कर वह राष्ट्रीय स्तर का राजनीति विज्ञान का केन्द्र हो पाएगा—इसमे हम कोई स देह नही हैं।

तीन वष से चल रहे इस कायक्रम के अ तगत विभाग न अनक शैक्षणिक एव शोधपूण काय सम्पन्न किए है और पिछने छ महीने मे इस दिशा म द्रुत-गामी प्रगति हुई ह। सगोष्ठी, कायशाला, विद्वतजनो के ज्ञानवधक भाषण, सुपाठ्य व सरल भाषा मे अधिकारी विद्वानो की कृतियो के अनुवाद इत्यादि सम्पन्न हुए हैं जिसन इस कायक्रम की छवि निखारने म महती भूमिका निबाही है। परन्तु इन सारे कायक्रमो म, अनेक ज्ञात एव अज्ञात कारणों से इस कायक्रम के अ तगत दिए गए दो 'पद' रिक्त रह गए। एक विजिटिंग आचाय का पद था जिस पर कतिपय दिनो के लिए तो एक सज्जन आए और कुछ कार्य हुआ फिर यह पद रिक्त ही रह गया। 'रीडर' का पद भी भरा नही जा सका। अत हमन यह निणय लिया कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के अधिकारियो से यह आग्रह किया जाए कि इन 'पदो' के लिए निर्धारित मुद्रा हम स्नातक स्तर के पांच विषयो की पाच अच्छी पाठ्य पुस्तकें (मॉडल टेक्स्ट बुक्स) लिखवाने एव कायक्रम से सम्ब धित महाविद्यालयो मे उनके वितरण की अनुमति मिले। आयोग के सहृदय पदाधिकारियो न सहष हमारा यह अनुरोध स्वीकार कर लिया। वस्तुत हमारा यह सुखद अनुभव रहा ह कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विश्वविद्यालय विभागो की अकाद मीय स्थिति सुधारन और उनकी अ य विधि से सहायता कर पाने के लिए सदैव तत्पर एव उत्सुक रहा है जो भी प्रगति की राह मे झगडे ट टे उठते हैं, वे वि० वि० अ० आयोग की ओर से न होकर, अधिकाश विश्वविद्यालयो के

अपने कलह तथा ईर्ष्या के परिणाम होते हैं। इसमें भी हमें वर्तमान कुलपति प्रो० के० एन० उण्णितान तथा कुलसचिव का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। पर इतनी सारी कृपा और अनुकम्पा निष्फल हो गई होती यदि मुझे विभाग के अपने सभी सहयोगियों से निर्बाध-सतत् प्रवाहमान हार्दिक समर्थन और सहयोग नहीं मिला होता। शुरू से आखिर तक आज के युग में जो देव दुर्लभ और अलभ्य हो गया ऐसा सहकर्मियों के पग पग पर समर्थन और सहयोग से ही वास्तव में यह सारी संरचना सम्भव बन पायी जिसके लिए मैं उनका ऋणी रहूंगा। यश और कीर्ति जो मिले, उसके वे ही पात्र एवं अधिकारी हैं, त्रुटियाँ अवश्य मेरे जिम्मे की जानी चाहिए।

विश्वविद्यालय नेतृत्व कार्यक्रम का यह सौभाग्य माना जाना चाहिए कि उसे शुरू से ही सहायक प्रोफेसर एवं अनुवादक प्रकाश शास्त्री के रूप में एक ऐसे अध्यवसायी व समर्पित व्यक्तित्व का सहारा मिलता रहा है जो हमारे लिए पीर तथा मीर दोनों ही है— कार्यक्रम के अन्तर्गत जो कुछ अनुवाद तथा लेखन सम्बन्धित काम हुआ, उस पर उनके कर्मठ व्यक्तित्व की किसी न किसी रूप में अमिट छाप अवश्य रही है।

हमारे विभाग के सभी कर्मचारी (वरिष्ठ लिपिक, कनिष्ठ लिपिक तथा भृत्य एवं सहायक सभी वर्गों के) विश्वविद्यालय नेतृत्व कार्यक्रम में उत्साह एवं लगन से भाग लेते रहे हैं। इनकी तकनीकी तथा टंकण से सम्बन्धित मदद ने हम लोगों के बौद्धिक परिश्रम को ग्रन्थों के रूप में प्रकट होने में जो सहायता की है उसके लिए वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं अपनी ओर से, अपने विभाग की ओर से भारत प्रकाशन के संचालक श्री भारत भूषण शर्मा की भूरि भूरि प्रशंसा करता और उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करना चाहूंगा जो हम लोगों का सहृदय, कर्मठ और निष्कपट मुद्रक के रूप में तो मिले ही, एक मित्र की तरह उन्होंने दूर स्थान पर हमें इस कार्यक्रम को सुरुचिपूर्ण ढंग से सफल करने में मूल्यवान सहयोग दिया।

विश्वविद्यालय के भूतपूर्व छात्रगण नवलसिंह, सत्यदेव एवं महादेव का सहयोग इतने कम समय में मुद्रण व प्रकाशन व्यवस्था की चुनौती को स्वीकार करने के रूप में अविस्मरणीय रहेगा।

30 जून, 1982
जयपुर-राजस्थान

हरगोविन्द पन्त
निदेशक एवं अध्यक्ष

सम्पादकीय

विश्वविद्यालयो आर कॉलिजो मे जो विषय पढाये जाते हैं उनमे समाज विज्ञानो मे राजनीति विज्ञान सर्वत्र ही एक लोकप्रिय विषय बना हुआ है। प्रतियोगिता परीक्षाओ मे भी राजनीति विज्ञान का यही हाल है। स्वाधीनता के पूर्व जो स्थिति थी, उससे आज बेहतर है। तब अनेक विश्वविद्यालयो और कॉलिजो मे राजनीति विज्ञान की पढाई इतिहास विभाग की जिम्मेदारी मानी जाती थी। विभाग का नाम भी इतिहास और राजनीति विभाग होता था। कहीं-कही यह अर्थशास्त्र का अग था। आज प्राय सभी जगह अपना स्वतत्र अस्तित्व प्राप्त कर चुका है बल्कि, कुछ जगह तो लोक प्रशासन और अतर्राष्ट्रीय सबध के अध्ययन का प्रबध अलग विभाग के रूप मे पल्लवित होने लगा है। इतना ही नही कुछ विश्वविद्यालयो मे राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम को काफी सुधारा और सशोधित किया गया है और उसमे कतिपय अधुनातन प्रवृत्तियो और विकास की जानकारी को स्थान दिया गया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की मदद से अनेक विश्वविद्यालयो के इन विभागो के बारे मे न केवल जानकारी इकठ्ठी की गई है बल्कि, 'वर्कशाप' (कार्यशाला) व गोष्ठियो के द्वारा राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम के कलेवर नवीनीकरण के प्रयास भी हुए हैं। इस दिशा मे दिल्ली विश्वविद्यालय और राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभागो ने जो पहल की है, उसे अन्यत्र सराहा गया है। प्रस्तुत प्रयास भी उसी दिशा को ओर उठाया गया एक कदम है।

पर जो कुछ भी इस दिशा मे हो रहा है, वह कायाकल्प मात्र

लगता है, केवल रूप सज्जा का प्रयास, क्योंकि राजनीति विज्ञान मे जो पाठ्यसामग्री है, और जिन अध्ययन विधियो पर जोर दिया जाता है, उनमे गुणात्मक परिवर्तन नही सा है। पश्चिम के साम्राज्यवादियो की छत्रछाया मे जो कुछ जैसा चल रहा था, बहुत कुछ वैसा ही चलाते चलने की आदत अभी बदली नही है बल्कि, दो बातें इस सबध मे दृष्टव्य है। अग्रेजो व फ्रासिसियो के घरो मे बात बहुत बदल गई है, वहा अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, नई अवधारणाओ, मान्यताओ के अध्ययन अध्यापन मे उत्साहपूर्वक भाग लिया जा रहा है बल्कि, आज विशेषत मार्क्सवादी अध्ययन की दिशा मे इन पश्चिमी इलाको मे सरकारी समाजवादियो की अपेक्षा कही अधिक रचनात्मक कार्य हो रहा है। उच्च कोटि की रचनाओ की सृष्टि हो रही है और नये-नये सप्रदायो की स्थापना हो रही है और उनके बीच हो रहे शास्त्रार्थ से "वादे वादे जायते तत्वबोध ।" अपने यहा अभी इन ऊटो को नया बताकर मैदान मे छोडने की बात तो दूर रही, इनके बारे मे सामान्य परिचय देने म भी हिचकिचाहट है। इसे दूर किया जाना चाहिए।

पश्चिम का पुराना बोझ वैसे ही राजनीति विज्ञान का पाठ्यक्रम ढोता आ रहा है। सभी समाज विज्ञान गणेशवदना की तरह अरस्तु व अफलातून से ही बातो का श्रीगणेश करते हैं और सारी ज्ञान गगा यूनान से बहाते चलते हैं। यह प्रथा दूर नही हुई है बल्कि, स्वाधीनता की लडाई के दौरान जो "राष्ट्रीय लहर" मे पुराने भारत की ओर कुछ रोशनी डाली जाती थी, कौटिल्य महाभारत का शाति पर्व, आदि प्राचीन भारतीय राजनीति के तौर पर पढाने का उपक्रम होता था, उसे भी राष्ट्रीयता की सनक कह कर अबके 'परिपक्व" दिमाग पाठ्यक्रमों मे स्थान देने के कायल नही रह गये। इतिहास अध्ययन मे तो 'प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक वाला वर्गीकरण अभी भी चल रहा है पर राजनीति विज्ञान वाला 'प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक वर्गीकरण अतर्राष्ट्रीय बना दिया गया है इस मायने मे कि जैसा यूरोप व अमेरिका के पाठ्यक्रम होते हैं, वैसा ही ढर्रा यहा भी है—जो बात अरस्तु से पहले की है, वह सब बकवास है।' मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जैसा अरस्तु ने कहा—"इस वेद वाक्य से राजनीति विज्ञान का अथ और अमेरिकी डेविड ईस्टन प्रभृति मे इसका "इति" हो

जाता है। यह स्थिति सोचनीय है। इसे बदलना चाहिए।

आजकल एक नारा खूब बुलद किया जाता है। नारा यह है कि हम तीसरी दुनिया के हैं तीसरी दुनिया की अमुक विशेषता है, अमुक समस्या है, इसका अमुक समाधान है, तीसरी दुनिया की एकता, उसकी पारस्परिकता और आपस मे मेलजोल की भावना वढाने पर जोर दिया जाता है—तीसरी दुनिया का अर्थशास्त्र, उसका मनोविज्ञान उसकी अपनी सचार और अय सामाजिक व्यवस्था इन सब के निर्माण के रास्ते जोडे जाते है। उसकी राजनीति को माजने का भी उपक्रम किया जाता है। कहा जाता है कि हमारा अपना एक अलग नजरिया होना चाहिए, तीसरी दुनिया वाला नजरिया, जिसके तहत हम बाकी दुनिया की बातो को देखे परखें। पर क्या इन सब बातो मे कुछ दम भी है ? व्यवहार मे देखते हैं तो यही मिलता है कि ज्यादातर पाखड है। कही कुछ तीसरे ढग की बात ही नही है। ज्यादातर तीसरी दुनिया के शासक यह नारा यूरोपीय साम्राज्यवाद की सडी गली विरासत को गले से लगाए हुए इन नारो को उठाते है, यूरोपीय क्रांतियो से उपजे नये "तत्वो", नये दर्शन, नई दृष्टि और समझ को नकारने के लिए। पूजीवादी शोषण व्यवस्था की सडी गली नीव डालकर उसपर ढाई ईंट का महल खडा करने का स्वप्न सजोये उन आँधियो से अपना बचाव करने का प्रबध करते हुए इन नारो के द्वारा एक छलावा, एक प्रवचना या मायाजाल फेंक कर बहुजनो को अपने हितो की सिद्धि के लिए सकल्पवान होने से रोकना चाहते है। इन आधी तूफानो के युग मे पुरानी सडीगली राजनीति की मोहक घुट्टी पिलाकर यह सिद्धि पाने का प्रयास चल रहा है। इसे हमे बदलना होगा।

इसमे एक बडी सच्चाई है कि एक तीसरी दुनिया है, एक ऐसी दुनिया जो न पहली की तरह है और न दूसरी की तरह, न उन्नत पूजीवादी साम्राज्यवादी दुनिया की तरह है, न सोवियत समाजवादी दुनिया की तरह। वह एक ऐसी कशमकश मे जी रही है जो इन दो दुनियाओ के बीच सहयोग और सघर्ष की अत प्रक्रिया के कारण पदा होती है। पर उस दुनिया मे है कौन ? सामा यत इसका बडा सरल वर्णन उपस्थित किया जाता है अर्थात् जो इन दो दुनियाओ के बाद की बची दुनिया है और जो मुख्यत अर्थ व्यवस्था के हिसाब मे बहुत

पिछडी हुई है। अर्थ वादी दृष्टि ही प्रधान है अर्थात जहा उत्पादन की मात्रा और औसतन उत्पादन और उपभोग की मात्रा बहुत कम है। जिनके पास पूजी, तकनीक और आधुनिकीकरण के अन्य उपकरण उस मात्रा और प्रकार के नही है जो अन्य दो मे है। पर क्या हम इस तीसरी दुनिया से चीन, वियतनाम, क्यूबा, अगोला, मोजाम्बिक, जिम्बावे को बाहर रखेंगे ? क्या वे दूसरी दुनिया का ही भाग हैं? चीन के नेता कभी ऐसा ही मानते थे जब वे पूरी दुनिया को दो शिविरो मे बटा मानते थे। आज दुनिया मे यदि कोई एक बडा देश विलग्न शक्ति के रूप मे उभर कर आ रहा है तो वह जनवादी चीन ही है। मेरी मान्यता है कि चीन एक अलग ही दुनिया है, कल भी था, आज भी है और कल भी बना रहेगा। ऐसा ही भारत का भी हाल होना चाहिए। कल तक तो स्पष्ट सभावना दीखती थी, आज धूमिल जरूर होती लग रही है पर मिटी नही और आशा है कि आगामी कल मे यह घटना चरितार्थ होगी कि भारत एक अलग दुनिया है। इसका अन्य कारणो के अलावा सबसे निर्णायक कारण है कि चीन हो या भारत, ये महादेश या महा राष्ट्र ही नही, एक अलग सृजनशील सभ्यता रहे है और इन सभ्यताओ का अपना इतिहास रहा है, अविच्छिन्न इतिहास, जिसकी न केवल स्मृति पूरी तरह जीवन्त है वरन उसके अनेक तत्व अभी भी जीवन्त है, मरे नही। खडहर हो गई इमारत के नीव के पत्थर अभी भी अपने ऊपर नई इमारत को पुष्ट आधार देने की क्षमता रखते हैं। भारत और चीन की आज की अनेक समस्याओ का एक सभ्यतापरक पहलू है जिसे नजरअन्दाज करके चलने से काम बनता नही, यह चीनी कम्यूनिस्टो ने एक महान क्रांति सम्पन्न करने के बाद निर्माण की अवस्था मे खूब अनुभव करके देख लिया। भारत मे अभी वैसी क्राति हुई नही पर 'चितकबरे साहबो" के वर्चस्व मे हिन्दुस्तान का दकियानूस महाजन वर्ग जिसने ईस्ट इडिया कपनी से साठगाठ कर पहले भी 'विदेशी तत्व" का प्रवेश आसान बना दिया था, आज फिर अतर्राष्ट्रीय पैमाने पर ऐसी साठ गाँठ कर इसे पहली दुनिया अर्थात पूंजीवादी साम्राज्यवादी दुनिया की ओर ढकेल रहा है और भारतीय सभ्यता के उन सभी मानवतावादी तत्वों को, जो मरे नहीं और जिन्होंने मौर्यकाल से, अशोक के युग से लेकर कम से कम हर्ष के

युग तक और उसके वाद भी एक लोक कल्याणकारी, लोकोन्मुख साहित्य, पर दु व्यकानर सहकारी और मानवीय समाज का निर्माण, दासना, अर्धसामन्ती और सामन्तीय परिवेश मे कर दिखाया था, जब कि इसकी समकालीन भारतेतर सभ्यताय जैसे यूनान, ईरान अरबी और रोमी यूरोपीय सभ्यताय इस प्रकार के मानवतावाद के वीज को धारण भी नही कर सकी। अरस्तु मान ही नही सकता था कि दास स्वाधीन हो सकते है और वे जीवन्त उपकरण के अलावा कुछ और है, ऐसी ही स्त्रिया के वारे मे व नगर राज्यो के वार मे पर उसके समकालीन कौटिल्य के विचार इस सदर्भ मे दृष्टव्य है, क्या अशोक का लोक कल्याणकारी राज्य का स्वल्पाश भी अगले एक हजार वष मे यूरोप मे कही दिखा ? सवसे वडा मजाक यह है कि हमारे चितकबरे साहव-शासक समय के इतने वड अतराल के वाद भी अशाक के धमचक्र को अपनाकर अपनी प्राचीन गौरव गाथा को सानिधानिक प्रवध से जोड गए, पर आगे वह पुरुषार्थ व कहा से लाए कि उस तरह के लाक कल्याणकारी राज्य की कोई हल्की फुल्की प्रतिकृति की नीव भी डालने की हिम्मत दिखा सके। अशोक चक्र को राष्ट्रीय झडे मे चिह्नित कर और राज्य मुद्रा मे सिह मूर्तिया लगाकर अपने आपको अशोक कालीन इतिहास तक प्राचीनो से जोडने की रस्म पूरी कर दी गई है, पर आज स्वाधीनता के आदोलन के दौरान जिन सपनो के भारत की वात उठाई जाती थी, कवीन्द्र रवीन्द्र और गाधी, भगतसिंह और अन्य क्रातिकारियो के सपने का भारत कहा खो गया ? व जिन्ह अग्रजा ने जाते जाते सत्ता का हस्तातरण किया उन्होने कैसा भारत अव तक वनाया है कि 68 करोड लोगा मे चालीस करोड भारत वासियो को दो वक्त भोजन भी उपलब्ध नही है और शासक दल है जो वडी वेशरमी से इस भूखे नग भारत को आशा बधाये जा रहे ह कि किसी तरह अभी जीवन की डोर खीचे चलो दस साल मे, पन्द्रह साल मे तुम्हारा पट भर देंगे। कौन हैं ये लोग जो ऐसा दु साहस करते है, और कौन हैं ये लोग जो इन दुष्कृत्यो के दमन और आतक म जीते है, असहाय हो उसके शिकार होते रहते हैं ? स्वाधीन भारत मे कैसा राज्य वना, किसके निमित्त वना, किसके हिताय चल रहा है, शासक कौन है, शासित कौन, भेद किस आधार का, किस प्रकृति का बनाया गया ? समाज मे स्पष्ट दिख रहा है कि शासक और शासित

वर्ग ढलते जा रहे है। शासक वर्ग है जो तय कर रहा है कि उत्पादन कैसे हो, उस पर किसका कब्जा हो, कैसे हो, उत्पादन की क्रिया कैसे संपादित हो, उसका फल कौन ले और कैसे ले और इन सब या इनमे से किसी बात पर झगडा हो तो कौन निपटाये और कैसे ? अपने अथ और इति के साथ राज्य रूपी यन्त्रतंत्र क्या इन संपूर्ण सामाजिक क्रिया कलापो से ऊपर या तटस्थ है, क्या वह शासक वर्ग का अपना यन्त्र तंत्र मात्र नही है ? यह और ऐसे ढेर सारे ज्वलंत प्रश्न हैं जो लाखो करोडो लोगो के मन को जाने अनजाने मे उद्वेलित कर रहे हैं।

यह संदर्भ है जो भारत मे राजनीति के अध्ययन को बहुत महत्व का बनाता है—आखिर जो राज्य हमारे सामने है, वह है क्या ? क्या है उसकी प्रकृति, उसका स्वरूप उसका समाज मे संबंध, उसका इतिहास वह किसका हित साधक है ? उसकी संरचना, उसके अंग प्रत्यंग कैसे ढलते हैं, बदलते हैं, इत्यादि। प्राचीनो की मान्यता थी कि राजा अर्थात् राज्य ही काल का निर्धारक है समय की दिशा और गति उसी से तय होती है ? ऐसी निर्णायक यन्त्र-तन्त्र व्यवस्था का सही अध्ययन बडे महत्व की बात होनी चाहिए, इसमे कोई संदेह नही।

हमारे विश्वविद्यालय और कॉलिज इस राज्य के अध्ययन को, उसे सर्वांगीण रूप मे वैज्ञानिक ढंग से आयोजित करने का दावा करते है। तभी उसे राजनीति विज्ञान कहते है। पर इस विज्ञान के अध्ययन को प्राचीनो के एतद्विषयक अध्ययन से जोडने की आवश्यकता कम ही समझी जाती है। जुडाव जो होता है वह यूनान और उनके अरस्तु प्रभृति विचारको से, हमारे विद्यार्थियो को रोम के चर्च मे और उसके इर्द गिर्द फैली राजनीति को भी बडे चाव से पढाया जाता है "अंध युग" की बात भी बताई जाती है, फिर कैसे यूरोपीय लोग प्रकाश के युग मे आए, पुनर्जागरण हुआ, धार्मिक सुधारो के आंदोलन हुए, मार्टिन लूथर और कालविन ने क्या योगदान किया और मैक्यावेलि स आगे लाया जाता है पर हिंदुस्तान के राजनीति के इस विद्यार्थी को जिसे अरस्तु और अलेक्जडर से तो परिचित कराया जाता है, पर उनके समकालीन मौर्य साम्राज्य के संस्थापको और कौटिल्य से अनभिज्ञ रखा जाता है—कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी क्या बताने लायक कोई शास्त्र है ? पर कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र मे

अपने पूववर्ती मम्प्रदायो यथा वृहस्पति, मनु इत्यादि का उल्लेख करते हैं। कौटिल्य के पूव भी राज्य चिंतन था, उनके परवर्ती भी विचारक थे, पर हमारे विद्यालयो को उससे वास्ता नही। ऐसा भी हो सकता है क्यो कि लोग राज्य बनाये और उसके सबध मे चिंतन न करे, विचार न करे ? अशोक और उसके पूर्वजो ने इतिहास प्रसिद्ध राज्य बनाया, नदो के साम्राज्य का वर्णन सुनकर सिकन्दर के सिपाहियो के हौसले पस्त हो गए थे, पर उसकी जानकारी हमारे विश्वविद्यालयो मे उस महत्व की नही मानी जाती, जिस महत्व को सिकन्दर और उनके गुरू की। यह कैसी विडबना है। यह हमारे राज्य के इस स्वरूप का उदघाटन करती है कि वह वस्तुत वृहद आग्ल अमेरिकी साम्राज्य का एक पिछवाडा भर है—हम जब अपने शासक वर्गो की खोज मे निकलते हैं तो खोज खत्म नहीं हो पाती जब तक हम लदन और वाशिंगटन न पहुच जाये। मार्क्स ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है 'प्रत्येक युग मे शासक वग के विचार होते हैं अर्थात जो वग समाज का शासक भौतिक शक्ति है, वही वग उस समय उसका शासक बौद्धिक भी होता है। जिस वग के हाथ मे भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं वही वग उस समय मानसिक उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण रखता है, इसलिए उसके द्वारा सामान्य रूप से, जिनके पास मानसिक उत्पादन के साधन नहीं हैं, वे शासक वग के अधीन रहते हैं"।

स्वाधीनता का अथ क्या रहा ?

स्वाधीनता के पूर्व इन सब बातो के लिए हम अंग्रेजी शासको को जिम्मेदार बताते थे और स्वाधीनता के बाद उन्हें जारी रखकर अब हम किसको दोषी ठहरायेंगे ? चाहे विज्ञान हो, चाहे समाज विज्ञान हो, हम कच्चे माल की खेती और उसके निर्यात के लायक ही माने जाते हैं, पक्का माल तो इगलैण्ड या अमेरिका से आयात होगा। हमारे डॉक्टर, हमारे इंजिनियर, हमारे वैज्ञानिक शिक्षा-दीक्षा यहा लेंगे लेकिन वे "पकेंगे" पश्चिम मे ही जाकर और बदले मे कुछ "विदेशी मुद्रा" आ जायेगी। यह क्या कम है ? आश्चर्य नही होता कि हमारे विश्वविद्यालयो और विद्यालयो के पाठ्यक्रम माध्यम और फैशन पर मुखापेक्षी हो गए हैं, अपनी जरूरत के हिसाब से न अध्ययन का और न पाठ्यक्रम का ही सयोजन है, न उसे पश्चिम के अलावा कोई अन्य दृष्टि से देख पाने का थोडा भी प्रयास। वे पढते हैं और

जसे पटते है, जो दृष्टि विकसित करते हैं इन मत्रम निष्णात होना हमारे जीवन की चरम सिद्धि बन गई है। उनके लिए जो बाहर जाकर वही मच-पच जाने की तैयारी मे है, यह मान भी लिया जाए कि यह एक आवश्यकता बन गई है, औरो के लिये, ऐसा प्रबन्ध क्यो हो, उन्हे यही रहकर भी विदेशो के लिए उपयुक्त कच्चा माल ही क्यो बने रहना है ? ये सारी बाते हमारे शासक वर्ग के मूल चरित्र को ही उद्घाटित करती है जिसकी पश्चिमी पूंजीवादी मूल्यो पर निर्भरता उसके स्वभाव का अग और एक परम्परा बन गई है भले ही वह कितनी लज्जाजनक क्यो न हो। पश्चिम के 'सर्टीफिकेट' पर वह कब नही न्यौछावर हो जाता ?

इस बिगडे माहौल मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अनुकपा से हमे एक अवसर मिला जिसका लाभ उठाने का हमारा प्रयत्न इन पाठ्य पुस्तको के रूप मे प्रकट हो पा रहा है। यह प्रयत्न कितना सफल और सार्थक बना है कितना नही बना, यह तो हमारे विद्यार्थी और सुधी पाठक तय करेंगे पर हमारे विभाग के दो युवा प्रतिभाओ ने, इस दिशा मे निष्ठा और साहस के साथ यह उद्यम किया है। इस पुस्तक के प्रथम नौ अध्याय जैतली ने लिखे हैं और शेष अध्यायो के रचयिता है—ब्रजमोहन शर्मा,। शैली वसे तो नितात व्यक्तिगत विशेषता है, पर पूरे ग्रथ के पारायण के बाद ऐसा कुछ लगता नही कि अलग-अलग शैली मे लिखी, ये रचनाये है और मेरी दृष्टि मे सबसे सराहनीय बात यह रही है कि लेखको ने भारतीय सदर्भ की अनदेखी नही की। उन्होने पुराने सूत्र ढूढे है और उनसे नये सूत्रो को जोडने का प्रयत्न किया है ताकि, राजनीति विज्ञान का अध्ययन एक "निर्मूल वातावरण" मे किया जा रहा अध्ययन न बन जाये यथा 'राजनीति विज्ञान के पारिभाषिक सदर्भ सबधी यह चर्चा तब तक अधूरी रहगी जब तक इसमे भारतीय राजनीतिक चिंतन का समावेश न किया जाए।'

बात भारतीय चिंतन से शुरू कर पाना अभी भी कठिन लगता है, पर उसका समावेश किसी स्तर पर कर दिया गया, यह भी आज के माहौल मे कुछ कम नही है। जैन विद्वान सोमदेव सूरि ने राज्य के लिए "धर्मार्थ फलाय राज्याय नम धर्म और अर्थ की प्राप्ति जिससे होती है उस राज्य को नमस्कार है—धर्म से क्या अभिप्राय है यहा—

और सवत्र ही ? इसकी चर्चा होनी चाहिए, खासकर तब जब हम सवज्ञ डेविड ईस्टन की यह परिभाषा "नई" खोज के रूप मे देते है कि राजनीति विज्ञान किसी समाज मे मूल्यो के ऐसे आधिकारिक आवटन का अध्ययन है जो अपनी मूल प्रकृति मे सपूण समाज के लिए बाध्यकारी है ? (पृ 4) धम सस्थापना का अर्थ इससे भी व्यापक रहा है जो राज्य की प्रमुख जिम्मेदारी मानी गई है। इसी तरह जैतली ने स्थल-स्थल पर प्राचीन भारतीय सदर्भ मे जा विषय सामग्री की जाच की है उसने पुस्तक की उपादेयता बढा दी है। मुझे यह बहुत अच्छा लगा कि उन्होने धम निरपेक्षता को पश्चिमी और भारतीय सदर्भो मे देखा परखा और अशोक के लाक कल्याणकारी राज्य का स्वरूप उद्घाटित करते हुए, उसे सही सदभ दिया इसके अलावा, पश्चिम राज्य सबधी अधुनातन विचारो से परिचित करने की दिशा मे इस पुस्तक की उपयोगिता असदिग्ध हो गई है।

सहयोगी रचनाकार शर्मा का कृतित्व दसवे अध्याय से प्रारभ होता है। उन्होने उपयुक्त प्रयास को अपनी लेखनी से और परिपुष्ट किया है जबकि लोकतत्र हो या अवधारणाय या शासन प्रणालिया हो, उन्हे व्यापक सदभ मे रखकर उसका सागोपाग विश्लेषण प्रस्तुत किया है। ऐसा करते हुए उन्होने प्राचीन भारतीय, पश्चिमी बुजुआ और साम्यवादी सदभ के अतिरिक्त, तीसरी दुनिया के सदभ मे बातो को रखकर उसका विश्लेषण करने का प्रयास किया, जिसे मै बहुत कुछ एक सफल प्रयास कहूगा। सबसे बडी कमी जो इस रचना मे रह गई है, वह है 'राज अर्थ शास्त्र' वाली दृष्टि से भी 'राज्य' और तत्सबधी विषय की छानबीन न कर पाना। यह एक ऐसी कमी है जो अखरती है, पर इसे अगले सस्करण मे ठीक किया जा सकेगा ऐसी आशा है।

लेखक और सपादक दोनो को ही यह अनुभूति सालती है कि जैसा वे चाहते थे, वसी रचना नही हो पाई बहुत थोड समय मे मई के तीसरे सप्ताह से जून के तीसरे सप्ताह तक पहला प्रारूप तैयार करने मे कुछ जल्दबाजी हो ही गई, पर यह एक विवशता भी थी। फिर भी जो कुछ बन पडा है उसके प्रति सुधी पाठक, विद्यार्थी और विशेषत आलाचक सहानुभूतिपूण रूप अपनायेगे, यह आशा हमे सहारा देती रही है। त्रुटियो और अभावो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर ऐसे आलो-

चक हमारा बडा उपकार करेंगे और हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि इन अभावो को यथाशक्ति दूर कर और त्रुटियो का माजन कर हम अपने अगले सशोधित सस्करण को पेश कर उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता का ज्ञापन करने से नही चूकेंगे। अभी तो हम उनके आशीर्वचन की प्रतीक्षा मे रहेंगे।

—सम्पादक

अध्याय 1

राजनीति विज्ञान परिभाषा, प्रकृति, स्वरूप व क्षेत्र

राजनीति विज्ञान का अध्ययन आज के सदभ मे पहले की अपेक्षा एक ओर जहा अत्यधिक महत्वपूण है वही दूसरी ओर वह अत्यन्त जटिल भी है। राजनीति विज्ञान का महत्त्व इस तथ्य से प्रकट होता है कि आज राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय—दोना प्रकार की राजनीति को समझने के लिए आवश्यक है। प्रक्रिया के अध्ययन से ही वास्तविक राजनीति व उसके पाश्व-तत्वा की थाह पाई जाती है और स्फुट राजनीतिक घटनाओ को एक परिप्रेक्ष्य म ढाला जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य के सदभ मे प्रक्रिया से आधार ग्रहण करते हुए राजनीतिक सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है। लगातार होने वाली राजनीतिक घटनाओ के प्रकाश म राजनीतिक सिद्धात की सत्यता निर्धारित करने व सिद्धात के रूप आकार मे परिवतन का सिलसिला भी चलता रहता है। स्पष्ट है, राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन व विश्लेपण राजनीति विज्ञान द्वारा ही हो सकता है और राजनीतिक घटनाओ को उसी के द्वारा व्यापक सदभ प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से पहले की अपेक्षा आज राजनीति विज्ञान राजनीति व राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति समझ उत्पन्न करने मे अधिक सक्षम है।

राजनीति विज्ञान की जटिलता उसके अति व्यापी रूप व उससे उत्पन्न

स्वरूप एव प्रकृति से जुडी हुई है। आज राजनीति विज्ञान 'राजनीतिक' व 'गैर राजनीतिक' दोनो प्रकार के तत्वो से सम्बन्धित है। राजनीतिक तत्व प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक प्रक्रिया को सचालित करते हैं और इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान के अन्तगत राज्य सरकार, सरकारी सस्थाओ, चुनाव प्रणाली व राज नीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। गैर-राजनीतिक तत्व अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक प्रक्रिया को चलाने मे योगदान देते हैं और इस कारण राज नीति की सही समझ इनको समावत करके ही प्राप्त की जा सकती है। इसी उद्देश्य स राजनीतिक अध्ययन मे समाज अथ व्यवस्था, धम, सस्कृति, भूगोल, विज्ञान व तकनीकी मनोविज्ञान व इतिहास सरीखे सहयोगी-तत्वो को पर्याप्त महत्व दिया जाता है। राजनीतिक व गैर-राजनीतिक तत्वो के सम्मिलित प्रभाव ने जहा राजनीति विज्ञान को एक विषय क रूप मे व्यापक बनाया है वही उसने उसके सम्मुख अस्तित्व की 'स्वायत्तता का सकट' भी उपस्थित किया है। इसी के परिणामस्वरूप अक्सर राजनीतिक अध्ययन व विश्लेषण कभी अथशास्त्र की प्रधानता प्रकट करते हैं कभी समाजशास्त्र की कभी उन पर धम व सस्कृति हावी होती दिखाई देती है तो कभी मनोविज्ञान व भूगोल। विषयो की इस परस्पर खीचातानी ने एक ओर नए विषय प्रकट किए हैं जसे राजनीतिक अथ शास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक सस्कृति व भू राजनीति तथा दूसरी ओर उसने राजनीति विज्ञान के विशिष्ट रूप, परिधि व कलेवर को चुनौती भी प्रस्तुत की है। उदाहरण के लिए राजनीतिक अथ-शास्त्र म राजनीति विज्ञान प्रधान है अथवा अथशास्त्र। यदि दोनो समान महत्त्व-शाली हैं तो उनके समानुपाती महत्त्व के क्या आयाम है। इन प्रश्नो पर आम सहमति दुलभ प्रतीत होती है और अक्सर यह देखने म आता है कि राजनीति शास्त्री जहा 'राजनीतिक' की ठास प्रतिष्ठा करता है, वही अथशास्त्री 'आर्थिक' तत्वो का वचारिक डका बजाता है। लगभग यही स्थिति अन्य सदभो मे भी लागू होती है। इस द्वधाभास ने राजनीतिक अध्ययनों के माग म जटिलताए पैदा की हैं। एक ओर जहा आज सभी राजनीतिक घटको की सवर्धित भूमिका के प्रति आश्वस्त हैं तो वही दूसरी ओर व 'राजनीतिक' क्या और कितना है, इसके प्रति सशयास्पद भी दिखाई देते हैं।

राजनीति विज्ञान को मिल रही इन चुनौतियो के समुचित ससाधन के लिए यह आवश्यक है कि उसके पारम्परिक व आधुनिक परिप्रेक्ष्यो के सदभ मे उसका अध्ययन व विवेचन किया जाए बिखरे सूत्रो को सकलित किया जाए उपेक्षित पक्षो को तरजीह दी जाए और अस्पष्ट व भ्रामक रूप व आकार को विश्लेषण व समझ की छनी से और तराशा जाए। इसी दृष्टि से राजनीति विज्ञान की परिभाषा प्रकृति, स्वरूप व क्षेत्र इत्यादि समायोजित किए जा रहे हैं।

पारिभाषिक सदर्भ

राजनीति विज्ञान की विविध परिभाषाओ को दो व्यापक सदर्भों म देखा परखा जा सकता है—पारम्परिक व आधुनिक। कालक्रम की जटिलताओ मे न जाते हुए यहा केवल यह स्पष्ट करना पर्याप्त होगा कि पारम्परिक सदभ राज्य प्रधानता का परिचय देता है जबकि आधुनिक सदभ प्रक्रिया प्रधानता का। ये स्थितिया परिभाषा सम्बन्धी उदाहरणो से भलीभाति प्रकट हो सकेंगी।

राजनीति विज्ञान की पारम्परिक परिभाषाए ब्लुशली, गैरिज, पॉल जेनेट, डिमॉक, गिलक्राइस्ट आदि लेखको से प्राप्त होती है। ब्लुशली के अनुसार राजनीति विज्ञान राज्य से सबधित एक ऐसा विज्ञान है जो राज्य की आधारभूत स्थितियो, उसकी अनिवाय प्रवृत्ति, उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूपो व उसके विकास को समझने का प्रयास करता है। गैरिज की यह मान्यता है कि राजनीति विज्ञान राज्य को शक्ति की एक सस्था के रूप म ग्रहण करता है और ऐसा करते हुए वह उसके सम्बन्धो, उत्पत्ति, वातावरण व पृष्ठभूमि, विषय, नैतिक महत्त्व, आर्थिक समस्याओ, वित्तीय पक्षो व उसके लक्ष्यो की सम्पूणता को स्वीकार करता है। पॉल जेनेट का यह विचार है कि राजनीति विज्ञान समाज विज्ञानो का वह अश है जो राज्य व सरकार के सिद्धान्तो का अध्ययन व विश्लेषण करता है। इसी प्रकार डिमॉक की दृष्टि मे भी राजनीति विज्ञान राज्य व उसके माध्यम—सरकार से सम्बन्धित है। गिलक्राइस्ट के विचार मे भी राजनीति विज्ञान राज्य एव सरकार की सामान्य समस्याओ की विवेचना करता है।

राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित ये पारम्परिक परिभाषाए निम्न प्रवत्तिया इगित करती हैं—

1 अपने पारम्परिक सदभ मे राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार अथवा दोनों का अध्ययन करता है,
2 राजनीति विज्ञान का राज्य विषयक अध्ययन मूलत सस्थात्मक है क्योंकि उसमे केन्द्रीय महत्त्व राज्य अथवा सरकार का है। अन्य तत्त्व मात्र सायोगिक हैं।
3 राजनीति विज्ञान का यह अध्ययन औपचारिक रूप से राजनीतिक सस्थाओ का अध्ययन करता है और ऐसा करते हुए वह राज्य के सविधान मे निहित कानूनी वास्तविकता को अध्ययन का आधार बनाता है, तथा
4 पारम्परिक राजनीति विज्ञान सम्बन्धी धारणाओ म राजनीति का प्रक्रियात्मक आभास नही मिलता बल्कि, राजनीति राज्य स सम्बन्धित नीतियो की ही परिचायक होती है।

राजनीति विज्ञान की आधुनिक अवधारणाओं की दृष्टि से जार्ज केटलिन, डेविड ईस्टन, हरोल्ड लासवेल व केपलन विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान सम्बन्धी अपने कथ्यों में राजनीति के वास्तविक एवं व्यावहारिक सदर्भों पर बल देते हुए उसे शक्ति, प्रभाव, राजनीतिक औचित्य एवं सत्ता का अध्ययन माना है। केटलिन ने राजनीति विज्ञान को 'शक्ति-विज्ञान' के रूप में निरूपित किया है।[1] लासवेल व केपलन एक आनुभविक खोज के रूप में राजनीति विज्ञान को शक्ति के निर्माण एवं सहभाग का अध्ययन मानते हैं। प्रक्रियात्मक सदर्भ को और अधिक स्पष्ट करते हुए डेविड ईस्टन का यह विचार है कि राजनीति विज्ञान किसी समाज में मूल्यों के ऐसे आधिकारिक आवटन का अध्ययन है जो अपनी मूल प्रकृति में सम्पूर्ण समाज के लिए बाध्यकारी हैं।[3] इसी प्रकार, हस्जार व स्टिवेन्सन का यह विचार है कि राजनीति विज्ञान अपने अध्ययन-क्षेत्र में प्राथमिक रूप से व्यक्तियों के पारस्परिक व सामूहिक तथा राज्य एवं राज्यों के मध्य प्रकट शक्ति-सम्बन्धों से सम्बन्धित है।[4]

राजनीति विज्ञान की आधुनिक परिभाषाएं प्रमुख रूप से यह स्पष्ट करती हैं कि—

1 राजनीति विज्ञान वास्तव में 'राज्य के विज्ञान' की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण रूप से 'राजनीति का विज्ञान' है। उसकी विषयगत उपयोगिता इस तथ्य पर आधारित है कि राजनीति का विज्ञान परक समझ से राज्य व अन्य सस्थाओं के वास्तविक क्रियाकलापों को समझने में सहायता मिलती है क्योंकि राजनीति ही व्यक्ति, समाज सरकार आदि को सचालित करती है और स्वयं उनसे सचालित होती भी है

2 राजनीति की समझ राजनीति के बुनियादी तत्त्वों की थाह पाकर अधिक उपयोगी रूप से पाई जा सकती है। इसी दृष्टि से राजनीति का समझने के लिए व्यक्ति समाज, अर्थव्यवस्था मनोविज्ञान, धर्म संस्कृति इत्यादि को समझना व उनके राजनीतिक योगदान का आकलन करना आवश्यक प्रतीत होता है। राजनीति से सम्बधित बहु विषयक दृष्टिकोण (Multi disciplinary approach) इसीलिए प्रासंगिक है

3 राजनीति शक्ति व प्रभाव से चलती व फलती है। इसलिए इन तत्वो का पर्याप्त अनुसधान आवश्यक है, तथा

4 राजनीति की प्रक्रियात्मक्ता सैद्धातिक आधार पर ही नही टिकी रहती उसको समझन के लिए व्यक्ति व समाज का वास्त विक व्यवहार व इस दृष्टि से व्यवहारवादी अध्ययन व शोध विशेष उपयोगी है।

राजनीति विज्ञान से सबधी पारम्परिक व आधुनिक दोनो सदभ अपने आप म एकागी सत्य उद्घाटित करत हैं। पारम्परिक सदभ जहा औपचारिक-कानूनी सत्य को एकमात्र व अतिम मानता है वही आधुनिक सदर्भ प्रक्रियात्मक रूप से शक्ति, प्रभाव आदि का निर्णायक रूप से अतिम मानता है। महत्वपूर्ण रूप से यह ध्यान रखना चाहिए कि राजनीति का निर्धारण औपचारिक व न अनौपचारिक सस्थात्मक व गर सस्थात्मक वचारिक व व्याव हारिक आदि समस्त तत्वा एव कारणो पर निभर है। इनमे से किसी भी एक तत्व की अनुपस्थिति राजनीति को अधूरापन प्रदान करती है। अत पारम्परिक या आधुनिक मे से किसी एक को चुनन का अभ्यास बिल्कुल गलत है। आधुनिक तत्वा का निर्माण वास्तव म पारम्परिक अनुभवा पर आधारित होता है, इस कारण आधुनिक तत्व यदि वास्तविक हो तो ये पारम्परिक तत्वो का सहज विकास होते है, उनका वे निषेध नही करत। परम्परा से कट हुए तत्व आधुनिक हो नही सकत। दुर्भाग्य से राजनीति विज्ञान की दुनियाँ मे नएपन की आधी ने पुराने थोपड-पट्टे को तो उडाया लेकिन गनीमत यह थी कि वह पुरान अवशेषो को अपने साथ नही उडा ले जा सकी। राजनीति विज्ञान के 'नए व्यवसायियो ने नई स्थापना की दृष्टि से विशाल भूखण्ड प्राप्त किया लेकिन स्थापत्य मे नौसिखिएपन ने उन्हे बिखरे हुए पुराने तिनको को जोडने व बीनने के लिए विवश कर दिया ताकि, वे पुराने स्थापत्य नमूनो का पुनरावलोकन करके नया नक्शा तैयार कर सकें। यह अनुभव परम्परा व आधुनिकता के मध्य सतत-अकाट्य सबधो की पुष्टि करता है।

राजनीति विज्ञान के पारिभाषिक सदभ सम्बन्धी यह चर्चा तब तक अधूरी रहेगी जब तक इसमे भारतीय राजनीतिक चितन का समावेश न किया जाए। भारतीय चितन की अनिवार्यता इस सदभ मे उल्लिखित है कि यहा परम्परा व

आधुनिकता के बीच खाई नहीं खोदी गई बल्कि, उनको उनके सहज विकास क्रम म देखने परखने का प्रयास किया गया। विचारो व बौद्धिक याजनाआ की सव-श्रेष्ठता का मापदण्ड उनकी कालातीत प्रासंगिकता था। इसीलिए भारतीय चिंतन म ठास धरातल की चचा करते हुए भी दिक् व काल को कभी विस्मत नहीं किया गया। राज्य राजनीति व राजनीति विज्ञान सम्बधी भारतीय अवधारणाए भी इस सामान्य सत्य का अपवाद नहीं हैं। यूरोपीय काल क्रम व उसस उत्पन्न चेतना से काफी पहले भारत मे अथशास्त्र परम्परा के अन्तगत राज्य को उसके विविध सघटको के सदभ म देखा परखा गया था। यह माना गया कि राज्य निम्नलिखित सात इकाइया के योग से बनता है—सम्प्रभु शासक, राज्य-कार्मिक, ग्रामीण क्षेत्र, शहरी क्षेत्र, राजस्व, सेना व विदेशी सहयोगी। कौटिल्य ने इन सघटक इकाइया मे विभेदीकरण व एकीकरण की दुहरी आवश्यकताओ को स्वीकार किया और तत्सबधी सिद्धात निर्मित किया। सरकार के सम्बध मे कौटिल्य ने तीन स्तरो पर अपने विचार प्रतिपादित किए—शासक राज्य कार्मिक वग तथा प्रशासन सम्बधी व्यवस्थाए एव उपकरण। कौटिल्य ने शासक को सम्पूर्ण प्रशासनिक ढाचे का सूत्रधार माना और यह मत व्यक्त किया कि शासक ही विभिन्न वर्गो की नियुक्ति करता है उनम कायकारी समन्वय स्थापित करना है, उनकी त्रुटियो का निराकरण करता है और यह सब करते हुए वह प्रशासनिक व्यवस्था को एक निश्चित आकार प्रदान करता है (कोई भी सरकारी अध्यक्ष आज भी इन कार्यों एव गतिविधियो से अछूता नहीं रह सकता)। कार्मिक वग इसलिए आवश्यक है क्योकि एक पहिया अकेला गाडी नहीं चला सकता। एक शासक का शासन, चाहे कितना भी सक्षम क्या न हो वह प्रशासन की समकालिकता सुरक्षित नहीं रख सकता। सरकारी आदेशो व आज्ञाओ के क्रियान्वयन के लिए विविध स्तरो पर अमात्य वग आवश्यक है। ये अमात्य केन्द्रिय सत्ता के अधीन सरकारी आदेशा आदि को लागू करते हैं और ऐसा करते हुए वे राज्य व शासक दोना को मजबूती देते है (वतमान समय मे शक्ति के विकेन्द्रीकरण सघवादी राजनीतिक ढाचे व शासन के निजीकरण की अपेक्षा उसके सघीकरण सम्बधी आग्रह का भी यही तक-सार है)। प्रशासनिक व्यवस्थाआ एव उपकरणो की दृष्टि से कौटिल्य न अथ शास्त्र म यह प्रतिपादित किया कि केन्द्र सरकार को राजस्व एव रक्षा-व्यवस्था अपने पास रखनी चाहिए, प्रशासनिक विभागो के अध्यक्षो की नियुक्ति व उनके कार्यों की देखरेख करनी चाहिए तथा सनिक-व्यवस्थापन की दृष्टि से विभिन्न सेनाओ के अगो के पथक सेनाधिकारी नियुक्त करन चाहिए ताकि, रक्षा व्यवस्था सक्षम हो सके और सेना म विद्रोह आदि की सम्भावनाआ का क्षीण किया जा सके (निस्सदेह ये समस्त प्रशासनिक व्यवस्थाए व उनके सम्प्रेरक आज भी प्रासंगिक हैं। केन्द्रीय व प्रातीय सरकारा म कार्यों

का बटवारा, प्रशासनतन्त्र पर लोकप्रिय सत्ता का अकुश व पृथक् सेनाओ के पृथक् अध्यक्षो की व्यवस्था इन सिफारिशो की आज भी पुष्टि करती है)। राज्य को उसके धर्म व राजनय दोनो से जोडने का प्रयास, राज्य कार्यों म साम, दाम, दण्ड व भेद की नीतियो के विकल्प आदि भारतीय राज्य व राजनीति की अवधारणाओ का अत्यधिक समृद्ध करते हैं।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति व स्वरूप

राजनीति विज्ञान की प्रकृति व उसका स्वरूप वास्तव मे विषय के ऐतिहासिक विकासक्रम से जुडा हुआ है। प्रारम्भ म राजनीति विज्ञान वस्तुत राजनीतिक दर्शन चरितार्थ करता था। प्लेटो ने न्याय, दार्शनिक राजा, आदर्शवादी साम्यवाद आदि की कल्पना की और उन कल्पनाओ के आधार पर राजनीतिक सर्वश्रेष्ठता का अपना क्रम निर्धारित किया। अरस्तु न यद्यपि आनुभविक आधार पर राज्यो का वर्गीकरण किया लेकिन एक मानक के रूप म उसने सांविधानिक शासन के आदर्श को स्वीकार किया। मेक्यावेलि ने अपनी सामयिक परिस्थितियो के अनुसार राज्यो के एकीकरण व तदुपरात उनकी सुदढता व विकास के मानक को स्वीकार किया और इस दृष्टि से शक्ति को राज्य का आधार माना और सफलता को राजनीतिक क्रियाओ की श्रेष्ठता का मापदण्ड। ये उदाहरण इसी प्रकार और आगे बढ़ाए जा सकते है। राजनीतिक विचारो व दर्शन के प्रभाव स पारम्परिक राजनीतिक विज्ञान की प्रकृति मूलत ये प्रस्तावित करती है—

1 पारम्परिक राजनीति विज्ञान कुछ कल्पित गुणो, मानको अथवा आदर्शों को स्वीकारते हुए राजनीति का मानदण्डात्मक प्रकृति प्रदान करता है। ऐसी स्थिति म राजनीति 'क्या होना चाहिए' को प्राथमिकता देती प्रतीत होती है न कि क्या वास्तव मे है,

2 दर्शन पर आधारित होने के कारण पारम्परिक राजनीति विज्ञान म राजनीति की समन्वित रूप योजना स्वीकार की जाती रही है और राजनीति को अधिकाधिक रूप से धर्म दर्शन नैतिकता, संस्कृति और यहा तक कि समाज, अर्थव्यवस्था आदि से समझने-समझाने का यत्न किया जाता रहा है। इसका अर्थ यह बिलकुल नही है कि वह समकालीन राजनीति की भाति अन्तर्विषयक या बहुविषयक दृष्टिकोण पर आधारित है क्योंकि तत्कालीन राजनीतिक अवधारणा इन सब की कल्पित व इस आधार पर निरूपित स्थितियो का परिणाम थी न कि ठास आनुभाविक आधार का,

3 इस राजनीति के अध्ययन की मूल पद्धति कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़कर मूलत कल्पित आदर्श के सत्य से सिद्धांत निर्माण की ओर उन्मुख रही है जिसे उपयुक्त रूप से निगमनात्मक पद्धति (Deductive method) कहा जा सकता है।

आधुनिक राज्य-व्यवस्था की स्थापना व राष्ट्र राज्य के यूरोपीय प्रतिमान मे राजनीतिक विकास-क्रम की दूसरी प्रमुख अवस्था प्रकट की और उसके सदर्भ मे राजनीतिक प्रकृति मे भी बदलाव उपस्थित हुआ। 16 वी शताब्दी व उसके उपरात विकसित इस राजनीति विज्ञान ने परिवर्तित राजनीतिक प्रकृति का निम्न प्रतिमान उपलब्ध कराया—

1 राजनीति विज्ञान की प्रकृति सिमट कर सस्थात्मक हो गई और राज्य एक बुनियादी सस्था के रूप में केन्द्रीय महत्त्व पाने लगा जबकि सरकार उसके मूतरूप मे शासन प्रब ध स सम्बधित आधिकारिक सस्था के रूप म उभरी। गानर, गटिल गिल क्राइस्ट आदि विचारक अपनी राज्यपरक व्याख्याओ क लिए सुविख्यात हैं।

2 राज्य एव सरकार का सस्थात्मक अध्ययन अपनी प्रकृति म कानूनी व औपचारिक था। औपचारिक इस आधार पर क्योकि वह जैसा दिखाई देता था वही महत्वपूर्ण व प्रामाणिक माना जाता था, उसकी प्रकट रूप योजना क परे देखने भालन का यत्न प्राय अनुपस्थित था। उसकी कानूनी प्रकृति इस तथ्य पर आश्रित थी कि सस्थाओ का परिचय देश के कानून अथवा सविधान मे निहित था और इस कारण सावैधानिक रूप एव प्रकृति अतिम निर्णायक थी। ब्रिटिश प्रधानमत्री अथवा अमरिकी राष्ट्रपति अपने-अपने सावैधानिक सन्दर्भ म ही श्रेय थ, उनके अतिरिक्त उनको देखने भालने की कोई व्यवस्था नही थी

3 यूरोपीय इतिहास व ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुरूप राज्य का मूल उद्देश्य आत्म-स्थापना व आत्म विकास था और इस दृष्टि से राज्य शक्ति व सत्ता समाज म व्यवस्थापन के काय को ही समर्पित थी। परिणामत राज्य एक पुलिस राज्य था—कानून और व्यवस्था का नियामक और उसका यह काय सामाजिक व्यवस्था के लिए अपरिहाय माना जाता था। राजनीति की राज्य काम क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं थी। राजनीति वहीं देखी परखी जाती थी जो कि राज्य क्रियाओं से प्रासगिक

थी। ऐसी स्थिति म राजनीति विज्ञान राज्य व सरकार अथवा दोनो का समन्वित अध्ययन ही हो सकता था

4 वैचारिक दृष्टि से व्यापकता का आभास देने वाली विचार योजनाए जैसे आदर्शवाद व इतिहासवाद वास्तव म राज्य व तत्सम्बधी विचारधाराओ की ही व्याख्या करती थी। आदर्शवाद राज्य की अनिवार्यता व मागलिकता स्पष्ट करता था जबकि इतिहासवाद इतिहास के दर्शन को गढते हुए व इतिहास के मूल तत्त्व को सजोकर राज्य व प्रचलित विचारधारा (उदाहरणार्थ उदारवादी लोकतन्त्र) की समर्थक व्याख्याए प्रस्तुत करता था। हेगल जहा आदर्शवादी व्याख्याता के रूप मे प्रकट होता है वही आर्नल्ड टॉयन्बी न ए स्टडी ऑव हिस्टरी म इतिहास दर्शन का परिमार्जन किया है।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति का समसामयिक सदर्भ यद्यपि अपने बीज रूप म बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही विद्यमान था और व्यवस्था विश्लेषण व्यवहारवादी आदि वचारिक व्यवस्थाए इस दौरान अकुरित हुई थी लेकिन उसका वतमान व्यवस्थित रूप द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरात प्रकट हुआ है। आज राजनीति विज्ञान की प्रकृति निम्न प्रवृत्तियो म सहज समझी जा सकती है—

1 राजनीति विज्ञान अपन समसामयिक सदर्भ म आनुभविक प्रकृति प्राप्त है। इसका अभिप्राय यह है कि अनुभूति की प्रामाणिकता राजनीतिक सत्य निर्धारित करती है न कि किसी कल्पित धारणा द्वारा राजनीतिक सत्य उदघाटित होता है,

2 आज राजनीति विज्ञान आनुभाविक होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी है। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से अनुभवजन्य सत्य का निखारा-तराशा जाता है और उसके उपरात सिद्धात निर्माण अभ्यास सयोजित किए जाते है। राजनीति की दुनिया मे भी कार्य-कारणत्व (causality) प्रासगिक है और उसके सदर्भ म राजनीतिक घटनाओ व उनकी पुनरावृत्ति की व्याख्या की जाती है

3 राजनीति की वैज्ञानिकता उसके वास्तविक व्यवहार के अध्ययन पर निर्भर है। इस दृष्टि से राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन आज केन्द्रीय महत्त्व रखता है। इसके अन्तगत प्रक्रिया को निर्धारित करने वाले तत्त्वो व उससे निर्धारित होने वाले तत्त्वों, दोनो

का सिलसिलेवार अध्ययन विश्लेषण किया जाता है। राजनीतिक प्रक्रिया को समझने के लिए शक्ति, प्रभाव, सत्ता की प्रकृति, व्यक्तियो के वशेषिक गुण व उनका वास्तविक व्यवहार, समाज, धम, नैतिकता आदि की पर्याप्त विवेचना आवश्यक है। राजनीतिक सस्थाए भी प्रक्रिया के हिस्से के रूप म प्रचलित हैं। वे राजनीतिक प्रक्रिया से सचालित होती ह और तदुपरात उस सचालित भी करती हैं इस दृष्टि से औपचारिक कानूनी दृष्टिकोण अपर्याप्त प्रकट होता है और राजनीति की अनौपचारिकताए उसकी पर्याप्त पूरक बनकर उपस्थित होती है। आज यह सर्वविदित है कि कानूनी यथाथ व वास्तविक यथाथ दोनों के समन्वय से ही राजनीतिक यथाथ प्रकट हो सकता है और उसकी वज्ञानिक विवेचना की जा सकती है,

4 वर्तमान राजनीति विज्ञान अन्तर्विषयक अथवा बहुविषयक दृष्टिकोण पर आधारित है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानो की भाति समाज विज्ञानो म भी ज्ञान का एकीकरण प्रकट हुआ है और राजनीति की समझ समाजशास्त्र, अथशास्त्र मनोविज्ञान दशन, इतिहास आदि के समन्वित उपागमों स ही अर्जित की जा सकती है,

5 व्यक्ति का व्यवहार राजनीतिक व्यवहार निर्धारण की एक ठोस इकाई मानी जाती है। राजनीति के व्यवहारवादी आग्रह न व्यक्ति के व्यवहार के अध्ययन की उपयुक्ततम वैज्ञानिक तकनीकें ईजाद की। एक समय ऐसा भी आता दिखाई दिया जब वज्ञानिकता अध्येताओ क सिर पर चढकर बोलन सी लगी। अति वैज्ञानिकता के आग्रह ने व्यवहारवादी क्रम में राजनीति व समाज की लगभग यात्रिक व्याख्याए उपलब्ध कराई और ऐसा लगा कि मानो वज्ञानिकता राजनीतिक उपयुक्तता का स्थान ले लेगी। इस व्यतिक्रम से बचाव स्वरूप अब दशन व विज्ञान दोनो को समन्वित करके देखन का यत्न किया जाता है, 'चाहिए' और 'है' की दूरी पाटी जान की कोशिश की जाती है और यह अपेक्षा की जाती है कि आदश व मानक वास्तविकता को निर्धारित करें और उस निर्धारण की वज्ञानिक व्याख्या वज्ञानिक पद्धतियो तकनीको आदि से उपलब्ध कराई जाए।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति की विविध अवस्थाओं व उनक अन्तराल म यूरोपीय प्रतिमानों से बिलकुल अलग भारतीय सदभ राजनीतिक प्रकृति का एक

अलग प्रतिमान उपलब्ध कराता है। भारतीय सदर्भ मे राजनीति विज्ञान व राजनीति की एक समग्र व्याख्या की गई और इस क्रम मे राजनीति को कानूनेतर देखने का उपक्रम किया गया। राजनीतिक प्रकृति जहा एक ओर राजधर्म पर आश्रित थी जिससे शासक व शासित दोनो बधे हुए थे वही दूसरी ओर वह राज्य शिल्प (State Craft) पर भी आधारित थी जहा मानवीय सवेदनाओ और सजनशीलता से राज्य और सरकार चलाने का सकल्प व्यक्त किया गया था। राज्य शिल्प के साधनात्मक मूल्य के रूप मे राजनय प्रचलित था जो राजनीतिक सफलता व उसके नैतिक मानको को एक दूसरे से जोडने का योगदान देता था। राजनीतिक प्रकृति की विविधताओ का आभास महाभारत के इस कथन मे निहित है कि जिस प्रकार एक मोर अपने पख फैलाकर विविध रगो को बिखेरता है उसी प्रकार एक राजा को शासन के दौरान विविध गुणो का सयोजन एव प्रदर्शन करना चाहिए। उसे सख्ती, चातुर्य, अनिवधित भाव, सत्य और स्पष्टवादिता का अवसर के अनुकूल प्रयोग करना चाहिए। उस समय एव तत्कालीन परिस्थितियो मे यह तक प्रस्तुत करना कि स्पष्टवादिता व ईमानदारी से राज्य-गोपनीयता बचाई जा सकती है, सचमुच अत्यधिक प्रगतिशील भावाभिव्यक्ति है। डॉ० यू० एन० घोषाल द्वारा इसे 'द्वैधाभासी अथवा सदिग्ध तर्क' मानना[15] वस्तुत राज्यशिल्प व राजनय की सीमित धारणा का परिचायक है। आज राजनय नेकनीयती व पारस्परिक विश्वसनीयता पर अधिक आधारित है और समझौते व समझौते के परिणामस्वरूप प्रकट गोपनीय राजनयिक अश भी राजनयिको की साख पर आधारित होते हैं। उसके अभाव मे राजनय चल नही पाता। राजनीति की वैज्ञानिकता का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि अर्थशास्त्र एक शास्त्र के रूप म अपने पूर्वगामी कृतित्वो की समीक्षा करता है, वर्तमान सदर्भों की आनुभविक व्यक्तिपरक व्याख्या करता है, अपने रूप-विधान मे प्रशासनतत्र सैनिक विज्ञान, अतर्राज्यीय राजनयिक गठबधनों को स्थान देता है और ऐसा सब करते हुए वो तत्कालीन राजनयिक सकटो का नीति विकल्प निर्मित करता है और राजनीति विज्ञान म मे निहित विज्ञान एव कला, दोनो को अनुरजित करता है। यह कहना सभवत अतिशयोक्तिपूर्ण न हो कि राजनीति विज्ञान का 'पॉलिसी-साइस (नीति विज्ञान) बिम्ब अर्थशास्त्र मे प्रकट होता है। प्राचीन भारतीय सदर्भ म इतना कुछ प्रस्तुत करना विस्मयकारी है। इसके सम्मुख यह प्रश्न अपेक्षाकृत गौण है कि अर्थशास्त्र किसने और कब लिखा। महत्त्वपूर्ण यह है कि प्राचीन साक्ष्यो के आधार पर एक ऐसी परम्परा विद्यमान दिखाई देती है जो राजनीतिक प्रवृत्ति की समग्रता का प्रतिष्ठित करती है।

राजनीति विज्ञान की प्रकृति व स्वरूप स सम्बन्धित इस चर्चा के प्रकाश में

यह प्रश्न अनावश्यक सा लगता है कि राजनीति विज्ञान विज्ञान है अथवा कला ? कोई भी जीवित विषय अथवा व्यक्ति न तो पूर्णत सुव्यवस्थित होता है और न ही अव्यवस्थित । वह विभिन्न अवस्थाओ एव परिस्थितियो के सदर्भ मे दोनो के बीच कहीं स्थित होता है। ठीक इसी प्रकार राजनीति विज्ञान वास्तव म विज्ञान व कला के दो शीर्ष बिन्दुओं के बीच स्थित है, आगे-पीछे बढता घटता रहता है और इस सदर्भ मे वह विज्ञान अथवा कला सदृश होने का आभास देता है या हम अध्येता किसी तरह ऐसा आभास-सकेत प्राप्त कर लेते है । वास्तव म राजनीति विज्ञान एक स्वायत्त विषय है जिसे विज्ञान व कला मिलकर स्वायत्तता प्रदान करते हैं। राजनीति जिस अश तक अध्ययन व अनुसधान के अधीन है—और यह अश पर्याप्त व्यापक है—उस अश तक वह वैज्ञानिक है । राजनीति की वैज्ञानिकता उसकी अध्ययन सामग्री को सुव्यवस्थित करती है ग्राह्य बनाती है उसके सदर्भ म सामान्य धारणाए व फिर सिद्धान्त बनता-बदलता है व्यक्ति का राजनीति के सदर्भ म और राजनीति का व्यक्ति के सदर्भ म ससाधन होता है। इस दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति खुलकर अपनी भूमिका निभाती है और अनेक वैज्ञानिक व्यवस्थाए—कार्य-कारणत्व, सम्प्रेषण, निर्णय निर्माण, व्यवस्था-विश्लेषण, शक्ति सरचना आदि प्रयुक्त होती है । इसके बावजूद, राजनीति का एक काफी व्यापक भाग ऐसा है जो वैज्ञानिकता की परिधि से बाहर है । विज्ञान जैसा है वह तो विदित कराता है लेकिन जैसा होना चाहिए उसमें सदर्भ म वह मौन रहता है । अच्छा राज्य, अच्छी सरकार, अच्छी राजनीति, अच्छी विचार-धारा व अच्छे लोग 'अच्छाई की कला' मे पारगत होकर ही उभर सकते हैं। यह प्रश्न विश्वास, आस्था व सदाचरण का है । ये सभी व्यक्ति, समाज, सरकार व राज्य की मूल्य व्यवस्था से जुड़े हुए प्रश्न हैं। इन्हें लगातार इनके प्रति आस्था व विश्वास तथा अभ्यास व अनुभूति से अर्जित किया जा सकता है। जिस प्रकार सगीत की प्रवीणता अथवा चित्रकला व पेंटिंग मे दक्षता आत्मा व काया की निर्मलता पर निर्भर है और उसके उपरान्त वैज्ञानिक पद्धति उसके परिमार्जन मे प्रासगिक सहायता देती है, ठीक उसी प्रकार ईमानदारी, आस्था व मानवीय गुणों से युक्त होकर राजनीति, राज्य व सरकार को सोद्देश्यात्मक बनाया जा सकता है। वैज्ञानिकता की भूमिका उसके उपरात प्रारम्भ होती है। यह प्रसग यह स्पष्ट करके समाप्त किया जा सकता है कि विज्ञान तथ्यो की प्रधानता का परिणाम है जबकि कला साधक के मूल्य-पक्ष की । तथ्यों व मूल्यों को सयुक्त करके और विज्ञान व कला को परस्पर जोड़कर राजनीति को सही तौर पर समझा परखा और मूल्यों के सदर्भ म विकसित किया जा सकता है ।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र

आज राजनीति विनान का क्षेत्र अत्यधिक विकसित है। शक्ति व प्रभाव के सदभ मे राजनीति की सवव्यापकता न उसे हर ओर पहुचा दिया है और सामाजिक वल्कि, व्यक्तिगत जीवन के भी अधिकाश अग आज राजनीतिक व्याख्या के अधीन हैं। इस दष्टि से आज राजनीति राज्य व सरकार के दायरे म न कैद रहकर अपनी हदें मानव सम्बधो स्कूल-कालेज विश्वविद्यालयो, सरकारी व गैर-सरकारी दफ्तरो और यहा तक कि धार्मिक प्रतिष्ठाना म भी फैल गई है। राजनीति की सावभिमता ने जहा एक ओर राजनीतिक व्याख्याओं की लोक-धार्मिता सिद्ध की है वही उसने 'राजनीतिक' क्या है, इस सम्बध मे अस्पष्टता व भ्रम भी प्रकट किया है। आज राजनीतिक स्तरो व उनमे व्याप्त राजनीतिक तत्वो व शैली मे विभेदीकरण का अभाव दिखाई देता है। आवश्यक यह है कि राजनीति के क्षेत्र निर्धारण का एक कायकारी मापदण्ड स्वीकार किया जाए और यह स्पष्ट किया जाए कि अमुक 'राजनीतिक' है जबकि अय स्थितिया मे राजनीतिक अश विद्यमान हैं। एक अय उल्लेखनीय तथ्य यह है कि शक्ति प्रधान राजनीतिक अवधारणाए शक्ति को अतिम व साध्य मानती हैं जबकि स्वस्थ राजनीतिक सदभ मे शक्ति 'साधनात्मक' है और ऐसा होते हुए वह 'औचित्यपूण होती है और उससे सत्ता प्रकट होती है। इस विस्तार के अभाव म व्यवस्था म अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अपने साधनात्मक सदभ मे ही शक्ति राजनीतिक विकास व परिवतन सुलभ कराती है। अत शक्ति का *निरकुशतावादी आग्रह न केवल मताधता उत्पन्न करता है* बल्कि, उससे राजनीतिक सार विकृत भी होता है। एक कायकारी प्रस्ताव के रूप म सभवत यह मत अभिव्यक्त किया जा सकता है कि सावजनिक नीतियो व कायक्रमो की दष्टि से प्रासगिक तत्व ही राजनीतिक है जबकि अय तत्व गर राजनीतिक।

इसके बावजूद राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को राज्य प्रधान व राज्येतर सदर्भों मे भलीभाति देखा-परखा जा सकता है। राज्य प्रधान सदभ म राज्य की अवधारणाए (समाजवाद, लोकतत्र इत्यादि), सरकार का सगठन-सविधान वर्णित व वास्तविक व्यवहार सम्बधी, सरकारी पद व सस्थाओ के पारस्परिक सम्बध सरकारी निर्वाचन, व्यवस्थापिका व यायपालिका के सगठनात्मक व प्रयोगात्मक पक्ष तथा राज्य की याख्यायक राजनीतिक विचार श्रेणिया व अवधारणाए उत्पत्ति के विविध सिद्धांत राज्य क्रियाशीलता के सिद्धात राज्य परक विचार धाराए स्वतत्रता, समानता अधिकार इत्यादि। राज्येतर सदभ मे राजनीति की प्रक्रियात्मक वास्तविकता राजनीतिक व्यवस्था के विविध उपागम, राज्यतर राजनीतिक सस्थाए जसे राजनीतिक दल, दवाव समूह व हित समूह गर-राज्य

(Non State) प्रक्रियाए व उनका विस्तार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वास्तविकताए तथा जटिलताए इत्यादि आती है। इनके अतिरिक्त, इसी श्रेणी म सरकार के अनौपचारिक आनुभाविक रूपो, प्रतिनिधित्व की विधियो आदि को भी रखा जा सकता है।

कुल मिलाकर राजनीतिक विज्ञान का क्षेत्र अध्ययन की दृष्टि से अन्त विषयक दष्टिकोण का पक्षधर है। इस वास्तविकता को सिद्ध करन के लिए विविध विषयो के विशेषज्ञो का 'टीम वक' अपरिहाय माना जाता हैं और सब मिलकर अपने-अपने विषय से सम्बधित आशिक सत्य को तरजीह दते है और ऐसा करते हुए 'पूण' की रचना चाहते हैं। यूरोप के सदभ मे यह 'टीम वक' भले ही सटीक हो, क्योकि वहा 'या तो यह अथवा' 'वह' को समन्वित करन की आवश्यकता प्रतीत हाती है। गर यूरोपीय सदभ मे यह दष्टिकोण कुछ विशेष उपयागिता की सम्भावनाए उजागर नही करता। ऐसा इसलिए क्योकि पारम्परिक सदभ म मानव, समाज, धम व दशन की भाति भारतीय व अय गैर यूरोपीय सदर्भों मे भी राजनीति की समग्र कल्पना की गई थी। राजनीति का क्षेत्र इतना व्यापक स्वीकार किया गया था कि वह ज्ञान व कम की समस्त विधाओ से जुडा हुआ था और उन्हे गतिशीलता उपलब्ध कराता था। अथशास्त्र सम्पूण व्यक्तियो की वत्ति (जीवनयापन) के सस्साधन का माध्यम है और इस दष्टि से वह न कवल राजनीतिक दस्तावेज है और न ही मात्र आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक कृति। वह वस्तुत भूलोक पर व्यक्तियो के सफल सोद्देश्यपूण जीवन व्यतीत करन व इसके लिए आवश्यक व्यवस्था निर्मिति का प्रयास है। यद्यपि कुछ अतिश्योक्तिपूण रूप मे लेकिन महत्त्वपूण से समसामयिक घटनाक्रमो से इतने पूव महाभारत मे राजव्यवस्था के सावदेशिक क्षेत्र व उद्देश्य का आभास इस प्रकार उपलब्ध होता है—

> राज धम की सहिता समस्त सजीव सष्टि की आश्रय-स्थली है मानव अस्तित्व का त्रिवर्गी उद्देश्य राजधम सहिता म ही समासक्त है राजधर्म सहिता मे ही प्रत्येक प्रकार का परित्याग समाहित है, (इसी म) सभी धार्मिक सस्कार निहित हैं राजधम सहिता म ही समस्त विधाए एकीकृत हैं राजधम सहिता म ही समस्त लोक केन्द्रित हैं।'

उद्धरण

1 हेरोल्ड लासवेल व ए कपलन पॉवर एण्ड सोसाइटी ए फ्रेमवर्क फॉर पॉलिटिकल इन्क्वायरी, पृ X I V

2 जाज ई- जी केटलिन "पॅलिटिकल थिअरी वॉट इज इट ?"

गोल्ड व थसत्री (स) कन्टेम्पोरेरी पॉलिटिकल थॉट, इशूज इन स्कोप, वेल्यू एण्ड डाइरेक्शन, प 24-24

3 डैविड ईस्टन, दि पॉलिटिक्ल सिस्टम, पृ 129

4 हस्जार व स्टीवशन, पोलिटिक्ल साइंस, पृ 1

5 यू घोषाल, ए हिस्टरी ऑव इंडियन पॉलिटिकल आइडियाज़ पृ 84

6 वही, पृ 120

7 वही, पृ 120-125

8 महाभारत XII, 56, 3 4 घोषाल द्वारा उद्धृत पूर्वोक्त (प्रारम्भिक पृष्ठ)

अध्याय 2

राजनीति विज्ञान की प्रमुख अध्ययन-पद्धतिया

राजनीति विज्ञान म पद्धतिशास्त्र का स्थान अधिकाधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। यह महत्त्व पद्धतिशास्त्रीय चेतना से उत्पन्न हुआ है जिसमे सतत यह भाव प्रतिष्ठित होता रहा है कि तथ्यो को न केवल उपयुक्तता ही आवश्यक है बल्कि, उनके निर्धारण की विधि भी उपयुक्ततापूर्ण प्रकट करना आवश्यक है। ऐसा इसलिए क्योकि तथ्यों की सत्यापनीयता (Verifiability) व उनका प्रमाणीकरण (authentication) प्रयुक्त पद्धति के प्रकट विवरण की अपेक्षा करता है, जिससे अन्य अध्येता व अन्वेषक उसी पद्धति के उपयोग से उस तथ्य को पुन प्राप्त कर सकें और अभ्यास की यह पुनरावृत्ति तथ्यों को प्रमाणित कर सकें अथवा उनमें समयानुकूल परिवर्तन सुलभ करा सके। राजनीति विज्ञान समेत समस्त समाज-विज्ञानों में पद्धति का महत्त्व इस कारण और अधिक बढ़ जाता है क्योंकि समाज विज्ञानों की दुनिया में प्रयोग ठोस पदार्थ पर भौतिक तुला की सहायता से बन्द प्रयोगशाला में नहीं किया जा सकता। यहां प्रयोग समाज की खुली सीमा म परिवर्तनशील एवं विकासशील व्यक्ति व समाज पर किया जाता है। दूसरी जटिलता इस तथ्य पर आधारित है कि व्यक्ति क्या है, क्या सोचता है कैसी मकल्पनाएं करता है इसका एकमात्र स्रोत स्वयं उसकी प्रकट अभिव्यक्ति होती है। यह आवश्यक नहीं कि प्रकट अभिव्यक्ति उसकी वास्तविक मनःस्थिति की परिचायक हो। अप्रकट गूढ़ मानसिकता तो नहीं कैद की जा सकती जो स्वयं में एक निर्णायक कमी है, अब यदि प्रकट के नियोजन में भी अपर्याप्तता या अतिरिक्तार्जन करता जाए तो तथ्यों की क्या उपयोगिता रह जाएगी।

इस चेतना से बँधे होकर राजनीतिशास्त्रियो व शोधकर्त्ताओ ने विविध ऐतिहासिक स्थितियो मे अनेक पद्धतियो का आश्रय लिया है। बीसवी शताब्दी मे समाज वैज्ञानिक सदभ मे तो पद्धतिशास्त्रीय चेतना इस बुलन्दी तक पहुची कि आनन्द ब्रेटट ने बीसवी शताब्दी को समाज विज्ञानो की दृष्टि से एक पद्धतिशास्त्रीय शताब्दी की सज्ञा दे डाली।

पद्धति वास्तव मे एक निश्चित परिणाम तक पहुचने के लिए नियोजित अन्वेषण का एक प्रकार है। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान मे किसी एक पद्धति का वचस्व स्थापित नही हो सकता है। अनेक सामाजिक स्थितिया एव प्रसग अनेक पद्धतियो व अध्ययन तकनीको की उपेक्षा करते हैं। राजनीतिक अध्येता इस आवश्यकता के प्रति उदासीन नही रहे है। उन्होने अपने-अपने अध्ययनो मे प्रयोगात्मक, पयवेक्षणात्मक, ऐतिहासिक, दाशनिक, तुलनात्मक तथा वज्ञानिक पद्धतियो का नियोजन किया है। राजनीतिक अध्ययनो के क्रम मे काम्टे, जे एस मिल, सर जार्ज कानवाल लेविस, एलेक्जेंडर बेन, लॉड ब्राइस व तदुपरात मक्स वेबर, जान डिवे, फेलिम्सस, काफमेन, लिओ स्ट्रास एरिक वागलिन, काल पापर आनल्ड ब्रक्ट का विशेष योगदान रहा है।

इस अध्ययाय मे क्रमश प्रयोगात्मक, पयवेक्षणात्मक, ऐतिहासिक, दाशनिक व तुलनात्मक पद्धतियो का सार रूपी व वैज्ञानिक पद्धति का अपेक्षाकृत विस्तत विश्लेषण किया जाएगा।

प्रयोगात्मक पद्धति

राजनीति विज्ञान मे प्रयोग सम्भव है अथवा नही इस विषय मे शुरू से ही काफी विवाद रहा है। प्रयोग पक्ष के विरोधी यह तक प्रस्तुत करते हैं कि सामाजिक सदभ मे व्यक्ति के मनोभावो एव प्रकट अभिव्यक्ति मे तारतम्य स्थापित करके उसे प्रयोग के अधीन करना अत्यधिक दुष्कर काय है। खुले समाज मे प्रयोगात्मक पद्धति और भी अधिक दुसाध्य होती है क्योंकि इसमे अनेक प्रतिगामी शक्तिया एव बलो का भार व्यक्ति व उसके परिवेश को सतत् प्रभावित करता है। यहा तथ्यो को कृत्रिम रूप से पदा करके उन पर प्रयोग नही किया जा सकता जसा कि प्राकृतिक विज्ञानो मे सभव है और इस कारण समानधर्मी प्रवत्तियो एव घटनाओ की पुनरावृत्ति उसी क्रम मे, उसी प्रकार बारम्बार प्रकट नही हो सकती। लाड ब्राइस का यह प्रतीकात्मक कथन विचारणीय है कि सामाजिक स्थितिया पूववर्ती क्रम व निश्चितता से उसी प्रकार पुन प्रस्तुत नही की जा सकती जिस प्रकार हेराक्लिटस के अनुसार कोई व्यक्ति एक प्रवाहशील नदी मे दुबारा पूर्ववर्ती कदम नही रख सकता।[2]

इसके बावजूद राजनीति विज्ञान के पर्याप्त विद्वानो की यह धारणा है कि

इन समस्त अवरोधों के रहते हुए भी विषय में सीमित प्रयोग की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। राजनीति विज्ञान समेत समस्त समाज विज्ञानों में ऐसी संस्थाएँ एवं प्रक्रियाएँ सुलभ हैं जिनके संदर्भ में प्रयोग किया जा सकता है। चार्ल्स मेरियम राज्य व उसकी अनुवर्ती संस्थाओं के संदर्भ में प्रयोग किए जाने के समर्थक हैं।[5] इसी प्रकार जॉर्ज केटलीन भी सीमित प्रयोगों की वास्तविकता स्वीकार करते हैं यद्यपि उनके मत में राजनीति में "अनाकलनीय" (incalculable) तत्त्वों पर भी पूर्ण ध्यान देना अपेक्षित है।[6]

यह अभिव्यक्ति इस सम्बन्ध में सर्वथा प्रासंगिक होगी कि आज प्रयोगात्मक पद्धति के नियोजन से राजनीतिक सार ग्रहण करने की क्रियाएँ सर्वत्र हो रही हैं। वास्तव में प्रत्येक सरकारी नीति संकल्प एवं प्रयोग की शुरूआत होता है जिसके उपरांत प्रतिक्रियाएँ, अनुक्रियाएँ इत्यादि संकलित की जाती हैं और उसके बाद नीति नियान्वयन होता है। उदाहरण के लिए श्रीमती गांधी द्वारा बैंकों का राष्ट्रीयकरण एक अभिनव नीति प्रयोग था और उसके अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त कर 14 बैंकों का वास्तविक राष्ट्रीयकरण इस प्रयोग की तार्किक परिणति। यह एक सफल राजनीतिक प्रयोग का उदाहरण है जिसने श्रीमती गांधी को पर्याप्त शक्ति व सुदृढ़ता उपलब्ध कराई। इसके विपरीत, उनके द्वारा भारत में बीमार लोकतन्त्र के इलाज के लिए दी गई आपातकाल की कड़वी गोली का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से विफल सिद्ध हुआ। आपातकाल के दौरान अनिवार्य नसबन्दी के अभियान ने श्रीमती गांधी की प्रभाव क्षमता को लोक समर्थन से बिलकुल जुदा सा कर दिया। इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव ने 1977 के चुनावों में श्रीमती गांधी का प्रधानमंत्रित्व छीन लिया। यह राजनीतिक प्रयोग की विफलता का उदाहरण है। किसी प्रतियोगी राजनीतिक व्यवस्था में चुनाव राजनीतिक प्रयोग को संस्थात्मक मंच प्रदान करते हैं। 1971 के चुनाव में 'गरीबी हटाओ' और 'इन्दिरा हटाओ' के प्रतियोगी प्रयोग संकल्पों में से जनता ने 'गरीबी हटाओ' संकल्प का समर्थन देकर श्रीमती गांधी के नेतृत्व में आस्था प्रकट की जबकि 1977 में लोकतन्त्र के स्थगन व लोकतंत्र के पुनः प्रतिस्थापन' पर औचित्य की मुहर लगाने के सवाल पर उसने लोकतन्त्र के स्थगन पर मुहर लगाने से इन्कार कर दिया और लोकतन्त्र की पुनः स्थापना के पक्ष में अपना फैसला दिया। इसके अतिरिक्त आज अनेक सरकारी गैर सरकारी व स्वैच्छिक संगठनों द्वारा नेताओं, नीतियों व क्रियान्वयन के सम्बन्ध में मत सर्वेक्षण (Opinion survey) नियोजित किया जाता जो स्वयं में एक सार्थक प्रयोग है—एक ऐसा प्रयोग जो पद्धतिशास्त्री परिष्कार से युक्त होकर वैचारिक व गणित स्पष्टता सुलभ कराता है। ये मत-सर्वेक्षण चुनाव से पूर्व जनता की मन स्थिति का आभास देते हैं जिसका चुनाव परिणामों पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। चुनाव के उपरान्त विविध नीतियों के सन्दर्भ में नियोजित मत सर्वेक्षण राजनीतिक व्यवस्थाओं की दृष्टि से उपयुक्त सकारात्मक

सुलभ कराते है। कुल मिलाकर यह मत व्यक्त करना प्रासंगिक होगा कि राजनीति विज्ञान में प्रयोग सम्भव है। यद्यपि इनमें प्राकृतिक विज्ञानों की निश्चितता नहीं हो सकती फिर भी इनकी सहायता से राजनीति प्रक्रिया सम्पन्न होती है और सरकारी कामकाज सुचारु रूप से चलता है।

पर्यवेक्षणात्मक पद्धति

राजनीति विज्ञान में यदि प्राकृतिक विज्ञानों की भांति नियन्त्रित प्रयोग सम्भव नहीं हो तो उसका अभाव पर्यवेक्षण की सटीकता से पूरा किया जा सकता है। पर्यवेक्षणपद्धति की तर्क संगति इस आग्रह में निहित है कि अपनी दृष्टि साफ रखते हुए राजनीतिक घटनाक्रमों एवं उनके पार्श्व तत्त्वों की गतिविधियां पर खुली नजर रखी जाए। यदि इस पर्यवेक्षण के दौरान राजनीतिक तत्त्वों व घटनाओं की पुनरावृत्ति हो तो आनुभविक आधार पर नियम निर्माण किया जा सकता है। इसी भाव से प्रेरित होकर लार्ड ब्राइस ने दो खण्डों में पर्यवेक्षणात्मक पद्धति आधार पर अमेरिकन कामनवेल्थ मॉडर्न डिमोक्रेसीज कृतियां की रचना की। इन कृतियों से निकले ब्राइस के अनुभव-सार का उद्धरण विशेष उपयोगी है —राजनीतिक अध्येता को तथ्य के प्रति आश्वस्त होना चाहिए, उसे पूर्णतः साफ करना चाहिए, उस पर तब तक पालिश करनी चाहिए जब तक कि वह चमचमा न जाए और एक मणि की भांति चमकने न लगे। तदुपरान्त उसे अन्य तथ्यों से संयोजित करना चाहिए, उनसे इसके सम्बन्ध का परीक्षण करना चाहिए क्योंकि इसी में उसका मूल्य व महत्व निहित है। अपने आप में (अकेले) इसका बहुत कम उपयोग हो सकता है। इसलिए इसे हार में एक हीरे का या एक इमारत में पत्थर, बल्कि संभव हो तो आधारशिला का दर्जा दिया जाना चाहिए।[5]

पर्यवेक्षण पद्धति को विकसित करके उसे एक शैक्षणिक अनुशासन के रूप में प्रस्तुत करने का कार्य 1945 के बाद राजनीति विज्ञान में बहुतायत से होने लगा। दूसरे विश्व युद्ध के उपरान्त नवोदित गैर-पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस उद्देश्य से क्षेत्र अध्ययन (area studies) संगठित किए गए। आमण्ड व कोलमेन ने पॉलिटिक्स आव डिवलेपिंग एरियाज की रचना की। इसके अतिरिक्त, भारत, पाकिस्तान, बर्मा, नेपाल श्रीलंका, घाना, इज़रायल मिश्र, आदि अनेक देशों के राष्ट्रीय व क्षेत्र परक अध्ययन किए गए। इन सब अध्ययनों में पर्यवेक्षण का विशेष स्थान रहा — आम तौर पर प्रयुक्त पद्धति यह थी कि पहले वर्ष में आधार-कार्य के उपरान्त क्षेत्र भ्रमण करके आकड़े लिए जाएं दूसरे वर्ष अपने देश में उन आकड़ों का संसाधन किया जाए तथा तीसरे वर्ष फिर क्षेत्र भ्रमण के दौरान आकड़ों व संसम्बन्धित सामग्री में तुलना की जाए व्यतिक्रम सूची बद्ध किए जाएं नए

विकास क्रमों के संदर्भ में संसाधित सामग्री का प्रमाणीकरण हो और यदि व्यक्ति क्रम पुराने कृतित्व आधार को चुनौती देते हों तो वापिस लौटकर वैकल्पिक संसाधन या फिर आवश्यकतानुसार उनका क्षेत्र भ्रमण के दौरान परीक्षण किया जाए। स्पष्ट है पर्यवेक्षण आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और राजनीतिक अध्ययनों के अभिनव क्रम में भी पूर्ववत प्रासंगिक है।

इस सबके बावजूद पर्यवेक्षणात्मक पद्धति की अपनी अपर्याप्तताएं हैं जो इस पर अंकुश लगाती हैं। प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण महत्त्वपूर्ण है लेकिन वह अकेले समग्र जुटाने में अक्षम है। किसी भी देश अथवा क्षेत्र का *अध्ययन उस देश की विशिष्ट* परम्पराओं इतिहास, संस्कृति, धर्म, समाज इत्यादि के अभाव में नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त विशिष्ट लोक मानस से परिचय भी महत्त्वपूर्ण रूप से उस क्षेत्र से सम्बन्धित अध्ययन को प्रभावित करता है। यदि इतना कुछ पर्यवेक्षण से संयोजित किया जाए तब कहीं जाकर बात बन पाती है अन्यथा पर्यवेक्षण अभ्यास निराशा व कुण्ठा उत्पन्न कराते हैं। अधिकांश पश्चिमी अध्येता इस अनुभव से गुजरे हैं जहां परिवर्तन व विकास ने उनके चयनित क्षेत्र में अत्यधिक तीव्रता से बदलाव उपस्थित किया और देशी परम्पराओं व मूल्य व्यवस्था से अजनबी व विदेशी अध्येता इन परिवर्तनों को परिवर्तन के क्रम में न देखकर केवल अपने अध्ययन निष्कर्षों के संदर्भ में ही देखने को तत्पर हुए और उनसे बेमेल होने के कारण उन्होंने अपने क्षेत्र की गतिविधियों व उनके बदलाव को सुविधापरस्ती में मात्र 'कैलाइडोस्कोपिक' कह कर टाल दिया। पर्यवेक्षण पद्धति उपयोगी हो सकती है बशर्ते कि धैर्यपूर्वक उसे ससम्बन्धित किया जाए, अध्येता अपना रंगीन चश्मा उतार कर देशी रंग देखें और न केवल देखें ही बल्कि, उसमें रच-बस भी जाए। यह एक मुश्किल अपेक्षा है लेकिन पर्यवेक्षण के अनुशासन के लिए यह अपरिहार्य है।

ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति की उपयोगिता काफी लम्बे समय से राजनीतिक विचारकों एवं अध्येताओं को आकर्षित करती रही है। यूरोप में मैक्यावलि ने ऐतिहासिक क्रम में राज्य व्यवस्था की अवस्थाओं का निरूपण किया और इस आधार पर डिस्कोर्सेज अपान दि टेन बुक्स ऑव टाइटस लिवियस आन रोमन हिस्टरी की रचना की। ऐतिहासिक पद्धति की अपनी सम्पूर्ण अपूर्णताओं के बावजूद मैक्यावलि ने एक विशिष्ट ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य इस संदर्भ में निर्मित किया कि वह इस अभ्यास के द्वारा ऐतिहासिक क्रम में 'शक्ति के ह्रास व प्रवाह' की थाह पाना चाहता था।[3] 'भारत में कौटिल्य ने प्रारम्भ में अपनी पूर्ववर्ती अर्थशास्त्र परम्पराओं का संकलन किया और अर्थशास्त्र ग्रन्थ में

उनसे प्राप्त इतिहास सार को प्रतिष्ठित किया। कौटिल्य का ग्रथ जहा मौलिक प्रस्तावनाओ को सुलभ कराता है वही वह पर्याप्त रूप से इतिहास व एतिहासिक राजनीतिक परम्पराआ एव कृतियो की एक टीका भी उपलब्ध कराता है। इन ऐतिहासिक पूर्वोदाहरणो ने उसकी वतमान की व्याख्या को गहनता स प्रभावित किया है। यह अभिव्यक्ति भी सभवत उपयुक्त होगी कि यूराप मेक्यावलि से काफी पूव अरस्तु न जव अपन साध्यपरक अथवा उद्देश्यवादी (teleological) उपागम का प्रतिपादन किया तब वह वस्तुत ऐतिहासिक उत्पत्ति व विकास क्रम के तथ्य की ही पुनराभिव्यक्ति कर रहा था। आधुनिक शताब्दियो म सीले, लास्की व सर फ्रेडरिक पोलाक एसे अधिकारिक विद्वानो ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र म ऐतिहासिक पद्धति क उपयोग के विषय मे सारगर्भित योगदान दिया।

ऐतिहासिक पद्धति की विवेचना करते हुए सर फ्रेडरिक पोलक ने यह स्पष्ट किया है कि एतिहासिक पद्धति राजनीतिक सस्थाआ क वतमान स्वरूप व उनके भावी प्रवत्त रूप की व्याख्या करती है और ऐसा वह यह अन्वेषित करके प्रति पादित करती है कि ये सस्थाए कसी रही है (इतिहास क्रम म) और अपन वत-मान रूप म किस प्रकार आइ न कि इस सदभ म कि उनका वतमान का विश्लेषण क्या प्रस्तुत करता है। आशय यह है कि सस्थाआ के अतीत का देख समझ कर ही उनक प्रकट वतमान को अधिक बोधपूणण रूप से पहिचाना जा सकता है और यह अभिज्ञान वतमान विश्लेषण व भविष्योन्मुखी कल्पनाआ का ठोस आधार प्रदान करता है।

एतिहासिक पद्धति इतिहास से अर्जित सस्थात्मक उदाहरणा द्वारा राजनीति विज्ञान म सामान्य अवधारणाए प्रस्तुत करती है। एतिहासिक क्रम मे ही उनका सत्यापन-काय भी किया जाता है। सस्थाआ के अतिरिक्त नतृत्व अध्ययन (leadership-study) भी ऐतिहासिक सदभ म ससाधित की जाती है। उदाहरण के लिए भारतीय प्रधानमन्त्रित्व के वास्तविक पक्ष का उद्घाटित करने के लिए उपयुक्तत जवाहरलाल नहरू, लाल बहादुर शास्त्री श्रीमती इदिरा गाधी, मोरारजी देसाई, व पुन श्रीमती गाधी के कायकाल से उदाहरण अर्जित करने हागे और उनके परीक्षण के उपरा त उनसे सामान्य परिकल्पनाए निर्मित करनी हागी। ऐतिहासिक पद्धति द्वारा पूर्वबोधित (excogitated) विचारो की ठोस ऐतिहासिक साक्ष्यों के प्रकाश म वधता भी निर्धारित की जा सकती है। कुल मिलाकर यह कथन सही होगा कि एतिहासिक पद्धति हमे इतिहास भाव से समृद्ध करती है और इस समृद्धि से कायशील ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य निर्मित होना है।[8] इसके बावजूद, ऐतिहासिक पद्धति की अपर्याप्तताआ की आर अनेक लेखका व विद्वाना ने ध्यान आकर्षित किया है जिनम सर अर्नेस्ट बाकर व सिजविक महत्व-पूण हैं। ऐतिहासिक पद्धति की अपर्याप्तता के पक्ष म दो मत यह व्यक्त किए

जाते हैं—(1) ऐतिहासिक पद्धति व्यावहारिक राजनीति के लिए आवश्यक समाधान सुलभ कराने में असमर्थ है और (2) यह राजनीति विज्ञान के बुनियादी कार्य (नैतिक तत्व से युक्त अमूर्त आदर्शों के संदर्भ में राजनीतिक प्रक्रिया की स्पष्ट व्याख्या) से भी असम्पृक्त है। ये दोनों ही मत विचारणीय होते हुए भी दुर्लध्य नहीं है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र यह सिद्ध करता है कि इतिहास से समर्थ ग्रहण करते हुए व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से उपचारात्मक व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा सकती है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र न केवल सैद्धान्तिक समीक्षा ही प्रस्तुत करता है बल्कि, वह नीति विज्ञान (Policy-science) के रूप में व्यावहारिक निदान भी उपलब्ध कराता है। राजनीतिक प्रक्रिया की व्याख्या की चौखट तक पहुँचने के ऐतिहासिक पद्धति के योगदान को नगण्य मानना या ऐसा इंगित करना सम्भवतः शैक्षणिक दृष्टि से अनुपयुक्त होगा। विश्लेषण की हद तक ऐतिहासिक पद्धति से समुचित सहायता लेना वस्तुतः ऐतिहासिक पद्धति की भूमिका की इति है और तदुपरांत किसी पद्धति के समारम्भ का सिलसिला शुरू होना है या ऐसी होना चाहिए। राजनीति विज्ञान के ससाधन की यात्रा में अनेक पद्धतियों के पड़ाव अपेक्षित हैं और उन पड़ावों पर एक पद्धति की यात्रा सम्पन्न होती है और दूसरी नई पद्धति की यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। राजनीति विज्ञान अनेक पद्धतियों के योग से ही अपना विशिष्ट रूप निधान पा सकता है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष सर्वमान्य होना चाहिए कि ऐतिहासिक पद्धति राजनीतिक विश्लेषण में अन्य पद्धतियों की भांति एक सहायक पद्धति है और इस दृष्टि से वह महत्वपूर्ण है।

दार्शनिक पद्धति

राजनीति विज्ञान में दार्शनिक पद्धति की महत्ता इस प्रवृत्ति से ज्ञात होती है कि एक आत्मविकासी विषय के रूप में वह जैसा है उसे और परिष्कृत करना चाहता है और जो वह नहीं है और होना चाहता है वैसा वह बनने का संकल्पित प्रयास करता है। इस दृष्टि से जहाँ अन्य पद्धतियाँ उसे अपने आप को निखारने में मदद देती हैं वहीं दार्शनिक पद्धति उसे उसके आदर्श या कल्पित रूप तक पहुँचने की सद्प्रेरणा प्रदान करती है।

दार्शनिक पद्धति निगमनात्मक तर्क विधि पर आधारित है जिसमें पूर्वकल्पित धारणाओं के संदर्भ में राजनीतिक श्रेष्ठता निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक में विचार-सत्य ज्ञान-साक्षी रूप में ग्रहण किया और उसके आधार पर दार्शनिक राजा न्याय शिक्षा व आदर्श साम्यवादी योजना प्रस्तावित की। रूसो ने अमूर्तित सामान्य इच्छा के संदर्भ में राज व्यवस्था का चिंतन किया और व्यक्ति, स्वतंत्रता व समानता के अपने

सकलित की उसका विश्लेषण किया और ऐसा करते हुए सामा य राजनीतिक सिद्धा तो को स्थापित करने की महत्त्वपूण भूमिका निभाई।

द्वितीय महायुद्ध के उपरात राजनीतिक विनान में तुलनात्मक पद्धति के नियोजन मे पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कार उपस्थित हुआ। औपचारिक सस्थाओ की पूवगामी तुलना से आगे बढते हुए इस अवस्था म राजनीतिक प्रक्रया की अनौपचारिकताओ का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य निर्मित किया गया। आज देशीय आधार पर तुलनाए अर्जित करने की अपेक्षा अवरसरचनात्मक (infrastructural) तुलनाए करने पर अधिक ध्यान दिया जाना है। आज तुलनाए राष्टीय स्तर के साथ-साथ क्षेत्रीय (regional) स्तर परभी राजनीतिक तुलनात्मक अभ्यास नियोजित किए जाते है और वे भी क्षैतिज (horizontal) व ऊर्ध्वाधर (vertical) दानो स्तरों पर। इस दृष्टि से तुलना का क्षत्र पहल की अपेक्षा न केवल मात्रात्मक अनुपात मे बढा है बल्कि उसकी गुणात्मक क्षमता म भी अभिवृद्धि हुई है। आज औपचारिक सरकारी स्तर के अतिरिक्त नौकरशाही दलीय व्यवस्था, सगठित समूहो, विनान एव प्राविधिकी के स्तर तथा वर्गीय अभिजनवाद (class elitism) के सदभ मे व्यापकतर तुलनाए नियोजित की जा रही है। विकासशील एव विकसितदेश के सापेक्षिक विकास स्तर भी आज तुलना का एक प्रधान पक्ष हैं। इसके अतिरिक्त शस्त्रो के प्रसार उपभोग सूचकाक consumption index)की विविधता, विचारधाराई घनिष्ठता अथवा उदासीनता आदि विषय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलनात्मक पद्धति के अधीन हैं और उनका व्यावहारिक रूप अ तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताए समझने और उनक प्रति वचारिक/कार्मिक उपकरण निर्मित करने मे विशेष सहयोगी भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

इस सबके बावजूद उपयोगी राजनीतिक तुलनाओं की सभावना तुलनात्मक पद्धति के अत्यधिक सतर्क प्रयोग पर निर्भर है। राजनीतिक तुलनाओ के अभ्यास की दृष्टि से यह स्मरणीय है कि तुलनीय राजनीतिक व्यवस्थाओं पर अनेक प्रकार की प्रतियोगी शक्तिया का भार एव बल विद्यमान होता है और उनकी प्रकृति व सम्भावनाओ से परिचय सफल राजनीतिक तुलनाओं की पूव आवश्यकता है। यदि तुलना व विश्लेषण का दायरा अत्यधिक सकुचित होगा तो घटकों व शक्तियों का वविध्य समग्र रूप से तुलना के मनदड पर नहीं उतर सकेगा। उदाहरण के लिए भारत व ब्रिटेन दोनो ससदीय सरकारों के परिचायक हैं लेकिन ब्रिटिश ससदीय सरकार के मापदण्ड व शलिया भारत के सदभ म मात्र वचारिक खींचातानी ही होगी क्योंकि लोकतन्त्र ने ससदीय प्रतिमान के बावजूद भारत म जाति-सरचना, क्षेत्रीय वविध्य, धार्मिक-साम्प्रदायिक बहुलता एव अस मान आर्थिक-सामाजिक स्तरों के विशिष्ट तत्त्व विद्यमान हैं। इनके पर्याप्त

मताधन के अभाव मे भारतीय लोकतत्र की सम्पूर्ण प्रकृति व सम्भावना क्षेत्र अर्जित नही किया जा सकता। उसकी ब्रिटिश सरकार से तुलना का लक्ष्य ता वाद की बात है। आशय यह स्पष्ट करता है कि तुलनात्मक पद्धति विश्लेषण की एक निश्चित तैयारी की आधारभूमि पर ही नियोजित हो सकती है। इस तैयारी म विलक्षण तत्वो के पार्थक्य के बावजूद व्यवस्थाओ का तुलनीय आधार निर्मित करना आवश्यक है।

वैज्ञानिक पद्धति व राजनीति विज्ञान मे उसके प्रयोग की सम्भावना

वज्ञानिक पद्धति के सम्बन्ध म चर्चा प्रारम्भ करन से पूव यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि समाज विज्ञानो मे विशेष रूप से और प्राकृतिक विज्ञानो म सामान्य रूप से वज्ञानिकता अर्जित करने के क्रम मे मानवीयता का विस्मृत नही किया जा सकता। वज्ञानिक पद्धति कोई यान्त्रिक अभ्यास नही है बल्कि वह एक चेतनशील सृजनात्मक प्रतिभा से युक्त एक मानवीय प्रक्रिया है। वज्ञानिक पद्धति मानवीय सवदना एव सृजनात्मकता का स्थापनापन्न नही हो सकती। साथ ही वह स्वय यह बता भी नही सकती कि सृजनशील कसे हुआ जाए ?[10] यह ता वस्तुत शोधकर्ता के अपन व्यक्तित्व व उसम सम्बधित गुणो का प्रश्न है। वैज्ञानिक पद्धति व्यवहारवादी क्रान्ति स काफी अधिक पुरानी प्रक्रिया है यद्यपि वह राजनीति विज्ञान की दुनिया म नई सजावट व धूमधाम से व्यवहारवाद क दौरान पुन उपस्थित हुई है।

वज्ञानिक पद्धति का अपना निजी मूल्य परिवश है जिसकी अभिव्यक्ति जान हेम्पस द्वारा प्रभावी रूप से की गई है।[11] इसके अन्तगत वैज्ञानिक पद्धति की (1) नियतिवादी व सावदेशिक कारणत्व के सिद्धात मे आस्था व्यक्त की गई है तथा (2) आनुभाविक व पयवेक्षणीय सामग्री के प्रति उसकी सहानुभूति प्रदर्शित की गई है। इसके अतिरिक्त, वज्ञानिक पद्धति का यह भी आग्रह है कि ज्ञान सम्प्रेषणीय है। (अ' द्वारा ब' तक पहुचाया जा सकता है) वज्ञानिक पद्धति की एक अन्य मूल्य प्राथमिकता यह है कि वज्ञानिक सत्य अनिवायत अन्तरिम है वह कभी भी चिरस्थायी नही हो सकता। हर परिकल्पना, जब तक कि वह अस्वीकृति का सफल प्रतिरोध कर पाती है केवल तभी तक प्रतिष्ठित रहती है अन्यथा वह प्रतिस्थापित हो जाती है। य मूल्य प्राथमिकताए अपन सम्मिलित प्रभाव से वज्ञानिक पद्धति का सवदनशीलता प्रदान करती है।

वज्ञानिक पद्धति का व्यावहारिक सदभ आनल्ड ब्रेख्ट द्वारा परिमार्जित किया गया है। ब्रेख्ट ने वैज्ञानिक पद्धति को वज्ञानिक क्रियाओ एव 'वैज्ञानिक

कार्यविधि की अवस्थाओं के रूप में देखी जाती है।[1] ब्रेग्ट द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक पद्धति की विविध अवस्थाएं इस प्रकार हैं—

(i) पर्यवेक्षण (Observation)
(ii) विवरण (Description)
(iii) मापन (Measurement)
(iv) स्वीकृति (Acceptance)
(v) आगमनात्मक सामान्यीकरण (Inductive Generalization)
(vi) व्याख्या (Explanation)
(vii) निगमनात्मक तर्क पद्धति (Deductive Reasoning)
(viii) परीक्षण (Testing)
(ix) शुद्धीकरण (Correcting)
(x) भविष्यवाणी (Prediction)
(xi) अस्वीकृति (Non-Acceptance)

तथ्य व मूल्य का विवाद राजनीति विज्ञान के सन्दर्भ में विशेषरूप से प्रभावी रहा है। फोहॉक ने इन दोनों में अन्तर स्थापित करते हुए यह स्पष्ट किया है कि तथ्य अपनी मूल प्रकृति में वस्तुनिष्ठ (Objective) हैं अर्थात् वे सभी के लिए समान रूप से ग्राह्य हैं बशर्ते कि उनका अनुशासनात्मक संसाधन किया जाए जबकि मूल्य विषयगत (Subjective) हैं, वे भिन्न भिन्न व्यक्तियों में पृथक भाव पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में फोहॉक के अनुसार तथ्य व मूल्य में द्वन्द्वाभास अथवा संघर्ष सर्वथा स्वाभाविक है।

राजनीति विज्ञान समेत समस्त समाज विज्ञानों में तथ्य व मूल्य में तारतम्य स्थापित किया गया है और उसके उपरान्त वैज्ञानिक पद्धति के वास्तविक प्रयोग का प्रयास हुआ है। तथ्य व मूल्य को एक दूसरे से पृथक करने के लिए उनके प्रति वैज्ञानिक की स्वतः स्फूर्त चेतना आवश्यक है। न केवल उसे स्वयं अपने आप उनका भेद जानना होता है बल्कि यह भेद उसे अन्य लोगों को भी अवगत कराना होता है। ऐसी स्थिति में आत्म चेतना के स्तर पर मूल्य तटस्थता सम्भव हो सकती है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मूल्य मुक्तत्व (Value-free) विश्लेषण का अर्थ यह नहीं है कि मूल्यों से छुटकारा पाया जाए। उसका आशय यह है कि मूल्यों का अपने वैज्ञानिक अध्ययन की प्रस्तावना में ही स्पष्ट प्रकट कर दिया जाए और वे अन्य लोगों तक इस आधार पर सम्प्रेषणीय हों। मूल्यों के इस प्रकटीकरण व अध्ययन की वैज्ञानिकता में कोई विरोधाभास नहीं है। मूल्यों के प्रकट रूप व वैज्ञानिक पद्धति से उत्पन्न अध्ययन के निष्कर्ष में विरोधाभास होने की स्थिति में उसे यथावत स्वीकार कर लेना वस्तुतः मूल्य तटस्थता का एक सजीव उदाहरण है। राजनीति विज्ञान के व्यावहारिक संदर्भ में

उदाहरण ग्रहण करते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति का यथार्थ जाति संरचना व तत्सम्बन्धी विश्लेषण पर निर्भर है या वर्गीय विश्लेषण पर ? इस प्रश्न का निदान इस आधार पर किया जा सकता है कि अध्ययनकर्ता प्रस्तावना में अपना मूल्य स्पष्टतः प्रकट कर दे (मान लीजिए वर्गीय विश्लेषण की प्राथमिकता के रूप में) और तदुपरांत वैज्ञानिक पद्धति की अवस्थाओं के अनुरूप अपनी अध्ययन सामग्री को संसाधित करता चले। यदि निष्कर्ष स्वरूप जाति विषयक विश्लेषण की प्राथमिकता सिद्ध हो (प्राप्त साक्ष्यों व उनकी व्याख्या के अनुसार) तो उसके द्वारा इस आशय का स्वीकारोक्ति उसके विषयगत मूल्य व वैज्ञानिक तथ्य में सह-अस्तित्व स्थापित कर सकेगी। यह एक अति परिष्कृत व अनुशासित मानस की व्यावहारिकता पर निर्भर करेगा कि वह यह तारतम्य वैज्ञानिकता के प्रतिकूल नहीं होगा।

उद्धरण

1 आर्नल्ड ब्रेख्ट, पॉलिटिकल थियरी, पृ 5
2 ब्राइस, माडर्न डिमोक्रेसीज़, खण्ड 1, पृ 14
3 चार्ल्स मेरियम, न्यू आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स पृ 50 व 227
4 जी ई जी कैटलिन, दि साइंस एण्ड मेथड्स ऑफ पॉलिटिक्स, पृ 114
5 ब्राइस द्वारा अमेरिकी राजनीति विज्ञान परिषद को दिया अध्यक्षीय भाषण, ए पी एस आर, खण्ड III, प 10
6 कॉल जे फ्रेडरिक, एन इन्ट्रोडक्शन टु पॉलिटिकल थ्योरी, पृ 108
7 फ्रेडरिक पालक, हिस्टरी ऑफ दि साइंस ऑफ पॉलिटिक्स, पृ 11
8 र व भट्टाचार्य, पॉलिटिकल थियरी पृ 20
9 सट, पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन ए प्रिफेस, प 5
10 ब्रेख्ट, वही पृ 31
11 जॉन हस्पर्स, एन इन्ट्रोडक्शन टु फिलोसफिकल एनालिसिस,
12 ब्रेख्ट, वही पृ स 28 29

अध्याय 3

राजनीति विज्ञान तथा उसके सहयोगी विषय

राजनीति विज्ञान सदव ममाज विज्ञाना के एक अ ग के रूप म स्थापित रहा है। समाज विनान समन्वित रूप से सामाजिक व मानवीय स्थितिया का अध्ययन एव विश्लेषण करते हैं और ऐसा करत हुए वे मानव स्थितियो म व्याप्त सकट का निराकरण करते हैं। यह ठीक भी है क्योंकि जिस प्रकार व्यक्ति केवल राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक इत्यादि नही होता वह इन सब का सुरचित योग हाता है और एसा होते हुए वह वास्तविकता से अन्तरग होता है और उसे स्वीकृत आदर्शों की ओर उन्मुख करता है, ठीक उसी प्रकार नान का कोई एक पक्ष अकेले मानव स्थितिया का आकलन व रुग्णस्थितियो का उपचार नही कर सकता। टुकडा म बटा सत्य पूणता की ओर नही ले जाता। वह आशिक सत्ता का निरूपण ही करता है। नान की पूण सत्ता समस्त टुकडा को जोडकर एक पूण सरचित सत्य के अस्तित्व पर निभर करती है। ऐसा समग्र नान ही विषम मानव स्थितिया का समग्र ससाधन कर सकता है और व्यक्ति व समाज के सर्वांगीण विकास की स्थितिया सुलभ कर सकता है। प्राचीन यूरोप व भारत म इसी समग्र नान की सकल्पना की गई थी। अरस्तू राजनीति की उसी व्यापक व्याख्या का पक्षधर था जिसका सूत्रपात प्लेटो ने किया था उसम अन्तर वस्तुत दृष्टिकोण व पद्धति का था। अरस्तू ने जब राजनीति को 'मास्टर साइ स' माना तो उसका आशय अय विनानो की उपेक्षा करना नही बल्कि, उनके सहयोगी तत्वो को उदघाटित करना था। मास्टर साइ स के रूप मे राजनीति अय विनाना को मानव स्थितियो का दिशा मे ससाधित करन का महत्वपूण काय ही करती थी

उन पर अपना वचस्व नही स्थापित करती थी। भारत मे 'अथशास्त्र' अपनी परिधि मे राजनीति के अतिरिक्त धम, नैतिकता, समाजशास्त्र, प्रशासनतन्त्र, राजनय, अथतत्र, सेनाविज्ञान आदि विषयो का सुनियोजित समन्वय स्थापित किए हुए था। इन सबके सम्मिलित योग से व्यक्ति को सद्गुण, समृद्धि एव सुख के त्रिवर्गी आदर्शों की ओर उन्मुख किया गया था और इस गतव्य के साधन के रूप मे राज्य, सरकार व प्रशासन की कल्पनाए की गई थी, उनके सिद्धात प्रतिपादित किए गए थे। कुल मिला कर यह कहना समुचित होगा कि राजनीति विज्ञान सभी समाजविज्ञानो से जुडकर समग्रता प्राप्त करता है। इस दृष्टि से उसके अन्य विषयों से सम्बधो की कम से कम सार रूपी विवेचना अवश्य की जानी चाहिए। सम्बधो के इस अनुशीलन द्वारा ही राजनीति विज्ञान के विषय-क्रम को समझा जा सकता है और सामाजिक सदभ म उसकी उपयोगिता स्थिर की जा सकती है। इसी उद्देश्य से इस अध्याय मे राजनीति विज्ञान के इतिहास, समाजशास्त्र, अथशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान व भूगोल से सम्बधो की विवेचना की जा रही हैं।

राजनीति विज्ञान व इतिहास

राजनीति विज्ञान व इतिहास के अन्त सम्बध अत्यधिक प्रगाढ व सारगर्भित है। इतिहास से राजनीति विज्ञान को आधार मिलता है। उसी के क्रम म विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ का नैसर्गिक विकास क्रम व प्रकृति पहिचानी जाती है। यह कहना सभवत सही होगा कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य म राजनीति व तत्सम्बधी सस्थाओं के बीज बोए जाते है, उनका अकुरण होता है और तदुपरात वे पल्लवित होते हैं। शायद इसी कारण सीले ने इतिहास व राजनीतिशास्त्र की प्रतीकात्मक रूप से वृक्ष-सदृश व्याख्या प्रस्तुत की थी और यह सामान्य मत प्रतिपादित किया था कि "राजनीति विज्ञान के अभाव मे इतिहास म फल नही होता, इतिहास के अभाव मे राजनीति विज्ञान की जड नही होती।"

दोनो विषयो के सह सम्बधों का आभास इस दृष्टि से भी प्रासगिक है कि इतिहास राजनीति विज्ञान की समसामयिक चयन प्रक्रिया को प्रभावित करता है और राजनीतिक सस्थाओ एव प्रक्रियाओ की सामयिक उपयुक्तता के लिए इतिहास के पन्नो को पलट कर उसमे सिमेटे विकल्प-सार म से प्रासगिक अश ग्रहण कर लिए जाते हैं। "इतिहास मे घटनाओ का काल क्रमिक निरूपण वस्तुत सामाजिक आन्दोलन की विभिन्न अवस्थाओ को परस्पर सयुक्त करता है (वह) सतत विकास की प्रक्रिया को निबिद्ध करता है और विकास का भाव प्रस्तुत करता है।"[1] राजनीतिक सस्थाओ के अतिरिक्त विविध प्रवृत्तिया (लोकतान्त्रिक-अधिनायकवादी, आदशवादी, भौतिकवादी, विरोध-असमहति व सुधार-

वादी आदि) ऐतिहासिक अनुभवों से परिष्कृत होती है। इनका वतमान प्रकट रूप वस्तुत इतिहास की धाराओ से ही उत्पन्न व विकसित होता है। अत राजनीतिक विश्लेषण इस दृष्टि से भी इतिहास व उससे उत्पन्न अनुभव पर आश्रित होता है।

इतिहास स्वय राजनीति विज्ञान से बहुत कुछ प्रतिदान स्वरूप ग्रहण करता है। राजनीति के अध्यता ऐतिहासिक घटनाओ के राजनीतिक निहितार्थों की व्याख्याए सुलभ कराते हैं। यूरोप का इतिहास उदारवाद, व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, फासीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद आदि वैचारिक सदर्भों के अभाव म नही लिखा जा सकता। इसी प्रकार, भारतीय सदभ म भी इतिहास लेखन राष्ट्रवाद, स्वराज्य, राष्ट्रीय आदोलन के उदारवादी उग्रवादी गाधीवादी नेतृत्व उपागमो तथा भारतीय राज्य विषयक धारणाओ के अभाव मे सवथा अधूरा सिद्ध होगा। इतिहास की राजनीतिक-वचारिक व्याख्याए राजनीति विज्ञान से ही प्राप्त होनी हैं।

इन सहयोगी मतव्यो तथा घनिष्ठ सम्बधो के बावजूद इतिहास व राजनीति विज्ञान को दो स्वतन्त्र विषयो के रूप म देखना भालना आवश्यक है। उनके परस्पर व्यापन का होना उनका तत्सम होना नही है। यह वैचारिक स्पष्टता दोनो विषयो के स्वस्थ विकास के लिए अपरिहाय है अन्यथा भ्रम व अनिश्चय के विया बान जगल बिछ जाते है। कोई भी राजनीतिक अध्येता इतिहास से केवल अपनी शक्षणिक समस्या की दृष्टि से प्रासगिक अ श ही ग्रहण करता है। यह सकलन अत्यधिक विचारपूण तथा सुनियोजित होता है। उदाहरण के लिए लोकतन्त्र के भारतीय सदभ का अध्ययन करने के प्रयासो के दौरान केवल वे ऐतिहासिक साक्ष्य ही विवेचना के अधीन होंगे जो लोकतन्त्र के प्रतिमान को प्रत्यक्षत अथवा अप्रत्यक्षत प्रभावित करते होंगे। इस समस्या के ससाधन के दौरान थोक ऐतिहासिक-सामग्री का अधिग्रहण नही होगा। यह भी सभव है कि इतिहास सामग्री केवल उसी सदभ म ली जाए जहा इतिहास उपयोगी अ त दृष्टिया सुलभ कराता हो। राजनीति विज्ञान के अ तगत अनेक ऐसे उदाहरण है जब इतिहास को लगभग पूरी तरह उपेक्षित करते हुए उत्कृष्ट राजनीतिक विचार व अवधारणाए निर्मित की गई। प्लेटो ने उदाहरणार्थ निगमनात्मक तक विधा स युक्त दाशनिक पद्धति द्वारा केवल आत्म साक्षी राजनीतिक तत्वो को स्वीकार किया और अनिवार्यत अमूत विचार प्रधान स्थापनाए उपलब्ध कराइ। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण और जोडे जा सकते है। इतिहास से अत्यधिक लगावकारी सम्बधो का राजनीति विज्ञान के क्षेत्र म एक अस्वस्थ परिणाम 'इतिहासवाद' रहा है जहा इतिहास भाव एव दशन राजनीति सार पर वचस्व स्थापित कर लिया और राजनीतिक विश्लेषण अपनी समस्त विस्तारयुक्त विधाओ के बावजूद पुरोपन का शिकार हुआ। ऐसी स्थिति म यह नितात आवश्यक है कि इति

हान व राजनीतिशास्त्र को मूलत दो स्वतन्त्र विषयों के रूप म ही देखा परखा जा। यद्यपि समान रूप से उनकी अनुल्लंघनीय भाव यह भी है कि अपने स्वस्थ स्वतन्त्र रूप म दोनों विषय एक दूसरे की अभावपूर्ति भी करते हैं। यह पूरक क्रिया इन दोनों विषयों की विकारयुक्त बाधा का परिणाम नहीं है बल्कि उनके स्वास्थ्य वद्धक पारस्परिक सहयोग का उदाहरण है।

राजनीतिक विज्ञान व समाजशास्त्र

राजनीतिविज्ञान एव समाजशास्त्र एक दूसरे से इतने घुलेमिले हैं कि आज दोनों के सयुक्त रूपाकार स एक अभिनव विषय राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Sociology) विकसित हो गया है। राजनीतिक समाजशास्त्र के अत-र्गत उन समाजशास्त्रीय सस्थानों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो राजनीति व उसकी प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं और स्वय उससे प्रभावित होती भी हैं। इस दृष्टि से आज अनेक समाजशास्त्रीय अवधारणाए ऐसी है जो राजनीति विज्ञान को गहन प्रभावित करती है। राजनीतिक सस्कृति वह राज-नीतिक मूल्य-परिवेश निर्मित करती है जिसमे वास्तविक राजनीति सचालित होती है। इसके अन्तगत सस्कृति द्वारा प्रस्तुत उन मनोभावों, मतव्यों व दृष्टि कोणों का अध्ययन होना है जो राजनीतिक व्यवस्था को गति प्रदान करते हैं। भारत के सदर्भ मे माइरन वीनर की कृतिद्वि टू कलचस भारतीय राजनीतिक-सास्कृतिक सदर्भ व उसके व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य को प्रकट करती है। लूशियन पाई व वर्बा ने राजनीतिक सस्कृति के विविध आयामों का अपनी पुस्तक पॅलिटि कल्चर एण्ड पॅलिटिकल डिवेलपमण्ट मे विशद विवेचन किया है। राजनीति सामाजिक सरचना से भी प्रभावित व सचालित होती है। इस दृष्टि से अभिजन व साधारण वग के सम्बध भी राजनीतिक नियत्रण मे विशेष भूमिका निभाते हैं। अभिजनवाद व राजनीतिक नियत्रण मे वास्तविक राजनीतिक सदभ म गहन सम्बध है। इन सम्बधों के प्रतिमान को मार्क्सवादी सदभ में सामा न्यत टी बी बाटोमोर व भारत के विशेष सदभ में ए आर देसाई ने विशेष बल प्रदान किया है। रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक डिमोक्रेटिक पॅलिटि एण्ड सोशल चेंज इन इडिया म राष्ट्र बनाम वग का विवाद पर्याप्त गहनता स प्रस्तुत किया है और भारत समेत अनेक देशों में 'मध्यमवर्गीय अभि जनवाद की वास्तविकता का प्रकाशित किया है। आधुनिकता व परम्परा के पारस्परिक सम्बध व उनका विशिष्ट राजनीति पर प्रभाव का प्रश्न भी राज-नीतिक समाजशास्त्र म एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस दृष्टि से भारतीय पृष्ठभूमि पर योगेन्द्र सिंह की कृति माडर्नाइजेशन आव इडियन ट्रेडिशन' तथा रूडाल्फ एण्ड रूडोल्फ की दि मार्डनिटी आव ट्रेडिशन विशेष उल्लेखनीय है।

भारत के विशिष्ट परिवेश में जाति विषयक समाजशास्त्रीय सम्था राजनीति को अत्यधिक प्रभावित करती है। भारत में जाति सरचना व उसके राजनीतिक प्रभाव का आकलन रजनी कोठारी की कृति कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स विशेष महत्त्व रखती है। राजनीतिक समाजशास्त्र की इन अभिनव प्रवृत्तियो के प्रकाश म एस एम लिपसेट का यह कथन सार्गर्भित है कि कोई भी समाजशास्त्री किसी ऐसे सामाजिक अध्ययन की कल्पना नही कर सकता जिसम विश्लेषण के एक प्रधान भाग के रूप म राजनीतिक व्यवस्था को सम्मिलित न किया गया हो और अनक राजनीतिशास्त्रियो ने, अक्सर स्वय अपने विषय के अध्येताओ के साथ स्वर म स्वर मिला कर यह तक प्रस्तुत किया है कि अधिक सामान्य समाजशास्त्रीय व मनोवज्ञानिक सम्बधो के विशेष मामलो के अतिरिक्त राजनीतिक प्रक्रियाओ का कोई भी अध्ययन असभव है।

राजनीति विज्ञान व समाजशास्त्र म व्याप्त इस घनिष्ठता क बावजूद यह उल्लेखनीय है कि दोनो स्वतत्र विषयो म महत्त्वपूण अन्तर भी विद्यमान हैं। पहला महत्त्वपूण अन्तर ता यह है कि राजनीतिविज्ञान जहा सामाजिक सस्थाओ का प्रधानत राजनीतिक सस्थाओ से सम्बद्ध है वही समाजशास्त्र का सम्बन्ध समस्त उन सस्थाओ से है जो सामाजिक नियत्रण के सदभ मे व्यक्ति के व्यवहार को ससाधित करती हैं। दूसरा महत्त्वपूण अतर यह है कि समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान का पूवगामी है कम से कम इस सम्बध म कि समाज राज्य का पूवगामी है। अत पतक व्यवस्था व व्युत्पन्न व्यवस्था म असमानुपाती समातर खोजना बौद्धिक दृष्टि से एक अनुत्पादक काय है। इन विषमताओ के बावजूद समाजशास्त्र व राजनीति विज्ञान मिलकर राजनीतिक विश्लेषण का दायरा विस्तत करते है। राजनीति विज्ञान उस राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन करता है जो समस्त सामाजिक व्यवस्था की एक प्रतिनिधि-व्यवस्था है। इस दृष्टि से वह सामाजिक नियत्रण की उन समस्त विधाओ की उपेक्षा नही कर सकता जिनसे राजनीतिक नियत्रण चरितार्थ होता हो भले ही उसका क्षत्र सामाजिक नियत्रण की अपेक्षा अधिक सकुचित क्यो न हो।

राजनीति विज्ञान व अथशास्त्र

राजनीति विज्ञान-समाजशास्त्र सम्बधो की अपेक्षा राजनीति विज्ञान अयशास्त्र सबध कही अधिक पुरान हैं। राजनीति विज्ञान व अयशास्त्र अपन प्राचीन सबध म इतने विलयशील थ कि उनके सदभ म पथक से चचा ही नही की जाती थी। प्लेटो का न्याय सिद्धात राजनीतिक-आर्थिक पदो समेत समन्वित न्याय की कल्पना करता था। अरस्तु न अपन ग्रथ पॉलिटिक्स म गाहस्थ सदभ

मे आर्थिक पक्षा की चर्चा की थी और सावजनिक सदभ म राजनीति की। इसी प्रकार, भारत म कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपने कलेवर मे आर्थिक पक्षो के राजनीति प्रशासन द्वारा नियोजन करता था और ऐसा करते हुए वह एक समृद्धि-सम्पनता की ओर समाज को प्रेरित करता था और दूसरी आर धमपरायणता व सदगुण प्राप्ति की ओर। आधुनिक सदभ मे राज्य उत्पत्ति के उपरात राज्य-क्रियाओ का प्रवतन आर्थिक मतव्या स प्रेरित रहा। उपयोगितावाद की बेंथमवादी धारणा न सुख के समर्थित विचार का समथन किया। इसी क्रम मे आगे चलकर जे एस मिल ने अपने चितन द्वारा आर्थिक प्रवत्तियो के सदभ मे उपयोगितावाद का आधुनिकीकरण किया और उदारवाद की आधारशिला रखी। उदारवादी परिप्रेक्ष्य म ही राज्य का अहस्तक्षेपकारी स्वरूप पनपा और इसकी तार्किक परिणति ने राज्य द्वारा अहस्तक्षेप की नीति का प्रवतन करके वस्तुत राज्य सत्ता व सरक्षण द्वारा आर्थिक वचस्व की स्थापना का प्रोत्साहित किया। तदनतर प जीवाद का समारभ हुआ पू जीवादी राज्य ने उपनिवेशवादी आर्थिक योजना का राजनीतिक आयाम प्रदान किए। साम्राज्यवाद का विस्तार वस्तुत पू जीवाद की सवाधिक विकसित अवस्था का द्योतक था। इस सबके प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित राज्य की समाजवादी धारणाए नियत्रित व नियमित आर्थिक प्रक्रिया का सस्थात्मक रूप प्रदान करती थी और उत्पादन के साधना के विशिष्ट वर्गीय नियत्रण की अपेक्षा उनके सवहारा वर्गीय नियत्रण व नियमन की पक्षधर थी। नियाजित अथव्यवस्था रूसी समाजवादी व्यवस्था का एक व्यावहारिक पक्ष ह जो न्यायमगत आर्थिक विकास के लिए राज्य, नेतत्व व व्यवस्थापन की अपेक्षा करता है। समाजवादी व्यवस्था की उदारवादी अनुक्रिया स्वरूप उत्पन्न लोक कल्याणकारी राज्य नए सिरे से आर्थिक-राजनीतिक प्रश्नो को एकीकृत करने का प्रयास करता है।

इनके अतिरिक्त, नवोदित एशियाई, अफ्रीकी व लेटिन अमेरिकी देशो द्वारा राजनीतिक स्थिरता के साथ विकास का लक्ष्य ससाधित करना, अतर्राष्ट्रीय स्तर पर अभिनव-साम्राज्यवाद का विरोध करना, क्षेत्रीय शक्तियो के रूप म उदित हाकर विश्व-व्यवस्था मे निर्णायक भाग लेने के प्रयास करना तथा राष्ट्रीय स्तर पर पश्चिमी लोकत त्र व समाजवादी व्यवस्थाआ की कोई यौगिक व्यवस्था बनाना आदि समस्त प्रश्न राजनीति व अथनीति के सयुक्त नियोजन के सटीक उदाहरण ह।

इन व्यावहारिक सदर्भो के अतिरिक्त नवीन सद्धातिक स्तरो पर भी राजनीतिक विश्लेषण आज दोना विषया के सम्मिलित प्रभाव पर आश्रित है। राष्ट्रीय राजनीति के आकलन मे वग विश्लेषण (Class Analysis) का प्रयोग, राजनीतिक सदभ मे बाजार सिद्धातो (Market Theories) का प्रचलन राज-

नीतिक व्यवस्थाओं द्वारा वितरणकारी न्याय (Distributive Justice) का प्रवतन तथा विकास के साथ लोकतन्त्र (Democracy with Development) के अभिनव भाव का नियोजन—ये समस्त उदीयमान प्रवृत्तियां राजनीति विज्ञान व अथशास्त्र के प्रगाढ़तर सम्बन्धों की ओर इंगित करती है। यह कहना सम्भवत गलत न हो कि आर्थिक गतियों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक साधनात्मकता की वास्तविकता आज जितनी प्रभावी रूप से विद्यमान है उतनी पहले कभी न थी। विकास की दृष्टि से विश्व की वैकल्पिक पुनर्संरचना (alterantive restructuring) का तथ्य आज दुनिया की समस्त सरकारों व शक्ति गुटों को इतना अधिक प्रभावित किए हुए है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक नहीं बल्कि, दो विकास दशक आयोजित कर चुका है और अपनी विशेषज्ञ समितियों का इस प्रश्न से एकाकार होने के लिए अधिकाधिक प्रेरित कर रहा है। यहां यह उल्लेख अनुपयुक्त न होगा कि अंतर्राष्ट्रीय शांति, व्यवस्था व सदभाव के तात्कालिक राजनीतिक मूल्यों के परिणामस्वरूप उत्पन्न यह विश्व संस्था आज अपनी राजनीतिक लक्ष्मण रेखा लांघकर एक नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की ओर उन्मुख है। दो विषयों का इससे अधिक बोधगहरक संधि स्थल और क्या हो सकता है?

अपनी समस्त अन्तर्निर्भरता व पारस्परिक सहयोग के बावजूद यह अभिव्यक्ति आवश्यक है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) की समस्त परस्पर व्यापी विषयक सीमाएं मिलकर भी इन दोनों विषयों के स्वतन्त्र विषयक दायरे को दबा नहीं सकती। राजनीतिक व आर्थिक अनुशासन के अनेक पक्ष ऐसे हैं जो दोनों विषयों के अपने निजी मामले हैं और उनको उनके इसी क्रम में देखना भालना आवश्यक है।

राजनीति विज्ञान व नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र व्यक्ति व राज्य सरकार समेत समस्त समाज को नैतिकता की ओर उन्मुख करता है। ऐसा करते हुए वह व्यक्ति को अच्छा व्यक्ति, समाज को अच्छा समाज, सरकार को अच्छी सरकार व राज्य को अच्छा राज्य बनने की प्रेरणा देता है और इस सन्दर्भ में नीति नुस्खे प्रस्तावित करता है। राज्य और राजनीति अपने व्यावहारिक पक्ष में इसी नैतिकता को समर्पित है और इस दृष्टि से वह नीति शास्त्र व उसके भाव-पक्ष को अपने में समाहित करती है। यहां अरस्तु का यह कथन ध्यान में लाना आवश्यक होगा कि राज्य जीवन की सादी आवश्यकताओं के संदर्भ में उत्पन्न होता है और सदजीवन की आवश्यकता-पूर्ति के लिए विद्यमान रहता है। उसके अनुसार प्रत्येक राजनीतिक संस्था का महत्व इस प्रवृत्ति पर आधारित है कि वह स्वयं सन्मति की ओर उन्मुख है और इस दौरान वह सभी को सदजीवन जीने की प्रेरणा देती है। सम्पूर्ण यूनानी राजनीतिक

चिनन राजनीति व नीतिशास्त्र का योगपरक रूप प्रदर्शित करता है। राजनीतिक विचारो के आधुनिक सदभ म भी नीतिशास्त्र अपतिष्ठित नही होता, उसका समय व परिस्थितियो के अनुरूप केवल रूपातरण ही होता है। उदाहरण के लिए मेक्यावेलि अनैतिकता का परित्यायक नही वरन, आपद् धम नतिकता का परिचय देता है और उसके लिए तत्कालीन स्थितियो व चुनौतियां उत्तरदायी हैं। भारत के सदभ मे नीति-शास्त्र व राजनीति म घनिष्ट सबध का आभास अनेक प्राचीन ग्रथो से उपलब्ध होता है जिनमे नीतिवाक्यामृतम, शुक्रनीतिसार नीतिसार कामन्दकीय नीतिसार आदि विशेष उल्लेखनीय है। अर्थशास्त्र स्वयं राजनीति व राजधम की सयुक्त रूप से विवेचना करता है और ऐसा करते हुए शासक व शासिता के लौकिक व्यवहार एव भूमिका की अवस्थाएं निरूपित करता है जिनसेन का आदि पुराण नीतिशास्त्र की उच्चतर महत्ता इस आधार पर प्रस्तावित करता है कि नीतिशास्त्र लौकिक व आध्यात्मिक—दोनो प्रकार के सुखो को समाहित करता है जबकि राजनीति अपने आप म केवल सासारिक सुख की ही खोज करती है। राजनीति की उद्देश्यपरकता के लिए यह आवश्यक है कि वह नीतिशास्त्र का अनुसरण करे।

राजनीतिशास्त्र का समसामयिक सदभ आज इस विवाद म उलझा हुआ है कि क्या राजनीति विज्ञान के तथ्य व नीति शास्त्र के मूल्य आपस म जुडकर नया ज्ञान व नया परिवेश निर्मित कर सकते है अथवा नही। यह विवाद कुछ अशा म तो यथोचित है क्योकि राजनीति विज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान व पद्धति के रूप म राजनीतिक गतव्यो को सुस्थिर करता है और उन्हे उत्पादक (productive) बनाने की चेष्टा करता है, अक्सर इस बात का ध्यान किए बगैर कि उससे नतिक मूल्य अवमूल्यित या उपेक्षित होते हैं अथवा नही। आज राजनीति का साध्यपरक भाव स्वय उसकी एक मूल्य व्यवस्था निर्मित करता है जिसम तात्कालिक लाभ व सफलताए अग्रणी है। लेकिन इसी क साथ यह महत्वपूण तथ्य विस्मृत करना आत्मघाती होगा कि राजनीति अपने आप म कोई आत्मावलम्बी व्यवस्था नही हो सकती वह केवल आत्मावलम्बन का स्वांग कर सकती है। दीघकालिक स्थिरता व उद्देश्यपरकता की दृष्टि से उसे बडे मूल्यो व सामाजिक स्थितियो व घटको का सामना करना ही पड़ता है और उस स्थिति म वह नीतिपरक मूल्यो व भावो से जुडती है। अत राजनीति विज्ञान कितना ही अधिक वज्ञानिक क्या न हो जाए और उसे अभिनव राजनीतिक अध्येता कितना ही 'मूल्य मुक्त' अथवा 'मूल्य अतिरिक्त' क्यों न ठहराए, उसे हमेशा क लिए मूल्यो से अलग नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से नीतिशास्त्र राजनीति क लिए सदव उपयोगी हैं। यहाँ यह भी उल्लेख

नीय है कि राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता मूलत वैज्ञानिक मन स्थिति व कार्यविधि की परिचायक है वह ठोस सैद्धांतिक आधारो का स्थान नही लेती।

राजनीति विज्ञान व मनोविज्ञान

राजनीति विज्ञान व मनोविज्ञान के अन्त सबध इस प्रवृत्ति के परिचायक हैं कि सामाजिक स्थितियो को वास्तविक सामाजिक सदभ म देखने परीक्षित करने का प्रयास किया जाए और उन्ह अमूत विचारो की परिधि से क्रमश बाहर लाया जाए। इसका एक प्रेरक कारण यह रहा कि विज्ञान प्राविधिकी, औद्योगिक क्रांति, तीव्र सामाजिक परिवतन की प्रक्रिया आदि ने राजनीतिक आदशवादी व्याख्याओ व उनकी ययाथवादी परिणति म खाई पैदा कर दी। आदशवादी विचारो की ययार्थवादी कारकों से अन्त क्रिया ने सिद्धान्त व व्यवहार म न केवल अतर ही उपस्थित किया बल्कि उसन ययाथवाद के आगे आदशवाद का घुटने टकते भी देखा। प्रथम विश्वयुद्ध के अत म आदशवादी जमन राज्य की पराजय ने आदशवादी ग्लेमर पर निर्णायक प्रहार किया। समस्या यह थी कि ययाथवाद को मुखरित कसे किया जाए? इसक निदान स्वरूप अनेक उपायो के साथ-साथ व्यक्तिगत व सामाजिक व्यक्तित्व सरचना पर ध्यान देन का यत्न किया गया, व्यक्ति व समाज की मानसिकता को विश्लेषित करन की कोशिश की गई और इस मानसिकता के मापक व विश्लेषक के रूप म मनोवैज्ञानिक तत्वो व पद्धतियो को तरजीह दी गई। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया बीसवी शताब्दी की उत्तर प्रथम महायुद्ध अवस्था का परिणाम नही है। वस्तुत इसकी परम्परा इससे काफी पूव प्रारम्भ हो गई थी। उदाहरण के लिए 1908 म ग्राहम वालेस की ह्यूमन नेचर इन पालिटिक्स के प्रकाशन न इस प्रवृत्ति की ओर अध्येताओ का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया था। ययाथवादी अनुभव की प्रामाणिकता न इस क्रम को तेजी स आगे बढ़ान म अवश्य महत्वपूण योगदान दिया।

गर अर्नेस्ट बावर ने मनोवैज्ञानिक मनोवेगों को स्वीकार करते हुए यह स्पष्टत लिखा है कि यदि हमारे जनक जीवशास्त्रीय आधार पर चितन करते थे तो हम मनोवैज्ञानिक आधार पर चिन्तन करते हैं।[3] राजनीति विज्ञान म मनोवैज्ञानिक उपागम की वर्तना को स्पष्ट करते हुए ग्राहम वालेस ने यह मत व्यक्त किया था कि 'राजनीति बहुत ही कम अंशों म सचेत तक का परिणाम होती है। यह मुख्यत स्वभाव प्रवृत्ति संवेगों व अनुभूतियों की अवचेतन प्रक्रियाओं से निर्धारित होती है।'' इस कारण राजनीतिक वृत्तियों व घटनाओं के मनोवैज्ञानिक आधारों को खोजकर राजनीतिक समझ के नए आयाम उद्घाटित किए जा सकते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर आज सामाजिक राजनीतिक

सदभ के पाश्व कारकों का अध्ययन विश्लेषण किया जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय राजनीति की समझ राजनीतिक संस्कृति के उपकरणों द्वारा सारगर्भित रूप से अर्जित की जा सकती है और ऐसा करते हुए व्यक्तियों के राजनीतिक मनोभावों दृष्टिकोणों आदि का भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया पर पड़ने वाला प्रभाव आकलित किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी नेता के सावजनिक सकल्पो, नीति निणयो इत्यादि की व्याख्या उसके मानसिक परिवेश के सदभ मे की जा सकती है। इस दष्टि से अडार्नो द्वारा लिखित दि अथारिटेरियन पसनलिटी अधिनायकवादी वृत्तियो के सावजनिक राजनीतिक प्रभाव की समग्र विवेचना प्रस्तुत करता है। 1977 के उपरांत भारतीय सदभ मे श्रीमती गाधी के मानसिक गठन व उनके द्वारा प्रवर्तित राजनीतिक नीति निणयो मे साम्य ढूढने का प्रयास किया गया। नेता सबधी इन मनोवैज्ञानिक अध्ययनो के अतिरिक्त सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन से व्यापक स्तर पर विचारधाराई आकलन का आकलन भी किया जाता है। भारत क्या अधिनायकवादी वत्ति से लोकतात्रिक प्रक्रिया सचालित करता है शक्ति का केन्द्रीकरण क्यो होता है, नेता अपरिहाय क्यो प्रतीत होता है, शहरी व ग्रामीण भारतीयो के मनोभावो म क्यों और कसा अतर परिलक्षित होता है, इन और इनके समेत समस्त ऐसे प्रश्नो का निदान सामाजिक मनोविज्ञान की व्याख्याओ द्वारा प्रभावी रूप से ढूढा जा जा सकता है।

इस सबके बावजद मनोविज्ञान राजनीति के केवल मनोवैज्ञानिक आधारो का आभास ही करा सकता है। वह अन्य विषयो के योगदानो का स्थानापन्न नहीं हो सकता। राजनीतिक समझ के लिए समाजशास्त्रीय परम्पराए, अथव्यवस्था, इतिहासपरक व्याख्याए आदि अपनी जगह उतनी ही वैध है जितना कि अपने निजी सदभ मे मनोविज्ञान। इस दष्टि से मनोविज्ञान एक विषय के रूप म राजनीतिक विज्ञान के लिए केवल सदभगत उपदेयता ही प्रस्तुत करता है।

राजनीति विज्ञान व भूगोल

भूगोल राजनीति विज्ञान के लिए इस सदभ मे प्रासगिक है कि भूगोल का परिवेश वह भौतिक पर्यावरण निर्मित करता है जिसम राजनीति सचालित होती है। भौगोलिक परिवेश द्वारा व्यक्तियो के जलवायुपरक स्वभाव निर्धारित होते है और भौतिक प्राकृतिक सम्प्रदाओ का उत्खनन व नियोजन उन स्वभावो की प्रतिनिधि राजनीतिक प्रक्रिया पर निभर करता है। राजनीतिक विचारो का एक ऐसा लम्बा सिलसिला स्थापित है जो भौगोलिक भौतिक गुणो व राजनीतिक सस्थाओ की प्रकृति म साम्य का पक्षधर रहा है। अरस्तु के अनुसार

अध्याय 4

राजनीति विज्ञान मे 'व्यवहारवादी क्रांति'

राजनीति विज्ञान की दुनिया मे व्यवहारवादी योगदान ने राजनीतिक विश्लेषण को विशेष रूप से प्रभावित किया है। इसी योगदान के कारण राजनीतिक विश्लेषण अध्ययन में औपचारिक कानूनी आधार को छोडकर आगे बढा और उसने अनौपचारिक वास्तविक राजनीतिक आधार पाने की सकल्पित चेष्टा की। राजनीतिक सस्था की प्राथमिकता का युग व्यवहारवादी योगदान के फलस्वरूप पूरा हुआ और राजनीतिक अध्ययन विश्लेषण मे व्यक्ति व उसके व्यवहार की पहली बार प्रतिष्ठा हुई। विषयगत निश्चितता अर्जित करने के उद्देश्य से राजनीति विज्ञान मे अभिनव पद्धतियो व तकनीको का समावेश हुआ तथा राजनीति विज्ञान को निश्चितता अर्जित करने का सांख्यिकीय आधार मिला। इस समस्त विशिष्टताओ के बावजूद राजनीति विज्ञान मे व्यवहारवादी प्रवृत्तियो व घटनाओ को 'क्रांति' की सज्ञा देना लगभग अनुचित है। इसके दो कारण विशेष उल्लेखनीय है—(1) व्यवहारवादी क्रांति मूलत एक स्थानिक अमेरिकी क्रांति रही है जिसने अमरिकी राजनीतिक दुनिया मे ही चकाचौंध पैदा की। अमरिकी राजनीति विज्ञान को दुनिया का राजनीति विज्ञान मानना वस्तुत वैचारिक खींचातानी से भी अधिक है और इस कारण अस्वीकार्य है। ब्रिटिश राजनीतिक परम्पराए व्यवहारवादी आधी मे पूर्ववत जमी रही और आज भी ब्रिटिश राजनीति विज्ञान व्यवहारवादी उपागमो के प्रति उन्मुक्त रूप से उत्साही नहीं है। तीसरी दुनिया मे व्यवहारवादी प्रभाव अत्यधिक क्रमिक रूप से उपस्थित हुआ है बल्कि, यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जब तक वहा व्यवहारवादी क्रांति लोकप्रिय हो

पाती तब तक अमेरिका में संशोधनवादी 'दूसरी क्रांति (उत्तर व्यवहारवाद) का प्रवतन हो गया था और (2) अमेरिकी संदर्भ में भी व्यवहारवाद का आगमन आकस्मिक नही था। उसकी एक सतत अविरल धारा बीसवी शताब्दी से पूर्व ही प्रवाहित होती रही थी। इस दृष्टि से यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि व्यवहारवादी आंदोलन का प्रथम सूत्रपात ब्रिटिश कृतित्व से विशेषत लार्ड ब्राइस के लेखन में हुआ जिसमें उन्होंने राजनीतिक सिद्धांतो की अपेक्षा राजनीतिक व्यवहार व उसकी उपादेयता को प्राथमिकता दी व उसके आधार पर राजनीतिक सिद्धांत का अनुशीलन किया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ म अमेरिकी राजनीति विज्ञान परिषद की स्थापना न राजनीति विज्ञान विषयक इस अभिनव प्रवत्ति को संस्थागत आधार दिया 1908 में ग्राहम वॉलेस की कृति ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स व आथर बन्टले की पुस्तक दि प्रोसेस आव गवनमेन्ट इस दिशा म अगले महत्वपूर्ण पडाव है राजनीतिक आदशवाद की अपेक्षा राजनीतिक यथार्थवाद के प्रति प्राथमिकता न व्यवहारवादी सिलसिले को और आगे बढाया, 1925 के आसपास चार्ल्स मेरियम के नेतत्व म 'शिकागो स्कूल की स्थापना, फिर व्यवहारवादी क्रम का आगे बढ ने की एक महत्वपूर्ण कडी है, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान राजनीति विज्ञान का उसकी विषयगत अवस्था के प्रति एक गहरा आघात लगा और अध्येताओं न प्रकट राजनीतिक घटनाओ एव प्रवृत्तियों के पाश्व म जाकर उनके बुनियादी कारको की थाह पाने की चेष्टा की। ये समस्त उदाहरण व्यवहारवाद के क्रमिक विकास व प्रवतन के साक्षी हैं। अत व्यवहारवाद की 1945 के उपरात स्थापित अवस्था का तात्कालिक व इस आधार पर क्रांतिकारी मानना वचारिक रूप से भ्रमपूर्ण अभ्यास है। यह अवश्य सही है कि 1945 के उपरात एक शैक्षणिक प्रवत्ति के रूप म व्यवहारवाद काफी तेजी से आया और उसन अमरिकी राजनीतिक अध्ययनो के आधार का हिलाकर रख दिया। परम्परावादियो व आधुनिकतावादियो के बीच छिडी "महान बहस ने व्यवहारवाद का लोकरुचि का मसला बनाया उसका साधारणीकरण किया और इस प्रकार उस विशेषज्ञ व सामान्य अध्येताओ के बीच ला खडा किया। प्रभाव का यह विस्फोट भी पूववर्ती अनुपात के संग्रह व उसकी अत क्रियाओ के संदभ में सहज व्याख्यायित किया जा सकता है।

व्यवहारवाद का वैचारिक सार

व्यवहारवाद का वचारिक सार स्पष्ट करते हुए एवरन एम किकपेट्रिक[1] न यह मत प्रतिपादित किया है कि व्यवहारवाद—

1 अनुसंधान की मूल इकाई के रूप म राजनीतिक संस्थाओं का अस्वीकार करता है और राजनीतिक स्थितियों म व्यक्तियो के

व्यवहारो को विश्लेषण की मूल इकाई के रूप म निर्धारित करता है,

2 समाज विज्ञानो को 'व्यवहारवादी विज्ञानो' के रूप म निर्धारित करता है और राजनीति विज्ञान की इस आधार पर परिभाषित समस्त समाज विज्ञानों से एकता पर बल दता है

3 *अध्ययन सामग्री के पर्यवेक्षण वर्गीकरण एव मापन से सम्बधित अधिक निश्चित तकनीका के विकास की पैरवी करता है और जहा तक सभव हो साख्यिकीय व मात्रात्मक प्रस्तावनाओं के उपयोग का आग्रह करता है।*

4 *व्यवस्थित आनुभविक सिद्धात के निर्माण को राजनीति विज्ञान के लक्ष्य के रूप मे परिभाषित करता है।*

इसी भाव को तरजीह देते हुए हाइन्ज यूलाओ ने यह मत व्यक्त किया है कि राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन राजनीतिक सदर्भों म व्यक्ति की क्रियाओं, दृष्टिकोणो, प्राथमिकताओं तथा अपेक्षाओं से सम्बधित है। डेविड इस्टन न व्यवहारवादी दृष्टिकोण के निम्नलिखित लक्षण इंगित किए है जिन्हे वह बौद्धिक आधारशिलाओं की सज्ञा देता है—

(1) नियमितताए (Regularities)
(2) सत्यापन (Verification)
(3) तकनीकें, (Techniques)
(4) साख्यिकीकरण, (Quantification)
(5) मूल्य (Values)
(6) व्यवस्थीकरण, (Spstematization)
(7) विशुद्ध विज्ञान (Pure Science) तथा
(8) एकीकरण (Integration)

व्यवहारवाद का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव

राजनीति विज्ञान पर व्यवहारवाद का नई तकनीको व अध्ययन पद्धतिया के विकास की दृष्टि से अपूर्व प्रभाव पडा। इसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान म सामग्री विश्लेषण (Content analysis), विशिष्ट मामले का विश्लेषण (case analysis) साक्षात्कार व पर्यवेक्षण (interviewing and observation) तथा साख्यिकी (statistics) से सम्बधित नई अध्ययन पद्धतिया का समावेश हुआ। जहा तक राजनीति विज्ञान के आधारभूत ठोस मसला का प्रश्न है व्यवहारवाद का इस दिशा मे कोई विशेष योगदान नही रहा है। राजनीति विज्ञान की

अधिकाश अभिनव सैद्धातिक योजनाए (जसे सामान्य व्यवस्था विश्लेपण, निणय-निर्माण उपागम, सम्प्रेषण, क्रीडा सिद्धात, साइबरनेटिक्स) इत्यादि मुख्यत व्यक्तिगत व्यवहार या सीमित सामूहिक व्यवहार से सम्बधित हैं। वे सस्थाओं व प्रक्रियाओ पर पर्याप्त ध्यान नही दे पाती।

व्यवहारवाद की आलोचना

राजनीति विज्ञान के सदभ म तथाकथित व्यवहारवादी क्राति ने ऐसी अपाच्यव दुरूह शब्दावली प्रचलित की है जो प्रयोग के दौरान प्रयोगकर्त्ता के लिए नए फशन का ग्लैमर तो प्रस्तुत करती है लेकिन उसकी राजनीतिक विश्लेपण क्षमता का तीव्रतर नही करती। राजनीतिक व्यवहारवादी अध्ययन अपनी समस्त वैज्ञानिक तामझाम के बावजूद सामाजिक स्थितिया के प्रति कुछ विशेप निश्चितता परक उपलब्ध नही करा पाते। उदाहरण के लिए सामाजिक परिवतन सम्बधी अध्ययन जब अपने निष्कप मे यह प्रस्तावित करते हैं कि अमुक समाज 'सक्रमणशील स्थिति' का परिचायक है तो यह निष्कप इतना साधारण व स्वत स्पष्ट है कि समझ म नही आ पाता कि इसकी प्राप्ति के लिए व्यवहारवादी पद्धति का प्रयोग क्या कर आवश्यक है। क्या यह 'कॉमन सेन्स' द्वारा अभिनेय नही है? इसी प्रकार मतदान-व्यवहार (Voting Behaviour) स सम्बधित समस्त अध्ययन या तो घटनाओ का 'पोस्टमाटम' ही कर पाते हैं और ऐसा करके वे 'यथाथ की परवर्ती तार्किकता (subsequent rationality of the real) स्थापित करते हैं' या उनकी भविष्यवाणिया प्राय गलत ही सिद्ध होती हैं। उदाहरणाथ भारत के सदभ मे नियोजित मतदान व्यवहार सम्बधी अध्ययन कभी भी मतदान व्यवहार मे उत्पन्न परिणाम की पूव व्याख्या अथवा भविष्यवाणी नही कर सके। 1967 म किसी भी अध्यता की यह भविष्यवाणी नही थी कि कांग्रेस चुनावो म काफी स्तरो पर पराजित होगी और 1971 म किसी भी व्यवहारवादी को यह पूर्वाभास नही था कि श्रीमती गाधी विजयी होगी। इसी प्रकार 1977 म कोई भी अध्यता यह भविष्यवाणी नहीं कर सका कि श्रीमती गाधी चुनावो म पराजित हो सकेंगी और 1980 के दौरान वह यह स्थापित नही कर सका कि उनकी इतनी शानदार पुन वापिसी सम्भव हो सकेगी। इन अध्ययनो की उपयोगिता मात्र यह रही कि इन्होंने चुनावो जीत या हार के कारणों की बाद म सवीक्षा की और इस क्रम म आम मतदाता के बुद्धि व विवक को या तो प्रतिष्ठित किया या उसे नकारात्मक मन स्थिति मे युक्त अस्थिर दिमागी सिद्ध किया। यह विचारणीय है कि 1952 और विशेपत 1962 के बाद से किए गए चुनाव-अध्ययन यदि मतदाता व्यवहार के सामान्य भाव स्थापित नही कर सके और हर चुनाव अपने आपम इस धारणा स मुक्त एक विलक्षण' स्थिति

का परिचायक ही है तो एक विकासशील देश के साधनों का यह कहां तक अपव्यय न्यायसंगत है?

वास्तव में व्यवहारवादी अध्ययन अपनी पद्धति के परिष्कार के चक्कर में इतने निर्णायक रूप से कैद होकर रह जाते हैं कि वे राजनीतिक उपयुक्तता पर कोई सटीक टिप्पणी करने की स्थिति में ही नहीं रहते। अध्ययन की वैज्ञानिकता अध्येता के सिर पर चढ़कर बोलती है और उसकी प्रासंगिकता पीछे छूट जाती है। राजनीति वैज्ञानिक व्यवहारवादी संदर्भ में मात्र कुशल तकनीशियन के रूप में उपस्थित होते हैं उनका वैचारिक प्रौढ़ता व दूरदर्शिता से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह पाता। राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता अपने आपमें एक 'अंतिम मूल्य' के रूप में मुखरित होती है उसका साधनात्मक मूल्य लुप्त हो जाता है। इस प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए लियो स्ट्रास की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है कि "राजनीतिक तत्त्वों की सामान्य भाव परक समझ से विच्छेद अभिनव राजनीति विज्ञान को प्रासंगिकता के उस मापदण्ड को छोड़ने को बाध्य करता है जो राजनीतिक समझ में अन्तर्निहित हैं। अस्तु राजनीतिक तत्त्वों के प्रति अभिनव राजनीति विज्ञान का अभिमुखीकरण अनुपस्थित रहता है, इस स्थिति से बचाव का कोई उपाय नहीं है सिवाय इसके कि वह अप्रासंगिकताओं के अध्ययन की भीड़ में अपने आपको न खोकर, सामान्य भाव की गुप्त शरण ले।"[6]

उत्तर व्यवहारवाद

उत्तर व्यवहारवाद वास्तव में व्यवहारवादी आंदोलन की एक समीक्षा है। 1969 में अमेरिकी राजनीति विज्ञान परिषद को सम्बोधित अपने 'अध्यक्षीय भाषण' में डेविड ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद का विचार प्रतिपादित किया[7] और ऐसा करते हुए व्यवहारवाद के मार्ग से वैचारिक भ्रमों के बादल छीने। उत्तर व्यवहारवाद की दो प्रमुख मांग हैं—प्रासंगिकता व कर्म। डेविड ईस्टन ने अपने प्रासंगिकता के अपने धर्मसार में अन्य तत्त्वों के साथ यह प्रस्तावित किया कि राजनीतिक विज्ञान विषयक अध्ययनों में सार तकनीकों का पूर्ववर्ती होना चाहिए, राजनीति विज्ञान को सामाजिक संरक्षण की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन पर प्रमुख ध्यान देना चाहिए, उसे राजनीति की मूल वास्तविकताओं में पैठकर मानवता की यथार्थवादी आवश्यकताओं का समाधान करना चाहिए तथा मूल्यों को राजनीति वैज्ञानिक अध्ययन में केन्द्रीय स्थान प्रदान करना चाहिए।

राजनीति विज्ञान में उत्तर-व्यवहारवाद का प्रमुख योगदान यह रहा है कि उसने राजनीति विज्ञान व राजनीतिक दर्शन के बीच गहन पाटने का अभियान प्रारम्भ किया है और तथ्यों का मूल्यों में समन्वित किए जाने का आग्रह

मता पर बल दिया है। उत्तर-व्यवहारवाद का सार यह है कि राजनीति वैज्ञानिक वैज्ञानिकता की साधनपरकता के साथ सामाजिक प्रासंगिकता के गतव्य की ओर उन्मुख हो और ऐसा करते हुए मानवता के सवेगो व नियति से जुडे। यदि इस क्रम को व्यवहारवाद का अनुभवपरक विकास एव विस्तार माना जाए तो राजनीति विज्ञान अपना खोया सतुलन पुन प्राप्त कर सकता है और ज्ञान व कर्म को सयुक्त करते हुए सामाजिक प्रासंगिकता की अपूर्व बुलदियो तक पहुच सकता है।

उद्धरण व टिप्पणी

1 व्यवहारवाद के विस्तृत निरूपण के लिए देखें एवरन किकपट्रिक "दि इम्पेक्ट आव् दि बिहेवियरल अप्रोच आन ट्रेडिशनल पॅलिटिकल साइस" आस्टिन रने (स) एसेज ऑन दि बिहेवियरल स्टडी ऑव पॅलिटिक्स,
2 हाइन्ज यूलाओ, दि बिहेवियरल परसुएशन इन पॅलिटिक्स, पृ 21
3 डेविड इस्टन, दि पॅलिटिकल सिस्टम
4 व्यवहारवाद की समग्र आलोचना के लिए देखें लिओ स्ट्रास 'एव एपिलॉग' हबर्ट जे स्टोरिंग (स) एसेज आन दि साइटिफिक स्टडी ऑव पॅलिटिक्स,
5 डेविड इस्टन, 'दि न्यू रिवाल्यूशन इन पॅलिटिकल साइस", दि अमेरिकन पॅलिटिकल साइस रिव्यू खण्ड Lxiii, क्रमाक 4, दिसम्बर 1964

अध्याय 5

राज्य की प्रकृति का प्राचीन भारतीय व पश्चिमी सदर्भ

राज्य की अवधारणा राजनीति विज्ञान मे सदव केन्द्रीय महत्त्व का रही है। राज्य अपने आधुनिक रूप म आने से पूव ही अपने अधूरे व अद्धविकसित दशा मे राजनीतिक विचारो को प्रभावित व विकसित करता रहा है। प्लेटो व अरस्तु के राजनीतिक विचार यूनानी नगर राज्यो व उनसे उत्पन्न अनुभवो पर आधारित थे, भल ही वे आधुनिक राज्य सदृश न हो और अपने विशिष्ट रूप व प्रकृति का प्रतिनिधित्व करत हो (यद्यपि व आधुनिक राज्य के परवर्ती चार तत्वीय मापदण्ड की कसौटी पर अवश्य राज्य हान की योग्यता रखते है)। आधुनिक सदभ मे राज्य की उत्पत्ति क उपरात तो राज्य की अवधारणा राजनीतिक विचारो को सतत् सम्प्रेरित करती रही। यूराप म मेक्यावलि न सवप्रथम राज्य विषयक धारणा का प्रयोग अपने चिंतन मे किया। तदुपरात राजनीतिक विचारो की हर अवस्था राज्य को पर्याप्त महत्त्व देती आ रही है। आदशवादी विचारक राज्य के गौरवमय रूप की वचारिक अभिव्यक्ति करत रहे हैं तो यथार्थवादी राज्य के औपचारिक रूप के परे जाकर वास्तविकताओ से अवगत होन का मतव्य प्रकट करते रह हैं। दोना ही स्थितिया म राज्य अपरिहाय है क्योकि राज्य की थाह पाए बिना दोना ही विचार केन्द्र अपन कथ्य प्रस्तुत नही कर सकत। माक्स द्वारा राज्य के वर्गीय स्वरूप की व्याख्या भी राज्य की महत्ता कम नही करती वह वस्तुत राज्य के प्रति वैचारिक-समीक्षात्मक पैनी दृष्टि की ही अप ा करती है। यह कहना अतिशयोक्तिपूण नही होगा कि राज्य की प्रकृति स सम्बधित धारणाओ न राजनीतिक विचारा की प्रकृति, क्षेत्र एव आयाम निर्धारित किए हैं

और राज्य-प्रकृति ही सरकारी क्रियाओ व उनके वशेषिक प्रभाव निर्धारित करती है। आज के 'उदीयमान 'राज्येतर' (non state) सदभ म भी राज्य किसी न किसी प्रकार अपनी सत्ता व प्रकृति बनाए हुए हैं यद्यपि यह सही है कि समसामयिक वत्तियो न राज्य के पूववर्ती रगो को धूमिल किया है और राज्य-केन्द्रण (state centricity) की अब तक की स्थिर दशा को कुछ आघात प्रदान किया है। ऐसी स्थिति म राजनीति विज्ञान का तब तक कोई भी सारगर्भित अध्ययन नही हो सकता जब तक कि राज्य की प्रकृति निर्धारित व विवेचित न कर ली जाए। इसी उद्देश्य स राज्य की प्रकति के नियामक प्राचीन भारतीय एव यूरोपीय सदभ को निरूपित किया जा रहा है और उसके सदभ म राज्य प्रकति क विविध आयाम निर्धारित किए जा रहे है।

राज्य प्रकृति का प्राचीन भारतीय सदर्भ

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन मे राज्य के विषय म चितन का क्रम अपने सगठित रूप म अथशास्त्र की प्रारम्भिक व्याख्याओ व उसके कौटिल्य द्वारा परवर्ती सकलन व तत्सबधी अभिमतो म वर्णित है। इसके अतिरिक्त मनुसहिता व याज्ञवल्क्य सहिता, तमिल शास्त्रीय साहित्य, कामण्डकीय नीतिसार, सोमदेव का नीतिवाक्यामतम, शुक्रनीतिसार, आदि ग्रथ भी राज्य विषयक धारणाए समाहित किए हुए है। इन सबके प्रकाश म राज्य सरचना सिद्धात, राज्य-सरकार सम्बध, राज्य-समाज सम्बध व राज्य की कानूनी धार्मिक मान्यताओ के सम्बध मे सामान्य परिकल्पनाए प्रस्तावित की जा सकती हैं।

राज्य सरचना सिद्धात

प्रारम्भिक अथशास्त्री विचारको द्वारा राज्य के सात सघटक तत्व प्रतिपादित किए गए, ये थे—(1) स्वामी, (2) अमात्य (3) जनपद, (4) दुग, (5) कोष, (6) बल व (7) मित्र। घोपाल ने इन तत्त्वो का निम्नलिखित अनुवाद प्रस्तावित किया है—(1) सम्प्रभु शासक, (2) सरकारी (वग), (3) ग्रामीण क्षेत्र (4) किलेबदी युक्त (अथवा शहरी) क्षेत्र, (5) (स्थायी) राजस्व, (6) (क्रियाशील) सेना तथा (7) (स्थायी) विदेशी सहयोगी।[1] घोपाल का यह मत है कि अथशास्त्र राज्य को मानवीय उपकरणो से सचालित एक मानवीय सस्था है। इसके पक्ष मे वह पुरोहित की राज्य सरचनात्मक सूची म अनुपस्थिति का साक्ष्य प्रस्तुत करत हैं और राज्य की क्रियाओ मे व्यवहारशील प्रशासनतत्र, सना व अतर्राज्य सम्बधो म सहयोगी की भूमिका का उल्लेख करत हैं।[2] उनकी दृष्टि म अथशास्त्रीय व्याख्या 'राजतत्रात्मक राज्य' की अवधारणा निर्मित करने मे सफल होती है यद्यपि पारिभाषिक व्यापकता की दृष्टि से वह

गणतन्त्रात्मक राज्य पर भी प्रयुक्त होने में सक्षम है। कौटिल्य ने अपनी राज्य विषयक धारणाएं निर्मित करने के दौरान इन संघटक इकाइयों को सार रूप प्रदान किया और 'राजा' व 'राज्य' के संदर्भ में परिभाषित किया। इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि काणे समेत कुछ व्याख्याकार 'राजा ही राज्य है' का सूत्र प्रदान करते हैं। घोषाल के मत में कौटिल्य की सूची व वर्णन की यह एक भ्रमपूर्ण व्याख्या है।[3] कौटिल्य ने अपनी राज्य संरचना में राजा की निर्णायक भूमिका पर बल दिया है और राजा को समस्त राज्य तत्त्वों के नियामक के संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए उसके व अन्य संरचनात्मक तत्त्वों के बीच एकीकरण (integration) व विभेदीकरण (Differentiation) का दोहरा कार्यकारी सिद्धान्त प्रस्तावित किया है। परवर्ती याज्ञवल्क्य व मनु स्मृतियों में इन संरचनात्मक घटकों में परिवर्तन किया गया। याज्ञवल्क्य ने पुर (राजधानी) व राष्ट्र (राज्य) को प्रस्तावित करते हुए उन्हें जनपद व दुर्ग का स्थानापन्न बनाया जबकि मनु ने जनपद के स्थान पर अधिक मूर्त जन (जनता) को प्रतिस्थापित किया। शास्त्रीय तमिल साहित्य में अर्थशास्त्र के मौलिक वर्गीकरण को उचित ठहराते हुए राजा की निर्णायक भूमिका पर बल दिया गया। नीतिसार में 'राजा' व 'राष्ट्र' को राज्य की आन्तरिक व बाह्य संरचनाओं के रूप में परिभाषित किया गया और राजा से यह अपेक्षा की गई कि वह राष्ट्र का सर्वांगीण विकास सुलभ कराएगा।

राज्य व सरकार

राज्य व सरकार के सम्बन्धों को प्राचीन भारतीय संदर्भ में साध्य-साधन रूप में निरूपित किया गया था। सरकार का उद्देश्य राज्य को सुदृढ़ करना व इस दृष्टि से उपयुक्त सरकारी नीतियां निर्धारित करना था। मनु ने सद्गुण, सम्पन्नता व सुख के तीनों गुणों के समन्वित क्रम को सरकारी क्रियाकलापों का मापदण्ड माना। महाभारत में भीष्म ने अपने उपदेश में राज्य द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा एवं संरक्षण को एक महत्त्वपूर्ण सरकारी सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। राजा के सम्बन्ध में भी अनेक नीतिपरक प्रस्तावनाएं निर्मित की गई और राज-सुलभ गुणों को उनके संदर्भ में चरितार्थ किया गया। सैद्धान्तिक निरूपण के इस प्रयासों के बावजूद प्राचीन भारत में सरकार के व्यावहारिक संगठन व क्रियाविति पर विशेष ध्यान दिया गया। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का सरकारी मॉडल जिसने राजा, सरकारी वर्ग व प्रशासनिक उपबंध एक दूसरे के पूरक रूप में जुड़े हुए थे परवर्ती सरकारी व्याख्याओं को सदैव प्रभावित करता रहा। सरकार के इस व्यावहारिक संगठन में राजस्व व सेना की विशेष भूमिका परिकल्पित की गई व अन्तर्राज्य सम्बन्धों की दृष्टि से विदेशी सहयोगी व गठबंधनों की उपादेयता

पर्याप्तत प्रकाशित की गई। इन समस्त सरकारी व्यवस्थाओ मे राजा का स्थान सर्वोपरि रहा और राजा राज्य सकल्पनाओ व उनके प्रशासनिक क्रियान्वयन की एकमात्र सम्पर्क-कडी के रूप म उपस्थित हुआ।

राज्य व समाज

राज्य व समाज विषयक प्राचीन भारतीय सदभ इस तथ्य से जाना जा सकता है कि समाज राज्य का पूवगामी है। सामाजिक उत्पत्ति के सम्बध म अनेक मत प्रचलित हैं। वदिक अभिमत के अनुसार समाज की दवी उत्पत्ति हुई और प्रजापति ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य व शूद्र वग पैदा किए। इसी प्रकार जैन साहित्य स यह प्रकट होता है कि ऋषभ व उसके पुत्र भरत ने सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया। सामाजिक व्यवस्था के सचालित होने के क्रम मे एक कानून के अ तगत शासित होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। तदुपरात ब्रह्मा ने मनु को प्रथम शासक के रूप मे पृथ्वी पर भेजा। ये दष्टात यह सामा य धारणा प्रतिपादित करते हैं कि समाज राज्य का पूववर्ती था। राज्य समाज को सगठित व सचालित करता था और इस क्रम म समाज मे सदगुण, सम्पन्नता व सुख के त्रिगुणो की आधारशिला रखी गई थी। राज्य अपने सचालन मे धम का प्रवतन करता था और उसके अतिक्रमण की स्थिति म दण्ड नीति प्रवर्तित करता था जबकि समाज इन व्यवस्थाओ से बधकर सामाजिक विकास की स्थितिया सुलभ कराता था।

राज्य कानून व धर्म के प्रवर्तक के रूप मे

राज्य कानून, न्याय व कत्तव्य भाव के जनक के रूप म प्रकट होता है। राजा राज्य के सचालक के रूप मे धम की व्याख्या भी करता था और धम सम्मत शासन भी उपलब्ध कराता था। राज्य के पास वैकल्पिक रूप से दण्ड-विधान भी समाहित था क्योंकि, धम प्रवतन का दायित्व भी उसी का था।[4] राजाज्ञा क रूप मे कानून प्रवतन भी राजा का काय था और उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रवर्तित कानून का अपन राज्य मे सवत्र प्रसार व प्रचार करेगा। कानून सर्वोच्च सत्य था और सर्वोच्च सत्य कानून। इस दृष्टि से दोनो एक स्तर पर एकाकार हो जाते थे। शुक्रनीतिसार मे यह मत व्यक्त किया गया कि कानून के राज्य द्वारा प्रवतन व राजा द्वारा उसे प्रवर्तित करने के कारण राजा वस्तुत 'युग निमाता' का काय सम्पादित करता है और कही युग कारण प्रतिपादित करता था, इस कारण जनता राजा की सतुष्टि के अनुरूप क्रियाए करती थी। एसा इसलिए क्योकि जनता की धम व कानून म आस्था थी और उसकी व्याख्याकारी व प्रवतनकारी भूमिका के निवहन म उसके लिए नैतिक रूप से यह आव-

श्यक था कि वह राजाज्ञा का पालन करे। धर्म के न्यायकारी संदर्भ की व्याख्या करते हुए मनु ने यह मत प्रतिपादित किया कि यदि न्याय का उल्लंघन होता है तो राज्य का संहार हो जाता है, यदि यह अनुरक्षित होता है तो राज्य अनुरक्षित होता है। इस कारण राज्य को आत्मा अनुसरण की दृष्टि से न्याय भाव संरक्षित करना चाहिए। धर्म का एक और पक्ष निरूपित किया गया स्वधर्म। स्वधर्म यद्यपि आत्म स्फूर्त भाव है लेकिन उसे व्यवस्था बनाने की दृष्टि से उसके पीछे भी राज्य शक्ति का प्रावधान किया गया। मनु ने यह प्रस्तावित किया कि न पिता, न गुरू न मित्र, न मां, न पत्नी और न घरेलू पुरोहित को बिना सजा के छोड़ना चाहिए यदि वे अपने धर्मों का अनुपालन न करें। शुक्राचार्य ने भी यह मत व्यक्त किया कि जनता को उनके यथास्थान में रखना चाहिए और इसके लिए राज्य सम्प्रभुता का भयावह प्रयोग करना चाहिए।

कानून व धर्म सम्बंधी ये राज्य व्यवस्थाएं यह आम अनुभव प्रस्तावित करती हैं कि राज्य धर्म की विविध विधाओं के व्यवस्थापन, अधिनियम व प्रवर्तन द्वारा व्यक्ति के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाता है। इस दृष्टि से राज्य भौतिक सुविधाएं प्रदान करने वाली एक एजेन्सी (ममत्व संस्था) ही नहीं बल्कि, धर्म प्रोत्साहक एवं सार्वजनिक परिषद् (समूह) भी है।

राज्य प्रकृति का पश्चिमी संदर्भ

राज्य की प्रकृति पश्चिमी संदर्भ की दृष्टि से अपने विशिष्ट प्रतिमान प्रस्तुत करती है। इन प्रतिमानों का ऊपर वर्णित क्रम में वर्णन वैचारिक समझ व तथ्यात्मक अनुशीलन के लिए अपरिहार्य है।

राज्य संरचना सिद्धांत

पश्चिमी राज्य की संरचना प्रमुखतः चार तत्वों से मिलकर मानी जाती है। ये चार तत्व हैं—जनसंख्या, क्षेत्रफल, सरकार व सम्प्रभुता। इसके अतिरिक्त एक अन्य तत्व भी इस सम्बंध में अक्सर उल्लिखित किया जाता है और वह तत्व है अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का।

जनसंख्या इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योंकि राज्य एक मानवीय संस्था है और मानवीय संस्था निश्चित जनसंख्या के अभाव में निरूपित नहीं हो सकती लेकिन किसी राज्य में जनसंख्या का क्या आदर्श अनुपात हो इस सम्बंध में राजनीतिक विचारक असमान मत रहे हैं। रूसो ने 10000 की जनसंख्या को आदर्श स्वीकार किया है जबकि अरस्तू ने इस सम्बंध में यह नीतिपरक प्रस्तावना की है कि जनसंख्या इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि यह आत्मावलम्बी हो और इतनी सीमित कि वह सुशासित हो सके।

आधुनिक संदर्भ में जनसंख्या का निश्चित क्रम निर्धारित करना अत्यधिक दुष्कर कार्य है। रक्षा की दृष्टि से जर्मनी समेत अनेक राज्यों ने जनसंख्या वृद्धि का सघन कार्यक्रम समायोजित किया और इसके अन्तर्गत अधिक संतानों के युगल-दम्पत्ति को राज्य पुरस्कार आदि दिए जबकि बिना संतान के युगल दम्पत्ति पर करारोपण किया। एक समय रूस ने भी जनसंख्या वृद्धि के कार्यक्रम को नियोजित किया। विकासशील देशों के संदर्भ में जनसंख्या नियोजन का प्रश्न आर्थिक साधनों की उपयुक्तता से जुड़ा हुआ है और उसका विकास स्तर की विषमता/सुगमता से सीधा सम्बन्ध है। विकास की रणनीति भी जनसंख्या की मात्रा का औचित्य निर्धारित करती है। चीन ऐसे श्रम आधारित आर्थिक नियोजनवादी देश में जनसंख्या वृद्धि विस्फोटक स्थिति नहीं उपलब्ध कराती, जबकि भारत ऐसे पूंजी आधारित नियोजनवादी देश में यह बेकारी, कुपोषण व विषमता के सामाजिक संकट को परिलक्षित करती हैं। अतः जनसंख्या की मात्रा का सम्बन्ध किसी राज्य की देश व काल की स्थितियों से जुड़ा हुआ है।[7] क्षेत्रफल राज्य की निश्चित सीमाओं को निर्धारित करने व उसमें निश्चित जनसंख्या के बस कर रहने के लिए आवश्यक है। निश्चित क्षेत्रफल का यथार्थ अन्तर्राष्ट्रीय कानून की राज्य विषयक मान्यता के संदर्भ में भी नितान्त आवश्यक है। भूमि, जल व नभ-तीनों संयुक्त रूप से किसी राज्य की सीमा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार निर्धारित सीमा राज्य की वैचारिक अवधारणा का भौतिक चित्रण सुलभ कराती है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से दो प्रश्न विचारणीय हैं—(1) क्या छोटा राज्य अथवा बड़ा राज्य दुनिया में अपना शक्ति-दर्जा अनुक्षित कर सकता है? और (2) क्या राजनीतिक विचारधारा का प्रवर्तन राज्य के छोटेपन अथवा बड़ेपन पर निर्भर करता है? इन दोनों ही प्रश्नों का कोई सर्वमान्य उत्तर नहीं प्रदान किया जा सकता। इजरायल जैसा छोटा राज्य भी अपने शक्ति-दर्जे से दुनिया को प्रभावित कर सकता है जबकि भारत ऐसा बड़ा राज्य भी इस तथ्य के आधार पर अपना दर्जा नहीं बनाए रख सकता और 1962 की चीन से लड़ाई में वह पराजय का सामना कर सकता है। इसी प्रकार, लोकतन्त्र का प्रकट व्यवहार व लोकतांत्रिक व्यवस्था भारत के बड़े आकार के बावजूद अक्षुण्ण रह सकती है और पटरी से उतरने के बावजूद लोकतन्त्र फिर से अपने रास्ते पर आ सकता है जबकि पाकिस्तान ऐसे अपेक्षाकृत छोटे राज्य में लोकतन्त्र का प्रयोग बारम्बार विफल हो सकता है। वास्तव में ये प्रश्न क्षेत्रफल के छोटेपन अथवा बड़ेपन पर उतने नहीं आधारित है जितना कि उनकी मानवीय प्रतिभा से युक्त व्यवस्थात्मक नियोजन व नेतृत्व क्षमता से सम्बन्ध है।

सरकार राज्य का एक संगठनात्मक ढांचा है—एक ऐसा ढांचा जो राज्य

के वास्तविक सचालन को प्रकटस प्रदर्शित करता है। इसके द्वारा सावजनिक नीतियो का निर्धारण व क्रियान्वयन हाता है।

सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च निणय निर्माण क्षमता की परिचायक होती है। यह शक्ति किसी एक व्यक्ति, एक वग अथवा कुछ चयनित सामाजिक पक्षो म निहित होती है। अपने आन्तरिक सदभ म सम्प्रभुता अपनी सीमा मे बसी जनसख्या पर निद्वन्द्व सत्ता की परिचायक होती है जबकि अपने बाह्य सदभ में यह विदेशी आधिपत्य एव हस्तक्षेप के प्रकारो के प्रतिरोध की सफलता से मापी जाती है। बाह्य व आतरिक दोना सदर्भों म सम्प्रभुता पूण नही हो सकती। लोकतान्त्रिक परिवेश के निर्माण के उपरात तो सम्प्रभुता पर अनेक दबावकारी शक्तिया विद्यमान है।

अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता' के प्रश्न ने 'राज्य अस्तित्व' के एक अभिन्न अग का स्थान तो लिया है। कोई राज्य पूण दर्जा तभी पाता है जब उसे सम्प्रभु राज्या के समुदाय से मान्यता मिल जाती है। इस दृष्टि से सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता व उसकी स्वीकृति उसके राज्य-रूप पर निणायक प्रभाव डालती है। इन सरचनात्मक तत्त्वा के विवरण मे प्रकाश म राज्य की परिभाषा देना सरलतर प्रतीत होता है। मेकाइवर के अनुसार राज्य एक वह परिषद है जो कानून की बाध्यकारी शक्ति से लस सरकार द्वारा कानून के माध्यम अन्तगत से क्रियाशील होते हुए क्षेत्रीय स्तर पर निर्धारित समुदाय के अन्तगत सावदेशिक सामाजिक व्यवस्था की बाह्य स्थितियो को अनुरक्षित करती है। रे व भट्टाचाय के मत म मेकाइवर की यह परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता के तत्व से सयुक्त होकर राज्य का एक स्पष्ट परिदृश्य सुलभ कराती है।[6]

राज्य व सरकार

राज्य व सरकार के सम्बधो की चर्चा स पूव उन दोनो के विषय म व्याप्त भ्रम का निकारण आवश्यक है यह भ्रम लुई चौदहवे ऐसे शासको की उद्घोषणाओ स उत्पन्न होना है "मैं ही राज्य हू"। राजनीतिक विचारयोजनाओ मे भी यह भ्रम प्रकट होता है जब हॉब्स जैसा विचारक राज्य व सरकार को पर्याय के रूप म ग्रहण करता है। इस भ्रम को एक स्तर पर बल इस कारण भी मिलता है कि राज्य वस्तुत अमूत व अप्रकट हाता है जबकि सरकार मूत व प्रकट। व्यावहारिक प्रशासन की दृष्टि से लास्की ने यह मत प्रतिपादित किया कि राज्य और कुछ नही बल्कि सरकार ही है क्योकि राज्य के नाम पर सरकार ही सत्ता सचालन करती है और समस्त शक्तियों का उपभाग करती है। यहा यह ध्यान म रखना आवश्यक है कि सरकार वास्तव म राज्य का एक अग है और इस दृष्टि से उसकी शक्ति राज्य से

व्युत्पन्न हैं वे मूलत मौलिक नहीं हैं। सरकार राज्य के एक एजेन्ट के रूप म सत्ता का ऐसा पट्टा रखती है जो कभी भी मौलिक स्वामी (राज्य) द्वारा निष्प्रभावी किया जा सकता है। सरलीकृत रूप से यह कहा जा सकता है कि सरकार एक वैभवशाली प्रतिष्ठान की मेनेजर है जिसका मालिक राज्य है। मालिक काउटर पर अथवा प्रतिष्ठान म बैठा नही दीखता लेकिन उसक नाम पर सारा कारोबार चलता है। वह न रह कर भी है क्योंकि यह इच्छानुसार जब चाह कारोबार के बही-खात चेक कर सकता है और मेनजर को बर्खास्त कर सकता है। चापलूस मेनजर बही खात अपने हिसाब स ढाल कर थाडे समय क लिए मालिक की आखो मे धूल अवश्य झोक सकता है लेकिन मालिक की व्यावसायिकता मौका पाते ही उसे रग हाथो पकड सकती है। सारे छल-नियोजन व हथकण्डा के बावजूद नौकर मालिक नही हो सकता—मनेजर मनजर ही है और मालिक मालिक ही है। राज्य व सरकार के सम्बधा व स्थितिया का निरूपण करते हुए मकाइवर ने सही ही कहा है कि जब हम राज्य की चर्चा करते ह तो हमारा प्रयोजन एक एक ऐसे सगठन से हाता है जिसका केवल प्रशासनिक अ ग सरकार होती है राज्य का सविधान हाता है कानून सहिता होती है, सरकार के सगठन की प्रक्रिया होती है और नागरिको का एक समूह होना है। जब हम इस समूची सरचना की चर्चा करते है तो वस्तुत हम राज्य का ही विचार करते है।

सूत्र रूप मे यह कहना सवथा प्रासगिक होगा कि—

(1) सरकार राज्य की इच्छा व शक्ति की प्रतिनिधि है,

(2) राज्य अमूर्त है जबकि सरकार मूत व निश्चित। सरकार उन निश्चित व्यक्तिया के काय-सम्पादन से परिलाथ होती है जा राज्य की इच्छा का अभिव्यक्ति व क्रियान्विति प्रदान करते हैं,

(3) राज्य न्यूनाधिक रूप स्थायी है जबकि सरकारें परिवतन शील हैं,

(4) सरकारो के विविध प्रतिमान सभव है जो हर राज्य म अलग अलग हो सकते है लेकिन राज्य स्वय सवत्र अपने समान तत्त्वा (अथवा 4 अथवा 5 सघटक तत्त्वो) के साथ ही उपस्थित होता है, तथा

(5) एक एजेंट के रूप म सरकार की शक्ति राज्य से व्युत्पन्न व कानून-सविधान से परिसीमित है जबकि एक स्वामी के रूप म राज्य की शक्ति मौलिक व असीमित है। राज्य सम्प्रभु है। सरकार म वह सम्प्रभुता मात्र प्रतिबिम्बित होती है।

राज्य व समाज

राज्य व समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट समझ के प्रति पश्चिमी राजनीतिक विचार पर्याप्तत सचेत रहा है। सामाजिक व राजनीतिक स्थितियों को उनके यथाक्रम मे ग्रहण करने का एक कारण यह है कि सामाजिक स्वायत्तता के अभाव मे राज्य का दमनकारी चक्र उसे कुचल देगा और राज्यपरक हस्तक्षेप स्वस्थ समाज के विकास म अवरोध उत्पन्न करेगी। इसका नागरिक स्वतन्त्रता व प्रनियात्मक विशुद्धता पर घातक प्रभाव पडेगा। वसे भी सामाजिक परिवेश राजनीतिक परिवेश से बडा है और उसका जनक है। अपने उद्गम को कुचलकर राजनीति स्वच्छद हो जाएगी और सामाजिक मर्यादाओ के अभाव म सिर कटे कबन्ध की भाति व्यापक नरसहार करती फिरेगी। ऐसी स्थिति मे दोनो का स्वतन्त्र परन्तु सहयोगी परिवेश निर्मित करना दोनो की सदगति के लिए आवश्यक है।

पश्चिमी वैचारिक सदभ मे यह स्पष्टत प्रतिपादित है कि समाज परिषदा के लिए नियोजित वृत्तिजन्य इच्छाओं का प्रतिफल है जिसके आलोक मे समान हित समुच्चारित होते हैं और उनके परिपालन के लिए ऐसी सस्थाओ व परिषदो का गठन होता है। जिसे समाजशास्त्री 'नियात्मक' सस्थाओ व परिषदो की सज्ञा देते है। यह कहा गया है कि सामाजिक सम्बन्ध जीवन का सूत है और सामाजिक सस्थाए एव परिषदें व करघा (loom) है जिन पर यह सूत बुना जाता और कपडे व परिधानो के रूप म प्रकट होता है। इन अनेक सामाजिक परिषदो म से राज्य एक ऐसी क्रियात्मक परिषद है जो समाज क राजनीतिक उद्देश्यो का ताना-बाना बुनती है। इसके बावजूद वह स्वय समाज नही है और न ही वह ऐसा हो ही सकती है। राज्य इच्छा व विवेक का प्रतिफल है जबकि समाज प्राकृतिक व एव वृत्तिजन्य इच्छा का प्रतिरूप है। इस दृष्टि से समाज राज्य पूववर्ती है। उद्देश्य की दृष्टि से भी राज्य का मात्र राजनीतिक उद्देश्य है और इस क्रम मे वह प्रतिनिधित्व आधार पर समाज के अन्य उद्देश्यो को नियमित व समन्वित करता है लेकिन वह स्वय इन सबका स्थान नही ले सकता। समाज बहुलक्ष्य साधक है और इस दृष्टि से स्वैच्छिक आधार पर अनेक सहयोगी नियात्मक परिषदा का सृजन करता है। यहा यह भी उल्लेख करना प्रासगिक होगा कि राज्य सम्प्रभुता के आधार पर बाध्यकारी शक्ति सयोजित करने की स्थिति म है जबकि समाज स्वैच्छिक सगठना के रूप म प्राकृतिक व वृत्तिजन्य सहयोग की मात्र अपील कर सकता है। सर अर्नेस्ट बाकर ने इन सदर्भो को तुलनीय आधार पर विश्लेषित करते हुए यह स्पष्ट किया है कि समाज का क्षेत्र स्वैच्छिक सहयोग है, सदभावना उसकी ऊर्जा शक्ति है और लोचशीलता

उसकी पद्धति-जबकि राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक क्रिया (युक्त) है बल उसकी ऊर्जा है और कठोरता उसकी पद्धति है।[7]

इन समस्त प्रासगिक अतरा के बावजूद राज्य व सरकार महत्वपूण रूप से सामाजिक स्थितियो व क्रमो को प्रभावित करते है। सामाजिक जीवन की समस्त स्थितिया व शर्तें-जन्म, शिक्षा व्यवसाय, विवाह, सम्पत्ति, परिवार, सतति इत्यादि व्यावहारिक सदभ म राज्य द्वारा निर्धारित की जाती हैं और उनकी प्रासगिक व्याख्याए उसके द्वारा प्रस्तुत होती हैं। सरकार व्यक्तियो का उनके अनुपालन के लिए बाध्य कर सकती है। इस अथ मे राज्य सामाजिक सगठन क सर्वोच्च रूप का प्रतिनिधित्व करता है और ऐसा करते हुए अधिकाश सामाजिक सम्बन्धो को नियमित व सुदढ करता है।

उक्त वर्णित राज्य-समाज अतरो के कुछ महत्वपूण व्यतिक्रम विशेषत गैर पश्चिमी सदभ मे परिलक्षित होते हैं। *उदाहरण के लिए भारत म कई सामाजिक* सस्थाए स्वच्छिक सहयोग का प्रतिमान व उपलब्ध न कराकर बाध्यकारी अनुपालन का प्रतिष्ठान सुलभ कराती है। उदाहरण के लिए जाति व्यवस्था स्वय म एक एसी सामाजिक उप व्यवस्था है जिसमे जाति-नेतत्व व अनुशासन राजनीति सदृश्य है और उसके निर्देश राजनीतिक निणयो की भाति कुछ बाध्यकारी उच्चतर बाध्यकारी व्यवस्था के रूप म राजनीति उसे तोडती नही बल्कि दोना जुडकर एकाकार हो जाती है और जाति राजनीति की धारा स जुडकर अपन स्वरूप का 'राजनीतिकरण' कर लेती है जबकि राजनीति जाति सस्था क सामाजिक आधार को ग्रहण करके अपन आप को सुदढता प्रदान करती है। इसी प्रकार अन्तरजातीय सहयोग व वत्तिजन्य सद्भाव का सैद्धातिक पक्ष भारत मे व्यावहारिक रूप से उच्च जातिया व निम्न जातियो म विद्वेष का अधिक सचार करता है और राजनीति इस सब प्रकरण म असहाय सी रह जाती है। यहा हरिजना पर होने वाले अत्याचार हत्याए व बलात्कार के रूप म आए दिन होत हैं और राजनीतिक गठजोड की योग्यता से लस उच्च जातीय वग छुट्टे घूमकर प्रतिशोध की ज्वाला और अधिक भडकात रहत हैं और राजनीति सिफ 'घडियाली आसू' ही वहा पाती है। ये सब उदाहरण यह सिद्ध करत हैं कि राजनीति अपने व्यावहारिक क्रम म निर्णायक रूप से सम्प्रभु नही है और वह वास्तविक प्रक्रियात्मक सदभ म विकृत राजनीतिक गठजोड से बध कर अपना व्यवहार क्रम निर्धारित करती है और समाज स्वच्छिक सहयाग पर आश्रित न होकर अपन सदभ मे सामाजिक रूप मे अधिनायकवादी सरचनाओ का अस्तित्व दता है, उनसे बधता है और उनके साथ हाथ म हाथ डालकर घूमता है।

राज्य की कानूनी मान्यताएं

पश्चिमी राज्य की कानूनी मान्यताएं सार रूप में राज्य के कानून प्रवर्तनकारी कार्य की ओर इंगित करती हैं। सम्प्रभुता के संदर्भ में आस्टिनवादी धारणा कानून को प्रभावी रूप से राजा की आज्ञा के रूप में निरूपित करती है। इसी क्रम में सालमाड का यह कथन है कि कानून न्याय के प्रवर्तन की दृष्टि से राज्य द्वारा स्वीकृत व प्रयुक्त सिद्धांतों की संहिता है। ग्रीन ने भी कानून को राज्य के संदर्भ में प्रभावी अधिकारों व दायित्वों की व्यवस्था माना है। हालण्ड की इस सम्बन्ध में यह मान्यता है कि कानून व्यक्ति की बाह्य क्रियाओं को मान्यता देने वाला आचरण का वह सामान्य नियम है जिसे एक निश्चित सत्ता द्वारा प्रवर्तित किया जाता है, एक ऐसी सत्ता जो मानवीय है और मानवीय सत्ताधारियों के मध्य एक ऐसी सत्ता है जो एक राजनीतिक समाज में स्थायी है।

राज्य की कानून विषयक ये मान्यताएं उपयुक्त भी हैं क्योंकि शासन का निहितार्थ नियन्त्रण है और नियन्त्रण आचरण के ऐसे सिद्धान्तों की अपेक्षा करता है जो नियमबद्ध हों और दण्ड विधान द्वारा प्रवर्तन योग्य हों। राज्य के सदस्यों के आचरण को नियमित करने वाले तथा राज्य द्वारा प्रवर्तनीय कानून वस्तुतः राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं और राज्य की सम्प्रभुता प्रकट रूप में इन कानूनों की राज्य द्वारा सफल संकल्पना व क्रियान्विति पर निर्भर करती है।

राज्य द्वारा प्रवर्तित इन कानूनों के दो उद्गम देखे-परखे जा सकते हैं—

(1) सत्ताधारी द्वारा प्रवर्तित कानून का व्यक्तिपरक स्रोत तथा (2) न्याय के उच्चतर सिद्धान्तों को समाहित करने वाला कानून का अवयवितकस्रोत। पहला स्रोत वस्तुतः राज्य-सत्ता से प्रकट होता है जबकि दूसरा स्रोत पहले को उसका मूल्य परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। सर अर्नेस्ट बार्कर की यह मान्यता है कि आदर्श रूप में कानून की वैधता व उसका मूल्य दोनों ही होने चाहिए। हम यह भी कह सकते हैं कि कानून केवल एक सम्पूर्ण व उसकी सामान्य प्रकृति के रूप में ही इन दोनों लक्षणों से युक्त होता है कि वह वास्तव में क्रियाशील व वास्तविक रूप से प्रभावी होता है।

राज्य प्रकृति का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

प्राचीन भारतीय व पश्चिमी संदर्भ में राज्य की प्रकृति विषयक धारणाएं तुलना के संदर्भ में स्पष्टतः जटिलताएं उपस्थित करती हैं। प्राचीन भारतीय व लगभग आधुनिक संदर्भ में उक्त राज्य प्रकृति का पश्चिमी संदर्भ समय की दृष्टि से इतने भिन्न हैं कि वे तुलनीयता का गुण समायोजित नहीं करते। विचारों व

प्रवृत्तिया की एक आर प्राचीन व दूसरी आर आधुनिक स्थिति के बीच तुलना असगत सी ही है लेकिन वचारिक तत्वो की विशिष्ट भारतीय स्थिति इस प्रकार की तुलना के लिए अवश्य प्रेरित करती है। ऐसा इसलिए क्योकि कालक्रम म काफी पीछे होते हुए भी भारतीय स्थिति विचारा की जिस समग्रता का आभास देती है वह विस्मयकारी है। कई प्रसगा म राज्य विषयक भारतीय धारणा पश्चिम की आधुनिक प्रस्तावनाओ से वचारिक मुकाबिला करती है और कही-कही ता ऐसा प्रतीत होता है कि वह पश्चिम की अपक्षा अधिक व्यापक है।

राज्य सरचना की दष्टि से भारतीय सदभ राज्य के जिस सरचनात्मक ढाचे की परिकल्पना करता है वह पश्चिम के सघटक तत्वा की अपक्षा कही अधिक व्यापक है। राज्य तत्वो की सात स्तरीय सूची व उनम एकीकरण व विभेदीकरण की तारतम्यता वास्तव म भारतीय याजना की अधिक व्यापकता की द्योतक है। राज्य क्रम मे सेना, प्रशासनतत्र व राजनय का स्थान वास्तव म अत्याधुनिक पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्था के विचार के करीब हैं और इस दष्टि से राज्य व्यवस्था से श्रेष्ठतर।

सरकारी सदभ म भारतीय तत्व शासन की प्रक्रियात्मकता का अधिक बाध कराता है और एसा करते हुए प्रशासन की व्यावहारिकता को अधिक बाध गम्यता प्रदान करता है। शासन मे आतरिक व बाह्य तत्वों ('राजा' व 'राज्य' के सदभ म) का समायाजन वस्तुत व्यवस्था की अवर सरचना (infra-structure) व अधि सरचना (super structure) के बीच सम्बधो का परिचायक है।

इसी प्रकार, कानून का धम से सम्मिलन व उनके योग से उत्पन्न नैतिक सजा निकली वैकल्पिक दण्ड नीति कानून व दण्ड विधान के नीति परक सम्बधो की स्पष्टतर व्याख्या प्रस्तुत करती है। जनता द्वारा राजाज्ञाओ का अपन धम-पालन की दृष्टि से अनुसरण राजसत्ता के औचित्य (legitimacy) की आर सकेत करता है। कानून के योग से शासितो पर नियत्रण का पश्चिमी भाव यहा मुखरित नही है।

इसी प्रकार राज्य को ममत्व (सम्पत्ति) व कानून प्रोत्साहक ममूह के रूप में देखने का क्रम भारतीय राज्य व्यवस्था की अधिक व्यापकता का पक्षधर है।

पश्चिमी व भारतीय राज्य प्रकति द्वारा कानून के सत्तापरक प्रवतन राज्य सरकार व राज्य-समाज की सामान्य धारणाओ म साम्य आदि प्रवृत्तिया ऐसी हैं जा दोनो प्रतिमानो को एक दूसरे से सयुक्त करती है।

अध्याय 6

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त और उसका ऐतिहासिक विकास

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह प्रश्न कल्पना से अधिक जुड़ा हुआ है, उसके सम्बध म कुछ भी निश्चयात्मक कह पाना सभव नही है। राज्य की उत्पत्ति राजनीतिक चेतना से हुई यह तो सही है लेकिन राजनीतिक चेतना के किस विशिष्ट प्रकार अथवा तत्व ने समय की एक निश्चित अवस्था म राज्य को जन्म दिया इस सम्बध मे इतिहास अधिक कुछ नही बताता। यद्यपि ऐतिहासिक सदभ से उत्पत्ति के सिद्धान्तो का आभास अवश्य होता है जो राज्य की उत्पत्ति की अपनी अपनी काल्पनिक व्याख्याए प्रस्तुत करते है। इस अध्याय का प्रारम्भ उत्पत्ति के विविध सिद्धान्तो की चर्चा से किया जा रहा है। उसके उपरात उसके एतिहासिक विकास क्रम पर दृष्टिपात करत हुए राज्य-व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्यो की सतही तौर पर तुलनात्मक व्याख्या की जाएगी।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तो मे दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, पितसत्तात्मक मातसत्तात्मक सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त और ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त प्रमुख हैं।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की प्रमुख मान्यता यह है कि राज्य ईश्वर की इच्छा का प्रतिफल है। सामाजिक विकास की अपूर्णताओ को दूर करने के लिए व्यक्तियो ने ईश्वर से यह याचना की कि वह उन्हें 'व्यवस्था' प्रदान करे, सामाजिक

सम्बधो का नियमित कर व इस नियमन के व्यवस्थाकारी कानून व आचरण संहिता उन्हे दे। इस याचना को स्वीकार करते हुए ईश्वर ने राज्य की सृष्टि की व अपने प्रतिनिधि के रूप म 'राजा' को पृथ्वी पर भेजा ताकि, वह उसके एजेन्ट के रूप मे राज्य कर। इसका निहिताथ यह है कि राज्य और राजा दोनो मानवीय चुनौतियो स पर है क्योकि व अपने प्रकट रूप मे सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर से) उत्पन्न हैं और यह उत्पत्ति स्वय व्यक्तियो की याचना का परिणाम है। अत ऐसी स्थिति म व्यक्तियो द्वारा राज्य व राजा की अवहेलना स्वय ईश्वर व उसकी सृष्टि की अवहेलना होगी। व्यक्तियो को अनिवायत राज्य व राजा का आज्ञा पालन करके ईश्वर के प्रति अपनी आस्था व विश्वास प्रकट करना होगा अन्यथा व ईश्वर के कोप का शिकार होगे और फिर से अव्यवस्था व अनिश्चितता के वातावरण म लौट जाएगे।

दैवी सिद्धान्त के य मूल भाव भारतीय व पश्चिमी दोनो परिप्रेक्ष्यो म प्रचुर मात्रा म उपलब्ध है। भारतीय विचारो म दवी उत्पत्ति का भाव अन्य स्रोतो के अतिरिक्त महाभारत म विद्यमान है। इस ग्रन्थ म यह उल्लिखित है कि प्रचलित मत्स्य न्याय (बडी मछली द्वारा छोटी को न्याय सगत रूप स निगल कर अपना जीवन चलान का क्रम) की अपर्याप्तताओ स परेशान होकर व्यक्ति ब्रह्मा के पास गए और ब्रह्मा से याचना की कि पृथ्वी पर एक 'ईश्वर' (राजा) भेजे जिसके आदशो की अनुपालना से न्याय का सही तौर पर प्रवतन हो सके। इस याचना को सुनकर ब्रह्मा ने मनु को यह काय सौंपा और वह कालातर मे कानून का प्रथम निर्माता व व्याख्याकार बना। पश्चिमी सदभ मे बाईबिल ने भी राज्य की ईश्वरीय सृष्टि के तथ्य को प्रतिपादित किया और ईश्वर को समस्त राजकीय शक्तियो का स्रोत माना। चर्च व राज्य के सघष की स्थिति मे राज्य की दैविक शक्ति का सिद्धान्त राजा के दविक अधिकारो के सिद्धान्त के रूप म परिणित हो गया। इस परवर्ती रूपातरण की व्याख्या इगलेण्ड के सदभ म जेम्स प्रथम तथा सर रॉबर्ट फिल्मर ने प्रस्तुत की।

परिपक्व राजनीतिक विचारो के सदभ म इस सिद्धात की कोई विशेष महत्ता आज व्याप्त नही है इसके प्रमुख कारण ये हैं—

1 दवी उत्पत्ति का सिद्धान्त किन्ही सत्यापनीय तथ्यो पर आधारित नही है। वस्तुत उसके अस्तित्व का आधार विश्वास है विवेक अथवा तक नही,

2 राजा को दविक एजेन्ट के रूप म चरिताथ करके यह सिद्धान्त राजकीय दायित्वो को उडाने की एक कोशिश है और शासन जनता के एकपक्षीय दायित्व भाव से चलता है। राजा ईश्वर क

प्रति दायित्वपूर्ण है और जनता राजा के प्रति। इस दायित्व-क्रम मे वही पारस्परिकता नही है

3 यह सिद्धात राजा के सद्गुणा व योग्यताओ की चर्चा नही करता। राजा की 'दैविकता' को अतर्निहित मानता है। यदि राजा दैविक गुण न प्रवर्तित कर और बुरे शासन का सचालन करे तो शासितो के पास इसकी उपचारात्मक व्यवस्थाए नही हैं, तथा

4 यह सिद्धात शासन की मात्र एक विधा राजतत्र-से ही सम्बधित है। लगता यह है कि क्योकि राजतत्र ही ईश्वर व राजा के बीच सीधी सम्पर्क लाइन बिछा सकता है और 1 1 के अनुपात मे सम्पर्क की योग्यता रखता है, इसी कारण राजतत्र स्वीकृत किया गया अन्य कोई विचारणीय सदर्भ दिखाई नही देता।

इस सब के बावजूद दैविक सिद्धात की कुछ उपयोगिता इस तथ्य म निहित है कि यह धम व राजनीति व नैतिकता व राजनीति के उन अत सम्बधो का सजन करता है जा राजनीतिक विचारा मे इतिहास म उसके उपरात स ही लगातार महत्त्वपूण भूमिका का निर्वाह कर रहे ह। इस सम्बध म गिलक्राइस्ट का यह मत उल्लेखनीय है कि 'राज्य को ईश्वर के कतित्व के रूप म स्वीकार करना इसको एक उच्च नैतिक पदवी दिलाना ह, उस कुछ ऐसा बनाना है जिस पर नागरिक आस्था व समथन द सके, कुछ ऐसा जिसे व्यक्ति मानव जीवन की पूणता के रूप मे ग्रहण कर सक।'

पितृ सत्तात्मक सिद्धान्त

पितसत्तात्मक सदभ मे राज्य उत्पत्ति की कल्पना करने वालो का मतव्य यह है कि पारिवारिक परिवश सत्ता, व्यवस्था, सहयोग आज्ञापालन व तादात्म्य का वह मूतरूप प्रकट करता है जिसे सरकार व राज्य की वहत् सीमाओ म ढूढने के प्रयास किए जाते हैं। इस सिद्धात मे समथक इस भाव की बीज रूपी वास्तविकता को स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि राज्य-सरकार की उत्पत्ति पारिवारिक सदर्भ म पितसत्तात्मक प्रकार से हुई हो। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति मैकाइवर ने इस प्रकार की है कि प्राथमिक सामाजिक इकाई के रूप मे परिवार मे सदव ऐसे अकुश एव नियत्रण विद्यमान होत हैं जो कि सरकार का सार सगठित करते हैं परिवार के अतर्गत अत्यधिक विकसित इस नियमन प्रक्रिया का एक अधिक समन्वित समाज द्वारा सतत विस्तार व प्रयाग होता है। वे आवश्यकताए जो परिवार बनाती है वही सामाजिक नियमन भी प्रकट करती हैं यह

(परिवार) अपने वास्तविक क्रम म 'लघु सरकार' ही है और इसकी प्रकृति काफी व्यापक है।

पितृ सत्तात्मक सिद्धा त के प्रमुख व्याख्याकार सर हेनरी मेन हैं। उनकी यह धारणा है कि आदिम काल मे समाज परिवारो का एक समूह था। वह व्यक्तियो का समूह नही थी। परिवार उसकी इकाई थी और परम्परागत कानून पैतृक सत्ता को निरन्तर व अकाट्य मानता था। पिता के रूप मे परिवार के मुखिया को असीमित अपरिमित अधिकार एव शक्तिया प्राप्त थे। वह अपनी इच्छा के अधीन सम्पत्ति का विनिमय कर सकता था, सतति को बेदखल कर सकता था और उनका जहा चाहे तहा विवाह कर सकता था। इस क्रम म परिवार के विस्तार व विघटन के कारण अनेक परिवार बने लेकिन वे सभी प्रथम परिवार के मुखिया की सत्ता के अन्तगत विद्यमान रहे। यही से कबीले का सूत्रपात हुआ। कबीले के सदस्य आजीविका व अन्य भावो से प्रेरित होकर अन्यत्र बस गए। इस क्रम मे नए कबीले अस्तित्व मे आए। इन कबीलो के समूहन स राज्य का उदय हुआ। हेनरी मेन ने अपनी इस धारणा के समथन मे बाइबिल की पैतक सत्ताओं, एथेन्स के 'परिवारो व 'भ्रातृत्व रोम के पेट्रिया पोटेस्टस तथा भारत के सयुक्त हिन्दू परिवारो का उल्लेख किया। हेनरी मेन के तर्कों को स्वीकृति देते हुए डूगुइट न यह मत प्रतिपादित किया कि पिता प्राकृतिक रूप से मुखिया है—छोटे राज्य' का शासक और परिवार के सभी सदस्य शासितो के रूप म प्रकट होते है। प्राचीन नगर राज्य परिवारो का ही सघ थे जिनम राजनीतिक शक्ति पिता के पास सुरक्षित थी।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित है—

1 मेक्लेनन समेत अनक विद्वानो ने मेन की इस धारणा का चुनौती दी है कि पितृ प्रधान परिवार मौलिक व प्राचीनतम थे। उनकी राय मे मातृ प्रधानता पितृ प्रधानता की पूवगामी थी और परिवार के बजाय कबीला समाज की प्रारम्भिक इकाई था

2 उस समय विवाह सस्था अपने स्थायी रूप म विद्यमान नही थी और एक स्त्री एकाधिक पति रखती थी। ऐसी स्थिति म परिवार सरचना की निर्णायक कडी पत्नी थी और न कि पति। घर म आने व घर छोडने के दौरान उसके मतव्य प्रभावी होने थे और परिवार का स्थायित्व भी उसी पर निर्भर था। मानव सभ्यता के परवर्ती विवाह के सस्थागत रूप की स्थापना के उपरान्त स्थिर विकास और परिवारो का सृजन हुआ और पति पत्नी म कार्मिक विभाजन प्रस्तुत हुआ और क्षण क्षण पितृ सत्ता प्रकट हुई,

3 गिलक्राइस्ट की यह मान्यता है कि यह सिद्धात अति सरलीकृत

रूप से सामाजिक राजनीतिक स्थितयों की व्याख्या करता है और इस कारण उससे राज्य-उदभव का कोई स्पष्ट आभास नहीं मिलता। उनकी राय म पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष उसकी सरलीकरण की प्रवत्ति म निहित है।

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याकार मक्लनन, मॉगन तथा जेन्क्स है इन सब का सम्मिलित मत यह है कि मातसत्ता का भाव इस कारण मुखरित होता है क्योकि आदिम काल म विवाह की सस्था उदित नही थी और स्वच्छिक आधार पर पति पत्नि सम्बध स्थिर व विकसित होते थे और इसी आधार पर वह टूट भी जाते थे। इस क्रम म उत्पन्न सतति माता द्वारा अभिनेय थी और सतान माता की सत्ता को प्रधानता देती थी। उनका पिता के कबीले से कोई सम्बध नहीं होता था। उनकी यह भी मान्यता है कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार व शक्ति का भाव मातपरक था और माता को इस सदभ म उच्चतर अधिकार व सुविधाए प्राप्त थी। इन लोगो ने मलाया, आस्ट्रेलिया आदि कबीलो के अध्ययन स्वरूप ये निष्कष प्राप्त किए।

बेकोफेन ने तो यहा तक कहा है कि माताओ को न केवल सम्पत्ति उत्तराधिकार प्राप्त था और पारिवारिक सत्ता का आधिपत्य प्राप्त था बल्कि, वे राजनीतिक मामलो म भी प्रभावी दखल रखती थी। उसका मत है कि प्रारम्भ म अव्यवस्था व स्वेच्छाचार व्याप्त था। इस क्रम से ऊब कर और कानूनहीनता का उपचार करने के लिए 'मातसत्ता' का भाव उदित हुआ और कालातर म धार्मिक अधविश्वास व कमकाण्ड से जुडकर मातृसत्ता का राजनीतिक सत्ता के रूप म परिवतन हुआ।[5]

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त की निम्न आधारो पर आलोचना की गई है—

1. मातृसत्ता के सामाजिक राजनीतिक उदगम के सावदेशिक व अपरिहाय प्रतिमान का कोई वशेषिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।
2. मेकाइवर की यह धारणा है कि स्त्री सम्प्रेषण व रूपातरण का माध्यम तो थी लेकिन वह शक्ति की सक्रिय धारक या उसकी सहभागी बिल्कुल नही थी।[6]
3. ये दोनो व्याख्याए प्रधानत समाजशास्त्रीय व्याख्याए प्रस्तुत करती हैं और इस क्रम म वे मुख्यत मानव समाज व उसकी विकास प्रक्रिया से ही सम्बधित हैं। ये राज्य के उदय अथवा स्वरूप पर कोई प्रामाणिक टिप्पणिया नही उपलब्ध कराती। ये राज्य के उदय की व्याख्याए प्रस्तुत करते हुए कुनबे (kinship) के घटक

पर आवश्यकता से अधिक बल प्रदान करती है।

इस चर्चा को यह अभिव्यक्ति देकर समाप्त किया जा सकता है कि पितृसत्तात्मक व मातृसत्तात्मक अवधारणाएं राज्य के उदय से कुनबे घटक पर अत्यधिक आश्रित है और इस कारण वे आंशिक व्याख्या प्रस्तुत करने में तो सफल होती हैं लेकिन उससे राज्य उदय की समग्रता का परिचय नहीं मिलता। राज्य बहुत कारकों के संयोजन से अस्तित्व में आया है। राज्य को परिवार के विस्तार के रूप में निरूपित करना पर्याप्तता के मूल्य पर सरलीकरण प्राप्त करना है। निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि ये दोनों व्याख्याएं मूलत समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक उदय की वैशेषिक है न कि राजनीतिक संदर्भ में राज्य उत्पत्ति की।

बल सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति से संबंधित बल सिद्धांत यह प्रतिपादित करता है कि मानव प्रकृति में आक्रामक भाव निहित है और ये भाव जब निश्चित सामाजिक स्थितियों में निरूपित होते हैं तो अन्तर्निहित आक्रामकता शक्तिवान को निर्बल पर युद्ध थोपने व विजय के साथ अपनी सीमाओं का विस्तार करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार बड़ा व शक्तिशाली राज्य छोटे व निर्बल राज्य को निगल कर 'मत्स्य न्याय' चरितार्थ करता है। प्रारम्भ से ही यह क्रम प्रभावित रहा है और युद्धों के इस सिलसिले में जब बलवान आक्रामक ने एक निश्चित भू भाग व जनसंख्या पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब उसने अपने आप को राजा घोषित किया और विजित क्षेत्र उसका 'राज्य' कहलाया। लीकॉक ने इस प्रवृत्ति की तथ्यत व्याख्या करते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि ऐतिहासिक क्रम के अनुसार सरकार मानवीय आक्रमण का परिणाम है कि राज्य का प्रारम्भ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को बंदी बनाने व गुलाम बनाने की वृत्ति में खोजा जाना चाहिए उसे अपेक्षाकृत निर्बल कबीलों पर विजय व अधिग्रहण के रूप में स्वीकार करना चाहिए और सामान्यत श्रेष्ठता भौतिक शक्ति द्वारा आधिपत्य संबंधी आत्म-खोज के सिलसिले की दृष्टि से सकल्पित करना चाहिए। कबीले से राज्य व राज्य से साम्राज्य की ओर प्रगतिशील प्रमाण वस्तुत इसी प्रक्रिया की अनवरतता का परिचायक है। यही जेंक्स के इस उद्धरण से भी मिलता है कि आधुनिक प्रकार के समस्त राजनीतिक समुदाय अपने अस्तित्व के लिए सफल युद्ध नियोजन की ऋणी है।[6] इन व्याख्याओं के प्रकाश में यह मत प्रतिपादित करना उपयुक्त होगा कि राज्य उत्पत्ति की बल सिद्धान्त अपने व्यावहारिक परिवेश में[1] बल को राज्य उत्पत्ति का आधार मानता है[2] ऐतिहासिक अनुभव क्रम में राज्य उपलब्धियों को बल के संदर्भ में व्याख्या करता है[3] वर्तमान

संदभ म ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर बल को राज्य का औचित्य ठहराता है, तथा (4) बल-संवद्धन व उसके सफल प्रयोग को राज्य उद्देश्य के रूप म निरू-पित करता है।

बल सिद्धात की वास्तविक राजनीतिक संदभ म विभिन्न व्याख्याए की गइ। चच राज्य संघप के दौरान चच न राज्य को इस आधार पर निंदित किया कि उसकी उत्पत्ति क्रूर बल से हुई है जबकि चच दैविक-आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र है और इस आधार पर श्रेष्ठतर सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। जमन राष्ट्रवादी चिंतन मे भौतिक शक्ति को सत्ता की सर्वाधिक नसगिक अभिव्यक्ति व साधनपरकता के रूप म स्वीकार किया गया। अधिकाश जमन विचारको य जसे बनहार्डी सोरेल, निरशे) हेगलवादी परम्परा से दीक्षा ग्रहण करते हुए जमन राज्य की गरिमामय परम्पराओं के प्रवर्तन के लिए निमम शक्ति व बल प्रयोग पर बल दिया। मावसवादी चिंतन म भी वग संघप का विचार वस्तुत पूंजीपति वर्गों की साधन संपन्नता से उत्पन्न दमनकारी शक्ति के प्रेरक कारण की ओर इंगित करता है। उसी से निबटने के लिए सवहारा वग के संगठन की व्यवस्था की गई ताकि, संगठन शक्ति भौतिक बल प्रयोग से व्यवस्थात्मक शक्ति तोडे। सवहारा वग का अधिनायकत्व भी इस वग की शक्ति परक संरचना का एक संक्रमण काल है जिसके अतगत टूटी पूंजीवादी ताकत का पूरी तरह कुचलन का भाव निहित है। इस प्रकार बल की विविध संदर्भों मे समयानुकूल व्याख्या प्रस्तुत की गई है लेकिन इन व्याख्याओ म बल का सामान्य भाव अन्तर्निहित है केवल उसकी संदभगत रूप विभिन्नता ही पाथक्य का आभास प्रस्तुत कराती है।

बल सिद्धात की आलोचना विविध अध्येताओ व विचारको ने निम्न आधारो पर की है—

1 बल सिद्धात मानव प्रकृति की अधूरी संकल्पना पर आधारित है। बल प्रयोग व आक्रामकता मानव प्रकृति का जितना बडा सच है उतना ही बडा सच व्यक्ति की सहयोगपरकता भी है। बल सिद्धात मानव प्रकृति की इस समग्रता की उपेक्षा करते हुए, केवल खण्डित सत्य की आधारशिला पर अपनी वैचारिक योजना निर्मित करता है,

2 राज्य का विकास एक ऐतिहासिक क्रम मे विविध तत्वो के खुले संयोजन व अन्त क्रिया से हुआ है जिसका कि बल मात्र एक पक्ष है वह समस्त पक्षो का प्रतिबिंब नहीं उपलब्ध कराता

3 बल प्रयोग व शक्ति राज्य का एक आवश्यक तत्व तो है लेकिन वह अंतिम सत्य नहीं हो सकता जसाकि मेकाइवर ने स्पष्ट

किया है— 'दमनकारी शक्ति राज्य का एक मापदण्ड तो है लेकिन वह उसका सार तत्व नहीं है। बल के नियोजन का प्रभावशाली होने के लिए अनिवार्यतः लोकमत के रूप में अभिव्यक्त समाज की साधारण इच्छा द्वारा अनुमोदित होना होता है। इस प्रकार की सत्ता के अभाव में बल विध्वंसक हिंसा है—अनियमित अनिर्देशी, व्यर्थ,"[7]

4 बल सिद्धांत लोकतांत्रिक मानस का निषेध करता है क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सहमति-असहमति, समर्थन विरोध आदि समान महत्वशाली हैं। आधिपत्य, दमन, हिंसा आदि से युक्त बल सिद्धांत लोकतांत्रिक भाव का संहार करता है, उसे निष्प्रभावी बनाता है, तथा

5 अन्तर्राष्ट्रीय भाव से उत्प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सहज विस्तार ने भौतिक बल प्रयोग की संभावनाओं को पर्याप्त क्षीण किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक विश्व संस्था के रूप में बल प्रयोग की स्थितियों के प्रारम्भ में ही अपने हस्तक्षेप द्वारा सामान्यतः युद्ध विराम कराने में सफल हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विविध उपकरण अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान में जुटे रहते हैं और अक्सर व्यावहारिक और प्रत्यक्ष सफलता अर्जित करते हैं। सतत संवर्द्धित अन्तर्राष्ट्रीय अंतर्निर्भरता के तथ्य ने विश्व के देशों को शांतिपूर्ण रूप से एकीकृत होने व साथ मिलकर विश्व-समस्याओं के समाधान की प्रेरणा प्रदान की है। ये सब तथ्य यह उद्घाटित करते हैं कि बल प्रयोग राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय राज्य विकल्पों में से एक है उनका सर्वस्व नहीं।

सामाजिक समझौता सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति से संबंधित सामाजिक समझौता सिद्धांत सद्भाव व विवेक पर आधारित समझौते को राज्य की उत्पत्ति का मूल आधार मानता है—एक ऐसा समझौता जो व्यक्तियों ने व्यक्तियों के साथ किया और जिसके परिणामस्वरूप वे प्राकृतिक अवस्था की विसंगतियों से मुक्ति पा सकें। प्राकृतिक अवस्था चाहे समाज पूर्व स्थिति की ओर इंगित करती हो अथवा राजनीति पूर्व की स्थिति के वह निश्चयात्मक रूप से सामाजिक समझौते की पूर्वगामी थी। वह अपने क्रम में या तो 'कलह-पाशविकता चरितार्थ करती थी या आदर्श सोपान अथवा परमानन्द'। उसकी प्रकृति कुछ भी क्यों न हो वस्तुस्थिति यह थी कि उसका क्रम

परेशानियां व उलझनें प्रस्तुत करता था। उन्हें दूर करने के लिए सामाजिक समझौता ही एकमात्र विकल्प था। सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था के वैशेषिक प्राकृतिक कानून का स्थान मानव कानून ने ले लिया और इसकी परिणिति नागरिक समाज की स्थापना में परिलक्षित हुई। नागरिक समाज ने नागरिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की गारंटी दी। इस परिचयात्मक विवरण के संदर्भ में सामाजिक समझौता सिद्धान्त के निम्न लक्षण अभिव्यक्त किए जा सकते हैं—

1. प्राकृतिक अवस्था अपनी अविध्य के बावजूद व्यक्तियों की हितकारी अवस्था नहीं थी,
2. सामान्य हित को सुरक्षित करने की दृष्टि से सभी व्यक्तियों ने पारस्परिक सहमति व सहयोग से सामाजिक समझौता किया और प्राकृतिक अवस्था का परित्याग किया
3. सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप नागरिक समाज की स्थापना हुई जिसने नागरिक स्वतन्त्रता व अधिकारों को अनुरक्षित किया, तथा
4. नागरिक समाज में व्याप्त भाव को संस्थागत आधार देने की दृष्टि से मानव कानून अथवा नागरिक कानून ने प्राकृतिक कानून का स्थान ले लिया।

सामाजिक समझौते का ऐतिहासिक संदर्भ

सामाजिक समझौता प्राचीन काल से ही विविध विचारकों को अपनी राज्य योजना के प्रति आकर्षित करता आ रहा है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक संदर्भ में अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने यह विवरण दिया है कि अराजकता, अव्यवस्था व मत्स्य न्याय के प्रचलन से उकता कर व्यक्ति ब्रह्मा के पास गए और उनसे व्यवस्था की याचना की। ब्रह्मा ने मनु को यह कार्यभार सौंपा। मनु की अनिच्छा की अभिव्यक्ति को प्रति संतुलित करने की दृष्टि से व्यक्तियों का मनु से यह समझौता हुआ कि वे सब मिलकर सम्प्रभु राजा को अपने उत्पादन का 1/6 भाग अन्न व 1/10 भाग पण्य व स्वर्ण देंगे। इस समझौते के परिणामस्वरूप मनु प्रथम कानून निर्माता व व्यवस्था नियामक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यूरोप में प्लेटो ने अपने ग्रंथों रिपब्लिक व क्रिटो में समझौते के भाव का उल्लेख किया। सामन्ती युग में सामन्ती स्वामी व अधीनस्थ व्यक्तियों व दासों का सम्बन्ध अनिवार्यतः समझौतावादी था। मैनेगोल्ड ने यह मत व्यक्त किया कि समझौते का उल्लंघन करने वाले राजा को अपदस्थ करना न्यायसंगत है क्योंकि उसके शासन का आधार ही समझौता है। परवर्ती काल में सामाजिक समझौता

व्याख्याओं को छूकर, ह्यूगो ग्रोशियस आदि लेखकों/विधिशास्त्रियों के कृतित्व से महत्त्वपूर्ण बल मिला लेकिन इस संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापनाएं हाब्स, लाक व रूसो ने की। अतः उनके सामाजिक समझौता विचारों को कुछ अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस चर्चा में उनके विचारों को प्राकृतिक अवस्था सामाजिक समझौते के विशिष्ट लक्षण व कृतित्व मूल्यांकन के शीर्षक क्रम में प्रस्तुत किया जाएगा।

थॉमस हॉब्स (1588 1679)

हाब्स की विचार योजना में स्वीकृत प्राकृतिक अवस्था सामाजिक समझौता व उसके विशिष्ट लक्षण आदि अपनी तर्क-संगति की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। प्रारम्भ से अन्त तक हॉब्स इस तार्किकता को बनाए रखता है और योगदान स्वरूप ऐसा चिंतन उपलब्ध कराता है जो राज्य के प्रकटीकरण की अपूर्व व्याख्या प्रस्तुत करता है और उस दृष्टि से वह राज्य शक्ति की वास्तविकताओं को एकाकार करता है।

प्राकृतिक अवस्था

हाब्स की दृष्टि में समाज पूर्व स्थिति में प्राकृतिक अवस्था एक ऐसी स्थिति की द्योतक थी जिसमें व्यक्ति मानवीयता के अभाव में पूर्ण रूप से पाशविक आचरण करता था एक दूसरे पर हिंस्र पशु की भांति टूट पड़ता था और इस क्रम में समर्थ अपना हित साध लेता था जबकि असमर्थ अपनी जान गंवा बैठता था। प्राकृतिक कानून समर्थ की सामर्थ्य का पक्षधर था और प्राकृतिक स्वतंत्रता सिर्फ इतनी थी कि व्यक्ति आत्म-अनुरक्षण के लिए अपनी शक्ति बाजी पर लगाने को स्वतंत्र था। प्राकृतिक अवस्था में करुणा, स्नेह व उदारता लोकोचित के स्तर पर भी विद्यमान नहीं थी और इन सब के प्रभाव में व्यक्ति सामाजिकता से बिल्कुल कटे हुए लड़ झगड़ कर अपने दिन काटते थे बिना इस निश्चितता के कि वे लम्बे समय तक जीएंगे और मानव परक क्रियाएं सम्पादित करेंगे। हॉब्स के शब्दों में वे एकाकी, लाचार, क्रूर, निर्दयी व अल्पजीवी थे।

सामाजिक समझौता

प्राकृतिक अवस्था की विसंगतियों से बचाव स्वरूप व्यक्तियों ने आपस में मिलकर सामाजिक समझौते द्वारा नागरिक समाज अथवा 'कॉमन वेल्थ' की रचना की। समझौते के तथ्यात्मक रूप में उन्होंने अपने समस्त प्राकृतिक अधिकार

स्वीकृत श्रेष्ठतर व्यक्ति को सौप दिए और उसकी आज्ञाओ की अनुपालना का सकल्प लिया सिवाय एक अधिकार के—आत्म-अनुरक्षण का अधिकार। समझौते का प्रारूप यह था "मैं प्राधिकृत करता हू और आत्म शासन के अपन अधिकार को इस व्यक्ति या व्यक्तियो की परिषद का इस शत के साथ छोडता हू कि तुम भी इसी प्रकार इन सबको छोडोगे और समान रूपी प्राधिकरण करोगे यह 'महान लेवायथन अथवा (अधिक श्रद्धापूण अभिव्यक्ति के रूप म) इस 'नश्व प्रभु' (Mortal God) की रचना है जिसके प्रति हम ईश्वर को साक्षी मानकर अपनी शाति व रक्षा के ऋणी हैं।"

इस सामाजिक समझात की निम्न विशेषताए उल्लखनीय है—

1 यह एक सामाजिक समझौता है न कि सरकारी समझौता जिसस लेवायथन' का सृजन हुआ है। वह इस समझौते का परिणाम है इसका भागीदार नही। इसलिए वह समझौते की शर्तों स ऊपर हैं,
2 समझौते की शर्तों से उन्मुक्तता के कारण 'लेवायथन' की शक्ति असीमित व पूण है। सभी व्यक्तियो को अनिवायत उसकी आज्ञा का पालन करना होता है अन्यथा, अशाति व सघष का विकल्प उन्ह प्राकतिक अवस्था म वापिस पहुचा दगा,
3 यह समझौता सामाजिक भाव का प्रस्तुत करने के कारण अस शाधनीय एव अपरिवतनीय है सिवाय उस स्थिति के जब राजा व्यक्तियो के आत्म-अनुरक्षण अधिकार को चुनौती अथवा आघात दे
4 सम्प्रभु 'लवायथन की आज्ञाए एव आदश ही कानून है और उनके प्रवतन का उस निद्वन्द्व अधिकार प्राप्त है तथा
5 स्वतत्रताए सम्प्रभु 'लेवायथन' के प्रसाद स्वरूप प्रकट होती है और वे उसके प्रसाद पयन्त ही विद्यमान रहती हैं।

हॉब्स के विचारों का आकलन

हाब्स की प्राकृतिक अवस्था व सामाजिक समझौता विषयक विचारो व व्याख्याओ की अनेक आधारो पर आलोचना की गई है। उसमे से कुछ प्रति निधि आलोचनाए इस प्रकार है—

1 हाब्स मानव प्रकृति की अधूरी कल्पना करता है। सघष, ईर्ष्या व द्वेष मानव प्रकृति का अग है लेकिन शाति सहयोग व भ्रातृत्व भी मानव प्रकृति की समानुपाती अभिव्यजनाए प्रस्तुत करते है
2 यदि व्यक्ति मूलत स्वार्थी है तो वह समझौता करेगा ही नही

विशेषत समय तो ऐसा नही ही करेंगे क्योंकि उनका आत्म हित प्राकतिक अवस्था मे सधता है। यदि व समझौता करेंग भी ता अवसर के अनुकूल वे उसमे उस स्थिति मे मुकर जाएग जव सम झौता उनक निजी हिता का चाट पहुचाएगा। हाप्स यह तय नही कर पाया कि मानव प्रकति का मूल तत्त्व क्या है—आत्महित ससाधन अथवा सामाजिक भाव का सजन। यदि पहला सही है ता समझौते की आवश्यक सामाजिकता उसम नही आएगी और यदि समझौता चिरस्थायी व अपरिवतनीय है ता व्यक्ति मूलत सामाजिक भाव से युक्त है और उम स्थिति म प्राकतिक अवस्था का चित्रण नितात भ्रामक व अस्वाभाविक

3 सब समझौत द्विपक्षीय हाते है। यह एकमात्र ऐसा समझौता है जा एकपक्षीय है। 'लेवायथन इस समझौता का भागीदार नही उसका परिणाम है,

4 हाब्स ने अपनी इस याजना म राज्य व सरकार के मध्य वैचारिक भेद नही प्रकट किया है

5 हाब्स ने कानून के प्रवतनीय क्रम को तो स्वीकार किया है लेकिन उसने उसके पाश्व नैतिक सिद्धाता आदि को स्वीकार नही किया है। वे कौनसे सिद्धात है जो सम्प्रभु को कानून के निर्माण, व्याख्या व प्रवतन काय म निर्देशित करते है ? उनका मूल्य परिवेश क्या है ? यदि वह अनुपस्थित है तो किस प्रकार हाब्स का कानून राज-नीतिक दशन का व्यवहाय आधार वन सकता है ?

इन समस्त विसगतिया के बावजूद हाब्स वह पहला व्यवस्था निर्मिति का आग्रही विचारक था जिसन व्यवस्था निमाण की विभिन्न अभिव्यजनाए सयोजित करते हुए यह काम सम्पादित किया। उसने कानूनी सम्प्रभुता का वह भाव मुखरित किया जो परवर्ती काल मे जान आस्टिन व जेरमी बेंथम के कतित्व का आधार बना।

जॉन लॉक (1632 1704)

हाब्स न जहा निरकुश राजतत्र के सदभ म अपनी विचार-योजना समायोजित की, वही जान लाक न समयौते द्वारा सावैधानिक शासन की स्थापना का पक्ष प्रस्तुत किया। इस दष्टि से लाक का ग्रथ टू ट्रीटाइजज ऑव गवनमेंट काफी महत्वपूर्ण है।

प्राकृतिक अवस्था

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था का एक उज्ज्वल पक्ष चित्रित किया है जो हॉब्स के चित्रण की तरह बदरंग नहीं है। लाक की दृष्टि में व्यक्ति अपनी मूल प्रकृति में सामाजिक भाव से युक्त विविध मानवीय गुणों का परिचायक था। उन्हें स्वतन्त्रता व समानता प्राप्त थी और इसके संदर्भ में उनका जीवन शांति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता व सहयोग तथा अनुरक्षण के गुणों को समाहित किए हुए था।

मानवीय गुणों के बावजूद प्राकृतिक अवस्था व्यक्ति के लिए परेशानी का कारण बनी हुई थी क्योंकि अव्वल तो प्राकृतिक कानून की सुस्थापित व सुस्पष्ट धारणाओं व सिद्धान्तों का अभाव था और दूसरे उन कानूनों के व्याख्याकार सुविज्ञ न्यायाधीश भी विद्यमान नहीं थे। तीसरी प्रमुख कमी यह थी कि इन कारणों से प्रेरित होकर लाक सामाजिक समझौते की ओर उन्मुख होना चाहते थे। लाक की प्राकृतिक अवस्था पर टिप्पणी करते हुए बार्कर का यह कथन है कि स्वीकृत अधिकार क्षेत्र से युक्त लाक की प्राकृतिक अवस्था समझौते से पूर्व ही एक राजनीतिक समाज की द्योतक है।

सामाजिक समझौता

प्राकृतिक अवस्था की विसंगतियों को दूर करने के लिए सभी [illegible] परस्पर समझौता किया और यह तय किया कि उनके द्वारा [illegible] व्यक्ति ही कानून की प्रामाणिक व्याख्या करे और व [illegible] प्रवर्तन की गतिविधि छोड़े। उन्होंने ऐसा ही किया और [illegible]। हाब्स के व्यक्तियों की भांति उन्होंने अपने समस्त [illegible] सर' को नहीं सौंपे, केवल कानूनों व्याख्या का पूर्व [illegible]। यह भी महत्वपूर्ण है कि छोड़ा गया यह [illegible] सम्पूर्ण समुदाय के हित में छोड़ा गया [illegible]। यह भी [illegible]वादी धारणा से एक महत्वपूर्ण [illegible] है।

एक दूसरे समझौते द्वारा [illegible] को लागू करने की दृष्टि से [illegible] किया। [illegible] झौते द्वारा समुदाय ने [illegible] पहले समझौते के [illegible] व अधिनिर्णय का [illegible] स्थिति में) [illegible]

थी। समुदाय को यह अधिकार था कि समझौते के उल्लघन की स्थिति म वह सरकार का बर्खास्त कर दे।

लाक के विचारो का आकलन

लॉक ने सहमति के आधार पर शासन का जो प्रतिमान उपलब्ध कराया वह उसे लोकतन्त्रिक सदभ म सामायत व ब्रिटिश सदभ मे विशषत सदा क लिए प्रासगिक बनाता है। लास्की इसी आधार पर लोक की अग्रेजी राजनीति म सदैव प्रासगिक एव प्रभावी मानते हैं।[8]

लाक का सर्वाधिक खटकने वाला दोष यह है कि उसन कानूनी सम्प्रभुता की सतत् उपेक्षा की। इस सम्बध मे गिलक्राइस्ट का यह कथन उद्धरणीय है कि अपनी पदावली प्रयुक्त करते हुए हम यह कह सकते हैं कि हॉब्स राजनीतिक सम्प्रभुता के अस्तित्व व शक्ति का अस्वीकार करते हुए कानूनी सम्प्रभुता प्रदान करता हैं, लॉक राजनीतिक सम्प्रभुता की शक्ति को तो स्वीकार करता है लेकिन वह कानूनी सम्प्रभुता को पर्याप्त मान्यता नही प्रदान करता।[9]

ज्या जेक्स रूसो (1712-1777)

रूसा एक राजनीतिक विचारक के रूप मे कई दृष्टियो से उल्लेखनीय है। उसके विचारो का परवर्ती फ्रासीसी क्रातिकारिया की गतिविधियो पर प्रभाव प्रसिद्ध फ्रासीसी क्राति क वास्तविक क्रम मे उसके द्वारा प्रस्तुत भावात्मक प्रेरणाए व *सकल्पनाए तथा परवर्ती शताब्दियो म विकसित राजनीतिक व्यवस्थाओ का* प्राप्त रूसो की आभासिक रूप स द्व धायक विरासत—ये सभी इतिहास क तथ्य हैं और इन पर आज भी जोरदार बहस हाती है। लेकिन रूसो का सर्वाधिक उल्लेख *नीय योगदान व्यक्ति को व्यवहाय समानता के प्रति उसका आग्रह है।* काल फ्राइडरिख के अनुसार राजनीतिक विचारो के इतिहास मे समानता की समस्या व आम आमदनी पर विश्वास स जितना अधिक रूसो जुडा हुआ है उतना काई अन्य नही है। फ्राइडरिख की यह मान्यता है कि रूसो के कृतित्व के उपरात व्यक्ति की नैसर्गिक (प्राकृतिक) असमानता के प्रति पर्याप्त सशय उत्पन्न हुआ और आय व जीवन सुविधाआ विशेष रूप से राजनीति मे भागीदार के प्रश्न पर लोगा म व्याप्त विषमताओ पर प्रश्न चिह्न लगन प्रारम्भ हो गए।[10] रूसो की लगभग समस्त विचारयोजना (सामाजिक समझौता, सामान्य इच्छा समेत) व्यक्तियों मे व्याप्त असमानता की उपचारात्मक व्याख्याए प्रस्तुत करती है और समाधान विकल्प सुझाती है। व्यक्ति को खोई गरिमा उसे फिर म कस मिले? सभ्यता व प्रगति के अस्वाभाविक मापदण्डा से व्यक्ति कैसे गुजर कर

और इनसे उत्पन्न विषमताओं व असमानताओं से वह कैसे निजात पाए—ये व समस्याएं और उलझनें हैं जो रूसो को अपना विचार प्रस्तावनाओं के लिए सम्प्रेरित करती है।

प्राकृतिक अवस्था

रूसो की प्राकृतिक अवस्था का विश्लेषण एकाधिक रूप से विलक्षण है। हाब्स की भांति वह न तो प्राकृतिक अवस्था की भयावहता पर आधारित है और न ही लॉक की भांति वह प्राकृतिक अवस्था की अपक्षाकृत समाज परकता पर अवलम्बित। वह प्राकृतिक अवस्था को व्यक्ति की मूल स्वभावगत सादगी और सरलता के रूप में ग्रहण करता है और ऐसा करते हुए वह उसे व्यक्ति की मौलिक अभिव्यंजनाओं के अधिक समीप मानता है। इससे भी अधिक महत्व पूर्ण रूप से रूसो की प्राकृतिक अवस्था उन माप दण्डों पर आधारित है जो व्यक्ति को व्यक्तिपरक बनाते हैं। ये माप दण्ड है व्यक्ति में अन्तर्निहित श्रद्धा, विश्वास व नतिक अन्त प्रज्ञा के गुण जो मूल प्राकृतिक अवस्था मे पर्याप्तत चरितार्थ होते हैं। रूसो अपने विचारों में इन गुणों पर तरजीह देते हुए पश्चिम की प्रबल तार्किक, बुद्धिपरक व वैज्ञानिक परम्परा से विद्रोह करता है और तार्किकता के विज्ञानेतर प्रतिमान स्थापित करके अपना विशिष्ट स्थान बनाता है। उसकी इन अभिनव मापदण्डो की कारणात्मक व्याख्या करते हुए सेबाइन ने यह लिखा है कि रूसो इन वकल्पिक मापदण्डो को इसलिए स्थान देता है क्या कि सार रूप में उसकी दृष्टि मे "बुद्धि खतरनाक है वह श्रद्धा को कम करती है विज्ञान विध्वंसक है क्योंकि वह विश्वास का हरण करता है, विवेक बुरा है क्योंकि यह प्रज्ञा को नतिक अन्त प्रज्ञा के विरुद्ध तयार करता है।[11]

मानव प्रकृति के सदर्भ में रूसो की यह धारणा है कि व्यक्ति मूलत अच्छा, सरल व सहानुभूतिपरक है और इन मानवोचित गुणों के साथ प्राकृतिक अवस्था मौलिक रूप से आनंदकारी। विकास क्रम में उत्पन्न प्रगति व उससे प्रकट सम्पत्ति भाव व्यक्ति को 'अपने पराये' के बंधन में बाध देता है। इसी के साथ विषमताए शुरू हो जाती है, मानवप्रकृति की मौलिक सरलता स्थितिजन्य जटिलता के सम्मुख घुटने टेक देती है, विवेक भाव उपस्थित होता है और विवेक युक्त व्यक्ति विकृत पशु बन जाता है। इन सब के योग से सामाजिक सुरक्षा का प्राकृतिक भाव दम तोड देता है और संघर्ष, तनाव और स्वार्थ खुलकर अपनी अवांछनीय भूमिका प्रस्तुत करते है। यह क्रम अपनी सम्पूर्णता मे भले व्यक्ति को पाशविकता व जगलीपन प्रदान करता है और इनसे युक्त होकर रूसो का व्यक्ति 'भला-वहशी' बन जाता है। शायद मानव प्रकृति का यह दोहरापन रूसो को आद्योपांत परेशान

करता रहता है। वह भलेपन या तरजीह देने के लिए व्यक्तिवादी आग्रह प्रकट करता है और उसकी अपरिहार्य स्वतत्रता व समानता उसे उपलब्ध कराने की चेष्टा करता है जबकि उसका वहशीपन उसे व्यक्ति से हट कर समष्टि की ओर यदन व सघन सामुदायिक भाव विकसित करने के लिए प्रेरित करता है—यानि व्यक्ति के टानिक के रूप म लोकतत्र और समष्टि के उपचार के लिए प्रयाण शील समष्टिवाद (collectivism) इसे व्याख्याकार लोकतत्र व सर्वाधिनायकवाद (Totalitarianism) के बीच रस्साकशी मानें या रूसो की अन्तर्निहित तार्किक असगति। वस्तुस्थिति यह है कि रूसो व्यक्ति की मुक्ति के लिए इतना बर्चैन है कि इस बेचनी म वह दो वचारिक घोडो पर एक साथ चढ कर दो दिशाओ म एक साथ सरपट घोडे दौडाने को तयार है। उसे न लोकतत्र वाछनीय है और न सर्वाधिनायकवाद। उसका अभीष्ट तो वह व्यक्ति है जो भलाई और वहशीपन के दोहरे व परस्पर विरोधी बधनो म जकडा हुआ है—पहले से वह छटना नही चाहता और दूसरे से वह छूट नही सकता। और कुछ भी क्या न हो, यह प्राकृतिक अवस्था का निरूपण इस प्रश्न की तो व्याख्या करता ही है कि व्यक्ति जन्म से स्वतत्र पदा होकर भी सवत्र बधनो से जकडा हुआ है। इन बधनो को वह कसे तोडे? यही रूसो की चिता का प्रमुख विषय है।

सामाजिक समझौता

प्राकृतिक अवस्था की विसगतियो को दूर करने और आत्म अनुरक्षण के उद्देश्य से प्रेरित होकर रूसो की विचार योजना मे व्यक्ति सामाजिक समझौता करके नागरिक समाज की स्थापना करते हैं और इस समाज का वैशेषिक नागरिक कानून प्राकृतिक कानून का स्थान ले लेता है और प्राकृतिक स्वतत्रताओ की अपेक्षा नागरिक स्वतत्रताए व्यक्तियो का अभीष्ट बन जाती हैं। इस अभीष्ट को ससाधित करने के उद्देश्य से सभी व्यक्ति 'अपना 'स्व' और अपनी शक्ति समान रूप से सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन मे समाहित करते है। यह सामान्य इच्छा सम्प्रभु है जो कि नागरिक समाज म प्रतिस्थापित होती है। इस दृष्टि से नागरिक समाज म प्रतिस्थापित होती है। इस दृष्टि से नागरिक समाज की स्थापना ऐसी स्थिति मे प्रतिफलित हुई जिसमे प्रत्येक नागरिक ने अपने समस्त अधिकारो सहित अपने आप को सम्पूर्ण समुदाय को सौंप दिया।

सामान्य इच्छा का विचार

सामान्य इच्छा सम्प्रभु है, समाज मे सर्वव्यापी है लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इस सब के बावजद वह आखिर है क्या? रूसो की दृष्टि म यह सामान्य

इच्छा सब की इच्छा नही है—यानि अ+ब+स+द की इच्छाओ का कुल योग सामा य इच्छा का निर्माण नही करता। वस्तुत सामा य इच्छा केवल इस सदभ म ही सबकी इच्छा के रूप मे प्रकट होती है कि सब नागरिक ऐसी इच्छा करते हुए सभी के हितो (सावजनिक हितो) के लिए विचार करते हैं। काल फ्राइडरिच के शब्दो मे सामा य इच्छा चयन का वह प्रकार है जिसके क्रम मे हर व्यक्ति अपने आप से यह प्रश्न करता है कि 'समुदाय की भलाई क लिए बहुमत किस प्रकार व्यवहृत हो'? न कि यह कि मेरी भलाई के लिए बहुमत किस प्रकार व्यवहार करे ?[1]- रूसो की यह धारणा है कि मानव प्रकृति के दो भाव विवक क पराधीन नही है—आत्म अनुरक्षण व करुणा। सामा य इच्छा इन दोना सघटको से मिल कर बनी है। सामा य इच्छा विवकयुक्त है क्योकि वह देय सामाजिक स्थितियों से बचाव का विवेकयुक्त समाधान खोजती है। वसे भी विवेक का प्रचलन बडे विवक के प्रयोग से ही काटा जा सकता है उसी प्रकार जिस प्रकार लोहा लोह को काटता है लेकिन रूसो का बडा विवेक स्थितियो के यथाथपूण विवेक व मानव प्रकृति के आदश भावो का कुल योग है। इस दष्टि स वह विवक है भी और प्रचलित सकीण धारणाओ के सदभ मे विवक नही भी है। यह विवेक प्रचलित विवक से बडा—लघुत्तर विवक है। इस विवेक को जो समझकर अपनाने की क्षमता रखता है वही सामा य इच्छा का प्रवक्ता होता है—यह प्रवक्ता एक व्यक्ति, एक समूह अथवा आदश रूप मे पूरा समुदाय हो सकता है। रूसो के चितन का अभिप्राय यह है कि राजनीतिक व्यवस्था का प्रकार (लोकतात्रिक, अधिनायकवादी व सर्वाधिनायकवादी) देश और काल की उप युक्तताओ पर निभर है व्यवस्था का चाहे कोई भी प्रकार क्यो न हो सामा य इच्छा सभी व्यवस्थाओं को सचालित करती है वह सभी व्यवस्थाओ से बडी है।

इन वैचारिक अवधारणा के सदभ मे रूसो के सामाजिक समझौता विचार क प्रमुख तत्व इस प्रकार इगित किए जा सकते हैं—

1 समुदाय को (यानि समानत सबके द्वारा सबको) सौंप गए समस्त अधिकारो स व्यक्ति को कोई निजी घाटा नही होता क्योकि इस प्रकार का समझौता व्यवहाय समानता का भाव प्रस्फुटित करता है

2 सामा य इच्छा सम्प्रभु व सव व्यापी है क्योकि, वह अपने विशिष्ट रूप विधान मे निजी हित को सरक्षण नही देती बल्कि सावजनिक कल्याण की स्थितियो को निरूपित करती है। यह इच्छा इसी आधार पर यायसगत और सही है, समानता इसी साव जनिकता पर आधारित है और इन गुणो से युक्त होने के कारण

सामा य इच्छा यक्तियो के सम्मुख अनिवाय अनुकरण का प्रतिमान प्रस्तुत करती है,

3 कानून इसी सम्प्रभु इच्छा का परिणाम है। रूसो के विचार म विधायी अथवा साकल्पिक शक्ति जनता मे व्याप्त होनी चाहिए,

4 जनता सम्प्रभुता का मूल रूप देते हुए सरकार को सरकारी क्रियाओ के सम्पादन मे केवल आवश्यक राजनीतिक शक्ति हस्तान्तरित ही करती है। सरकार स्थायी रूप से सम्प्रभुता ग्रहण नही करती। वह लोकप्रभुता के अधीन काय करती है आर लोक प्रभुता सामा य इच्छा के मानक से स्थिर होत हुए सरकार से हस्तान्तरित शक्ति पुन ले सकती है तथा

5 व्यक्ति की स्वतन्त्रता सामा य इच्छा के सदभ मे ही प्रासगिक है। इसी प्रस्तावित ढाचे मे वह अनिबन्धित आचरण कर सकता है। वह स्वतन्त्रता के नाम पर बुनियादी ढाचे को तोडकर स्वच्छदता नही ग्रहण कर सकता। ऐसा करना वस्तुत व्यवस्था को तोडना और प्राकृतिक अवस्था की विसगतियो की आर प्रयास करना होगा।

रूसो, हॉब्स व लाक के सदर्भ मे

रूसो के राजनीतिक विचार हाब्स व लॉक के विचारो से अन्त क्रियाशील हैं। इस सदभ मे व इन दाना विचारको के विचार से मेल-बेमेल दाना ही चरिताथ करते हैं। रूसो हाब्स की भाति आभासित रूप से एक समझौते से राज्य व समाज स्थापित करता है सम्प्रभुता का निर्माण करता है और इस सम्प्रभुता के अधीन व्यक्ति के समस्त अधिकारो आदि को स्थापित करता है। लाक के विचारा से साम्य स्थापित करत हुए वह लोक-सहमति पर आधारित राज्य सरचना की कल्पना करता है और ऐसा करते हुए वह लाक की भाति समाज परकता चरिताथ करत हुए राजनीतिक समुदाय को समस्त शक्तिया सौंपता है और सरकार व राज्य का पृथक क्रमा म दखता मानता है।

इन समानताओ के अतिरिक्त असमानता स्थापित करत हुए रूसो हाब्स की भाति न ता व्यक्ति विषयक सम्प्रभुता गढता है और न उदारवादी सावैधानिक व्यवस्था क्रम मे लॉक की सविधान मर्यादित सरकार का अपनी प्राथमिकता ही देता है। लॉक की भाति वह व्यक्तिगत अधिकारों का आशिक समायोजन भी

नही करता बल्कि, पूण व अबाधित समायोजन की वाछनीयता स्वीकार करता है।

रूसो के विचार आभासित समानता-असामनता के अतिरिक्त अपनी स्वतत्र सत्ता के प्रतीक उपलब्ध कराते हैं। उसकी सम्प्रभुता की प्रवत्ति हॉब्सवादी न होने के कारण वह अपरिमित सम्प्रभुता की प्रस्तावना नही करता पर साथ ही वह मानव प्रकृति व प्राकृतिक अवस्था की अपनी वैक्षेपिक वत्तियो के कारण लॉक की भाति अधूरे नैसर्गिक अधिकार स्ववत त्रता के समायोजन की भी कल्पना नही कर सकता। उसका समायोजन पूर्ण है लेकिन इसका आशय यह नही कि वह अमर्यादाशील व्यवस्था को ज म देता है। वस्तुत सम्प्रभुता का कानूनी विचार व सरकार की वास्तविकताए सामा य इच्छा के नैतिक आदर्श के अधीन हैं, उनसे बधी हुई हैं और इस कारण उन पर वाछनीयता की लगाम लगी हुई है—एक ऐसी लगाम जो समुदाय के हाथ मे बरकरार रहती है और समुदाय लगाम को सतत् हिलाता—चलता रहता है लाक की भाति यह समुदाय मात्र सकट कालिक भूमिका नही प्रस्तुत करता बल्कि, सतत सामग्य-कालिक यागदान भी देता है। व्यावहारिक 'विकृतिया' सम्भव हैं और इस क्रम म सरकार की अपक्षाकृत अधिक दुदमनीय शक्ति व प्रभाव की भी कल्पना को जा सकती है लेकिन य समस्त कल्पनाए मूल्य निणय देते समय उदारवादी मानको का सहारा लेती हैं जबकि रूसो की समस्या का केन्द्र बिन्दु असमानता दूर करना और उसके उपरात व्यक्तियो को व्यवस्था द्वारा परिष्कृत सुख सुविधाओ व व्यवस्थापरक समानता उपलब्ध कराना है। अत गर-उदारवादी गतव्यो व अभिप्रेरणाओ का ठेठ उदारवादी मूल्य व्यवस्था द्वारा आकलन कहा तक यायोचित है। आज के सदभ म यह कहा जा सकता है कि रूसो न तो निरकुशता के हॉब्सवादी प्रतिमान से जडा हुआ था और न ही वह लॉक की भाति उदारवादी साविधानिक सरकार का पक्षधर था। वह वास्तव मे अभिप्रेरणात्मक लोकतत्र (Mobilizatinal democracy) से सम्बन्धित था और इस सदभ म ही वह व्यक्ति, समाज, राज्य व सरकार के अ तत सम्बध स्थिर किए जाने का पक्षधर था। यह स्वीकाय होना चाहिए कि लोकतत्र इ ग्लैण्ड मे अथवा अमेरिका म ही नहीं कायशील है वह चीन-रूस आदि देशो म भी व्यवहारशील है—पहली अवस्था मे वह उदारवादी सहभाग (Liberal participation) पर आधारित है जबकि दूसरी अवस्था मे वह व्यवस्थात्मक अभिप्रेरणाओं (systemic mobilization) पर अवलम्बित है। दोनो ही प्रतिमान अपने-अपने यथाथ को अपने अपने क्रम म स्पदनशीलता देते है।

रूसो के विचारों का आकलन

रूसो का आकलन अनेक विचारणीय व विवादास्पद प्रसग समाहित करता है। जहा तक उसकी सराहना का प्रश्न है, वह मुख्यत निम्न आधारो पर की जाती है—

1 रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता का भाव प्रतिष्ठित किया और इस आधार पर सम्प्रभु द्वारा सम्प्रभु के प्रतिस्थापन की वचारिक प्रस्तावना प्रकट की, जो अब तक के क्रम मे एक अभूतपूर्व वृत्ति थी और जिसे मेकाइवर समेत अनेक अध्येताओ ने स्वीकार किया है।

2 सिगविक ने रूसो के विचारो के तीन प्रतिनिधि तत्त्व इगित किए हैं—

[अ] व्यक्तियो की नैसर्गिक स्वतन्त्रता व समता, [ब] इन स्वतन्त्र व समान व्यक्तियो के स्वैच्छिक समझौते द्वारा सरकारी अधिकारो व शक्तियो का निरूपण, तथा [स] व्यक्तियो द्वारा सामुदायिक रूप से निरूपित हित की सामान्य इच्छा के रूप मे प्रभावी सम्प्रभुता। इन तत्त्वो के सम्मिलित प्रभाव स्वरूप सिगविक की दृष्टि मे रूसो 'शक्ति' की उपेक्षा 'इच्छा' को राज्य का आधार मानता है तथा

[3] प्रत्यक्ष लोकतान्त्रिक व्यवस्था सम्बन्धी रूसो की प्राथमिकता वस्तुत व्यक्तियो को राज्य तन्त्र म सक्रियता दिलाने की चेष्टा है ताकि, व्यक्ति अपना आधारभूत इच्छा का स्वय के प्रयासो से चरितार्थ होते देखें और आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप करके अपनी इच्छा को सरकारी विकृतियो से बचाए।

रूसो की अधिकाश आलोचनाए उसकी सामान्य इच्छा के विचारो से अभिप्रेरित है। इनमे से कुछ प्रमुख आलोचनाए इस प्रकार है—

1 रूसो को कई अध्येता सर्वाधिकनायकवाद [totalitarianism] का प्रतिपादक मानते है। इस मान्यता का एक विशेष ग्रथ टल्मन का टोटेलिटेरियन डिमाक्रेसी है। इस मान्यता का आधार है कि रूसो के विचार नीति और तत्सम्बन्धी भयावहताओ का प्रत्यक्ष आभास दिलाते हुए निरकुशतन्त्र की ओर निर्देशित करते हैं। इसके अतिरिक्त, *समसामयिक वामपथी समाजवादी व्यवस्थाओ* ने प्रचलित कथित सर्वाधिनायकवादी पदावली मे रूसो की पदावली म साम्य ढूढा जाता है और इस सदर्भ मे रूसो द्वारा

प्रयुक्त भाव कि व्यक्ति "जबरन मुक्त किए जायेंगे [forced to be free"] का उल्लेख किया जाता है।

2 सामान्यत यह कहा जाता है कि रूसो की सामान्य इच्छा निरकुश शक्ति की परिचायक है, कि व्यक्ति को सामान्य इच्छा से असहमति का कोई अधिकार नही है, कि राजनीतिक सत्ताधारी व्यक्तिगत इच्छा के प्रतिनिधियो व वर्गों को सामान्य इच्छा के औचित्य के नाम पर कुचल सकते है और यह भी कि सामान्य इच्छा का सम्पूर्ण निरूपण रहस्यवादी ढग से हुआ है जिसके कारण सामान्य इच्छा वैचारिक दृष्टि से दुरूह व अगाह्य है, तथा

3 समानता के प्रति उसके आग्रह को भी अग्रमर नकारात्मक अभिव्यजनाओ से सयोजित किया जाता है और एसा करते हुए यह वैचारिक दावा व्यक्त किया जाता है कि रूसो समानता से उतना प्रतिबद्ध नही है जितना कि असमानता मे उत्पन्न विसगतियो की व्याख्या से। इस कारण 'समानता' प्रासगिक है जबकि असमानता की व्याख्या बुनियादी क्योकि असमानता की व्याख्या से उसके राजनीतिक विचारो के सूत्र पनपते है, विकसित होते है और प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठितहोते हैं। यह भाव कार्ल फ्रार्डरिख के प्रख्यात 'एन इन्ट्रोडक्शन टु पॅलिटिकल थिअरी' म निहित है।

इन प्रमुख आलोचनाओ के सदभ मे भी काफी कुछ कहने की गुजाइश है। विस्तार मे न जाते हुए यह फिर भी स्पष्ट किया जा सकता है कि रूसो न तो लाक्वादी लोकतन्त्र के प्रति उत्साही है और न, ही हाब्सवादी निरकुशतत्र के प्रति। उसने वस्तुत अपनी वैचारिक योजना मे प्राकृतिक अवस्था विषयक अपने प्रमुख तर्क आधार निर्मित किया और उसके सदभ मे अपनी परवर्ती विचार योजनाए विकसित की। सामान्य इच्छा का विचार वस्तुत उसकी प्राकृतिक अवस्था की ही तार्किक परिणति है। अपने पराये के भाव से युक्त जगली वहशी मे उपचार का न तो लोकतत्र इ तजाम कर सकता था और न ही निरकुशतत्र। इसकी कोई मिश्रित व्यवस्था ही इस सदभ मे कारगर साबित हो सकती थी। रूसो ने आधारभूत लोकतत्र और सामायिक अथवा प्रासगिक सदभ म निरकुशता के तत्वो को सयोजित किया। व्यक्ति जब तक भला है लोकतत्र चलता रहेगा और जब व्यक्ति वहशीपन पर उतारू हो जाएगा तो प्रभावी म प्रभावी लोकतत्र उसे सम्भाल नही सकता। उसको वश मे लाने के लिए व्यवस्था की मजबूत जजीरें उस पर डालनी ही हागी। आज कोई भी लोकतत्र तभी चल सकता है जबकि उसका परिवेश लोकतान्त्रिक हो, उसके अभाव म लोकतत्र ठहर जाता है।

फिर जब सामुदायिक सहमति के आधार पर सामान्य इच्छा निर्धारित की गई जो व्यक्तिगत संकीर्ण हितों के स्थान पर सार्वजनिक हित की कल्पना व उसका संसाधन करती है तो उससे असहमति का कोई आधार हो भी क्या सकता है। उससे असहमति क्या पूर्ववर्ती स्थिति की ओर वापिस समाज को ला पटकना नहीं होगा ? निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि रूसो और चाहे जो कुछ भी क्यों न हो वह कम से कम सर्वाधिनायकवादी तो नहीं है। व्यक्ति पर प्रगाढ़ विश्वास रखने वाला और इसको केन्द्र मे प्रतिष्ठित करते हुए अपने विचार निर्मित करने वाला कोई भी विचारक सर्वाधिनायकवादी नहीं हो सकता। एक बार फिर कार्ल फ्राइडरिख के कथन का आश्रय लेते हुए यह प्रसंग समाप्त किया जा सकता है—"मैं आश्वस्त हूं कि रूसो को सर्वाधिनायकवाद से जोड़ना गलत अधिक है और सही कम। इसका कारण यह है कि रूसो का बल करुणा पर है जबकि सर्वाधिनायकवाद का सर्वाधिक दुखद लक्षण करुणा के प्रति उसका पूर्ण निरादर है। करुणा को बुजुआ भावुकता व मानवतावाद कह कर अधिनायकवादी उसका उपहास करते हैं। अमूर्त विचारधारा के नाम पर बिना किसी खेद (अथवा प्रायश्चित) के लाखों-करोड़ों लोग मार जाते हैं।

हॉब्स, लाक व रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धांतों की अपेक्षाकृत सविस्तार चर्चा के उपरांत अब राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धांत का सरलता पूर्वक आकलन किया जा सकता है।[2]

सामाजिक समझौता सिद्धांत का आकलन

सामाजिक समझौता सिद्धांत के आकलन के क्रम में सर्वप्रथम उसकी असंगतियों की ओर इंगित करना उपयुक्त होगा जो इस प्रकार है

1 सामाजिक समझौता सिद्धांत को तथ्यों व प्रवृत्तियों के रूप मे आलोच्य ठहराते हुए ह्यूम ने यह कहा कि यह तथ्यों से सर्वथा असंगत है। ब्लुशली ने इसे अत्यधिक खतरनाक व्याख्या माना क्योंकि, उसकी दृष्टि में इस सिद्धांत द्वारा राज्य की उत्पत्ति को 'व्यक्तिगत सनक' के अधीन माना जाता है

2 ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी आलोचना करते हुए सर हैनरी मेन का यह मत था कि यह सिद्धांत मात्र काल्पनिकता पर ही आधारित है और इसके पक्ष में मान्य ऐतिहासिक साक्ष्य अनुपलब्ध है। 1620 के 'मे फ्लावर काम्पेक्ट' पर टिप्पणी करते हुए अधिकांश अध्येता उसे एक ऐसा दस्तावेज मानते हैं जो उसके लेखकों की सरकार संबंधी वास्तविकताओं से अंतरंगता प्रदर्शित करता है। गिल क्राइस्ट की यह मान्यता है कि इस काम्पेक्ट द्वारा

इसके निधारको व लेखको ने भिन्न स्थितिया मे अपन सरकारी ज्ञान व आभास को पुन स्थापित ही किया है,

3 समाजशास्त्रीय तथ्यो से भी यह बात पुष्ट नही होती कि समाज व तदुपरांत राज्य व सरकार का स्वच्छिक समझौते के आधार पर गठन किया गया होगा। इस धारणा के पक्षधर अध्येता अपन समथन म इस तथ्य का उद्धत करते है कि प्रारभिक समाज म व्यक्ति का दर्जा समाज समूह निर्धारित करते थे और व्यक्ति उसे बदल नही सकता था। भारतीय जाति व्यवस्था का भी इस सपप मे बहुधा हवाला दिया जाता है।

4 प्राकृतिक अवस्था व उसमे निरूपित व्यक्ति की प्रकृति भी काल्प-निकता पर अधिक आधारित है न कि तथ्यात्मकता पर। व्यक्ति का जीवन क्रम प्राकतिक अवस्था म भी व्यक्तिगत सदभ म न चरिताथ होकर वस्तुत समूहगत सदभ मे चरिताथ होता था और समूह मे जीवन-यापन करते समय व्यक्ति न ता हाब्स के व्यक्ति की भाति वदरग था और न रूसो के व्यक्ति की भाति सतरगी-इन्द्रधनुषी रग विधाभा से चमकता-दमकता ही,

5 कानून, अधिकार एव स्वतन्त्रता की प्राकृतिक अवस्था मे कल्पना भी दोषपूण है। कानन, अधिकार व स्वतन्त्रता प्रबुद्ध सामाजिक चेतना व कानून की प्रवतनकारी क्षमता से प्रकट होत है और यह क्षमता प्राकृतिक अवस्था मे कल्पनातीत ही है। यदि ये विद्य-मान थे और उस सदर्भ मे अपूण व अपर्याप्त ता उनकी उसी क्रम म मरम्मत की जा सकती थी, नए हिस्से बीन चुन कर नई अभियान्त्रिकी द्वारा नई सामाजिक मशीन तयार करने की क्या आवश्यकता थी ?

6 यह सिद्धा त अति 'मशीनी' है और इम प्रकार यह राज्य क्रियाओं की अति यान्त्रिक व्याख्या उपलब्ध कराता है। ऐसा करत हुए यह विस्मत कर दिया जाता है कि राज्य वस्तुत नर्सागक सस्था है जिसका उदय होता है, निर्माण नही, तथा

7 यह कहा जाता है कि समझौतावादियो की मशा ही राज्य उत्पत्ति की व्याख्या सुलभ करान की नही थी। वे तो दरअसल प्राथमिक रूप से राज्य सत्ता का आधार निरूपित करना चाहत थे और इस मतव्य से प्रेरित होकर उन्होने केवल व ही भाव व तथ्य स्वीकार किए जो उन्ह उनकी वचारिक योजना मे सहायता प्रदान

करते थे। असुविधाजनक तथ्यों की उन्होंने इस क्रम में प्रकट रूप से अवहेलना की।

इन आलोचनाओं के बावजूद यह मत प्रतिपादित करना गलत नहीं होगा कि भले ही मानवीय या विचार स्तर पर ही क्यों न हो और वह भले ही काल्पनिक प्रकृति का भी हो, समझौतावादियों ने ही संगठित रूप से राजनीतिक संस्थाओं व कार्मिकों को मानव प्रकृति के संदर्भ में देखा और इस ग्राह्य आधार पर राजनीतिक विश्लेषण को सुगमता प्रदान की। समझौतावादियों ने सम्प्रभुता की भी उपयोगितापूर्ण व्याख्या सुलभ की और इस दृष्टि से कानूनी व लोकप्रिय सम्प्रभुता भाव प्रस्फुटित करके उन्होंने कानून व यथार्थ का अपना एक ऐसा निजी प्रतिमान बनाया जो परवर्ती विचारकों आदि ने सुगमतापूर्वक ग्रहण किया। इसी प्रकार, सहमति के आधार पर शासन' की वैचारिक व्यवस्था ने भी समझौतावादियों को लोकतान्त्रिक मूल्यों के बीजारोपक के रूप में प्रतिष्ठित किया। एक नकारात्मक योगदान के रूप में समझौतावादी-सर्वाधिनायकवाद की बीसवीं शताब्दी की वास्तविकता को वचारिक तक संगति देने के दोषी भी ठहराए जाते हैं।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त भारतीय संदर्भ

भारत के संदर्भ में डी आर भण्डारकर ने कौटिल्य द्वारा दी गई सामाजिक समझौता व्याख्याओं को पश्चिमी सिद्धान्त के एक तुलनीय भारतीय सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। विविध प्राचीन भारतीय संस्कृत जैन व बौद्ध स्रोतों का अनुशीलन करते हुए भण्डारकर की यह मान्यता है कि प्राचीन भारत में सम्प्रभुता सामाजिक समझौते से उत्पन्न हुई इन संदर्भों में प्रकट प्राकृतिक अवस्था अशांति संघर्ष व युद्ध की परिचायक थी लोगों ने जब अपनी स्वतन्त्रताएं सम्प्रभु शासक के हवाले की तो उस स्थिति में नई व्यवस्था का सृजन हुआ। हाब्स के विश्लेषण से काफी अंशों में प्रभावित भण्डारकर का यह मत एक स्तर पर भिन्नता का आभास देता है जबकि वह यह सुझाते हैं कि भारत में राजा निरंकुश शक्ति का सूचक नहीं था वह 'जनसंरक्षक अथवा जनसेवक' था। अर्थशास्त्र में निहित इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए कि मनु का उसके शासन के एवज में 1/6 भाग अन्न व 1/10 भाग पण्य देने का स्वीकार्य प्रस्ताव किया गया, भण्डारकर यह तक देते हैं कि यह वस्तुतः सर्वोच्च स्तर के जनसेवक का वेतन अथवा पारिश्रमिक था जो कि समझौते द्वारा निर्धारित किया गया। इस संदर्भ में उनकी यह स्थापना है कि भारतीय सामाजिक समझौता सिद्धान्त पश्चिमी सिद्धान्त से श्रेष्ठतर' है और इसका कारण सम्प्रभुता की निरंकुशता के प्रति भारतीय मनीषियों की चेतनशीलता है।

भण्डारकर के इस मत का भास्कर आनन्द सेलेटोर ने खण्डन किया है और अपने पक्ष म अर्थशास्त्र का तथ्यात्मक उल्लेख किया है जिसम यह उल्लिखित है कि प्रस्तुत प्रसग एक गुप्तचर के मुख से प्रकट करवाया गया जिसका काय राजा-आदेशित मत का प्रतिपादन करत हुए राजा की दृष्टि से लाभकारी बातो का प्रचार करना था और इसे वस्तुत क्रियान्वित दत हुए अन्य पदाधिकारियो, विशेषत प्रधानमत्री की निगरानी करनी थी। एसे व्यक्ति स प्रकट समझौता भाव केवल 'प्रासगिक' है और उसमे इससे अधिक कुछ पाना केवल बौद्धिक विलासिता। सेलटोर के मत मे अर्थशास्त्र शासक की सर्वोच्च इच्छा व इस दृष्टि स निर्णायक केन्द्रीकरण उपस्थित करत हुए राज्य विषयक किसी भी समझौते की व्यवस्था नही करती।

राज्य उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

राज्य उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धात मूलत इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य की उत्पत्ति किसी एक व्याख्या अथवा घटक की भूमिका पर निभर नहीं है बल्कि, वह अनेक व्याख्याओं व घटका की परस्पर अन्त क्रिया का परिणाम है। राज्य उत्पत्ति का यह समग्र दृश्य सयोजन एक ओर जहा नए घटका व कारकों के 'क्लोज़ अप' उपलब्ध कराता है वही दूसरी ओर धूमिल पडते पाश्व चित्र तब तक नही मिटते जब तक कि नए परिवेश व समाजजन्य शक्तिया का गठजोड नए परिदृश्य का पूर्णत स्थिर नही करता। यह क्रम वास्तविक जीवन मे दूरदशन की दृश्य-सयोजन विधा द्वारा अधिक सुगमता से समझा जा सकता है जहा 'ज़ूम' 'लेन्स' की सहायता से दूर का चित्र क्रमश पास आता है और उसको स्थान देने के क्रम मे पूववर्ती चित्र धुधला पडता जाता ह लेकिन वह तब तक नही मिटता जब तक कि नया चित्र पूणत फोकस नही पा लेता। चित्रा के इस स्थापन प्रतिस्थापन क्रम म सदव एक स्वत निर्मित व अशत निधारित क्रमबद्धता, लय व सगति विद्यमान रहती है। समाजशास्त्रिया व राजनीतिक अध्येताओ ने राज्य उत्पत्ति व विकास के विविध घटका को कथानक की कसावट म बाधकर उसके क्रम व तत्सम्बधी प्रभाव का समग्रतापूवक अध्ययन व विश्लेषण किया है और ऐसा करते हुए राज्य के प्रारम्भ से लेकर उसके सुसगठित रूप की तार्किक सगतियुक्त व्याख्या की है।

राज्य के विकासक्रम म निम्नलिखित तत्त्वा को प्रधानता दी जाती है

(i) सगोत्रता अथवा रक्त सम्बध (kinship),

(ii) धम (Religion)

(iii) आर्थिक गतिविधिया (Economic Activities)

(iv) बल (Force), तथा

(v) राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)

(i) सगोत्रता अथवा रक्त सम्बन्ध

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि रक्त-सम्बन्ध अथवा सगोत्रता सामाजिक एकता का सर्वप्रथम एवं सर्वशक्तिमान बंधन था। इसी के आधार पर व्यक्ति व्यक्तियों से अभिन्न था और इसी के द्वारा परिवार की इकाई आरम्भिक पा सकी थी। पारिवारिक परिवेश व कालांतर में पारिवारिक अनुशासन, कार्य-सम्पादन व सहमति क्रियाओं के संगठन के साथ परिवार एक संस्था के रूप में उभरा और इन सबके वृहत् समाजीकरण द्वारा सरकार का अस्तित्व प्रकट हुआ। इसी प्रकाश में मेकाइवर का यह कथन ग्राह्य लगता है कि सगोत्रता समाज की रचना करती है और समाज व्यापकतः राज्य निर्मित करता है।[19]

एक सामाजिक संगठन के रूप में सगोत्रता आर्थिक गतिविधियों, राजनीतिक क्रियाओं, धर्म व यहां तक कि युद्ध विषयक प्रश्नों पर भी अपनी गहरी छाप छोड़ती है। रक्त सम्बन्धों की प्रधानता से युक्त परिवार एक सामाजिक संस्था के रूप में व्यक्ति व समाज के बीच मध्यस्थता करते हुए एक ओर उसे बड़ी दुनिया से जोड़ता है और परिवारेतर प्रश्नों से सामना करने को प्रेरित करता है तो दूसरी ओर वह तत्काल ही उसे संरक्षण व निर्जीवन का आधार भी उपलब्ध कराता है।[0] सामाजिक विकासक्रम में परिवारों का प्रथमतः विस्तारित रूप प्रकट हुआ जिसमें एक साथ तीन पीढ़ियां साथ रहकर जीवन-यापन करती थीं जिसका प्रकट उदाहरण भारतीय संयुक्त परिवार प्रथा है। विस्तारित परिवार के ही एक अन्य रूप में बहुल विवाह से युक्त पारिवारिक संरचना भी प्रकट हुई जिसमें दो या दो से अधिक परिवार एक पिता के साए में पलते विकसित होते थे। सामाजिक परिवर्तन की गति ने परिवार के विस्तारित सगोत्रीय आधार को खण्डित किया और एकल परिवारों की रचना हुई जिसके संदर्भ में विवाह प्रक्रिया की 'प्राइवेसी', विवाह की चयन परकता द्वारा उसके पूर्ववर्ती आवश्यकता-आधार का प्रतिस्थापन, सगोत्री व बंधनों की शिथिलता के साथ एकल परिवारों की निवास सम्बन्धी गतिशीलता, श्रमशक्ति के संघटक के रूप में स्त्रियों को मान्यता व उनकी तदनंतर मुक्ति तथा संतानों की अपने पिता व पितामह के प्रति घटी हुई जिम्मेदारियां आदि लक्षण संस्थागत रूप में प्रकट हुए।[1] इन नई प्रवृत्तियों के बावजूद सगोत्रता आज भी समाजशास्त्रीय प्रासंगिकता प्राप्त है। माइकेल यंग व पीटर विलमाट द्वारा लंदन के बेथनल ग्रीन समुदाय का अध्ययन यह संकेत देता है कि सगोत्रीय क्रिया कलाप वहां आज भी परिलक्षित होते हैं जिनका समसामयिक

आर्थिक क्रियाओं व गतिविधियों पर गहन प्रभाव पड़ता है, साथ ही व्यक्तिगत सम्बंध भी इनसे निर्धारित होते हैं।

इस प्रकार राज्य के विकास में संगोत्रता ऐतिहासिक साक्ष्यों को उपलब्ध कराती है जिसके आलोक में सामाजिक राजनीतिक संरचनाओं का विकास विश्लेषित किया जा सकता है। पारिवारिक प्रवृत्तियों व व्यवस्थात्मक विधियों ने सामाजिकता का दर्जा पाने के उपरांत व्यक्तियों के राजनीतिक सम्बंधों को पर्याप्त ढाला और राजनीतिक सम्बंधों की परिपक्वता ने व्यक्तियों को सामाजिक सुव्यवस्था के लिए कालांतर में राज्य संरचना के लिए अभिप्रेरित किया ही होगा, यह एक ऐसी पूर्वकल्पना है जो सहज प्रकाशित होती है—एक ऐसी स्थिति जो इतिहास के साक्ष्यों व मानववृत्ति से संगत है।

(ii) धर्म

धर्म और संगोत्रता दोनों संयुक्त रूप से क्रियाशील होकर हमारी इस मूल संकल्पना को पुष्ट करते हैं कि राज्य के विकास में एकाधिक तत्त्व आपस में जुड़कर अपनी भूमिका निभाते हैं और इस संयुक्त आधार पर राज्य पनपता है।

व्यक्ति की अवचेतन अथवा अर्द्ध चेतन मानसिकता को धर्म का सहारा कुछ सान्त्वना प्रदान करता था क्योंकि उस क्रम में व्यक्ति अनजानी भौतिक क्रियाओं को अधि प्राकृतिक (super natural) मान लेता था और धर्म से उन्हें संसाधित करने का प्रयास करता था। दैनिक जीवन में घटने वाली प्राकृतिक व व्यक्तिगत समस्याएं उसे परेशान करती थीं और वह उनके उत्तर पाने को बेचैन रहता था—उदाहरण के लिए धूप क्या खिलती है? उसमें उष्णता क्यों होती है? काली घटाएं क्यों छा जाती हैं जो उमड़ उमड़ कर बरस पड़ती हैं और धरा को जलप्लावित कर देती हैं? मृत्यु क्या होती है? उसका रहस्य क्या है? मृत्यु के बाद व्यक्ति की क्या नियति होती है? व्यक्तियों में प्रेम और सहयोग तथा घृणा और संघर्ष क्या होते हैं? हम अनचाहे ही लड़ क्यों जाते हैं और चाह कर भी प्रेम क्यों नहीं कर पाते—ये और इनके जैसे अनेक प्रश्न व्यक्ति को निरंतर झकझोरते रहते थे और अधूरी सामाजिकता से युक्त व्यक्ति अपने आपको नितांत बेसहारा और बेबस मानता था। स्थिति के समाधान स्वरूप उसने इन समस्त अधि प्राकृतिक शक्तियों का दैविक स्वीकार किया और इनके संसाधन में प्रयुक्त होने की कार्य विधियों व अधिष्ठाताओं को लोक मान्यता दी। प्रारम्भ में परिवार की इकाई से ये कर्मकाण्ड व इनसे सम्बंधित धार्मिक सत्ताधारी जुड़े और उसके बाद उनकी परिवारेतर मान्यता बढ़ी। इसी क्रम में उन्होंने बहुत सामाजिक मान्यता प्राप्त की और ऐसा करके इन्होंने अपनी सत्ता को सामाजिक आधार उपलब्ध कराया। अज्ञानी व अर्द्ध ज्ञानी व्यक्तियों के स्वभावगत आज्ञापालन व

आस्था की दृष्टि से धर्म का जादुई व तिलिस्मी रूप प्रकट हुआ। चमत्कारी कर्म काण्डियों ने अपने कौशल से सामाजिक प्रतिष्ठा पाई और उनके निर्देश आदि सामाजिक दृष्टि से आस्था व अनुकरण के विषय बने। सामाजिकता की दृष्टि से धर्म का यह लौकिकीकरण (धर्म का जनमानस व इह लोक में प्रसार) महत्व पूर्ण था क्योंकि इसके क्रम में व्यक्ति व व्यक्तियों को सुरक्षा मिलती थी और इसके क्रम से बंध कर ही वे अपने अव्यवस्थित जीवन क्रम को व्यवस्थित करते थे। सत्ता व आधिपत्य का यह लोकधर्मी आधार विवेक सम्मत व तार्किकता से परिपूर्ण नहीं था बल्कि, वह अंधविश्वास व अनजानी शक्तियों के प्रति भय पर आधारित था, फिर भी उसमें व्यवस्था का आरम्भ हुआ, धार्मिक सत्ता ने आचरण को धार्मिक कानूनों से सम्मति प्रदान करवाई और धर्म निषेध की स्थिति में कठोरतम दण्ड की भी व्यवस्था की। तिलिस्मी व कर्मकाण्डी व्यक्तियों द्वारा समाज पर राज करने के इस आदि उदाहरण से ही राज्य सरकार व कानून का आभास पाया जा सकता है। वैसे भी प्राचीन संदर्भ में राज्य धर्म व राजनीति के पार्थक्य को चरितार्थ करते थे। वस्तुत धार्मिक सत्ता ही व्यवस्था का नियमित करके स्वापत्तशासी राजनीतिक संदर्भ की पूर्ति करती थी। इसी सत्ता के प्रति लोक आस्था व आज्ञापालन सुरक्षित था। इसी संदर्भ में राजा अपने धार्मिक दैविक अस्तित्व के नाम पर राज सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने की पेशकश करते थे। राज्य की दैविक उत्पत्ति का पूर्वचर्चित सिद्धान्त राज्य व राजनीति को धार्मिक गियर' से संचालित करते हुए और राजसत्ता को 'लोकेत्तर' बनाते हुए धर्म व राजनीति के संयोजित स्वरूप को ही ऐतिहासिकता प्रदान करता है। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए जेम्स फ्रेजर, मेकाइवर व गेटिल ने अपनी-अपनी स्थापनाएं प्रस्तुत की है और धर्म को राज्य विकास का एक प्रभावी माध्यम माना है।

(iii) आर्थिक गतिविधियां

सामाजिक विकास के क्रम में आर्थिक गतिविधियां व आजीविका निर्धारित करने की पद्धतियां का विशेष योगदान रहा है। इन गतिविधियों ने अपने कुल प्रभाव द्वारा व्यक्ति को व्यावहारिक आर्थिक दृष्टि से सुरक्षा प्रदान की, भौतिक दृष्टि से सम्पन्नता दिलाई समझ की दृष्टि से सुव्यवस्थित-वैज्ञानिक कार्यविधियों से लैस किया और सामाजिक दृष्टि से सहयोग परक व मैत्रीपूर्ण बनाया। जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित इन विशिष्ट गुणों का संयोजित करते हुए व्यक्ति ने अपने निजी व सार्वजनिक परिवेश का परिष्कार किया। इस परिष्कार ने जहाँ एक ओर स्थितिजन्य असमानताओं और संघर्ष को उत्पन्न किया वहीं दूसरी ओर इनके निराकरण स्वरूप सामाजिकता के अभिनव नियम व नियमनकारी व्यवस्थाएं भी

पदा की। इनके योग से व्यक्तियो ने समस्त विरोधाभासो के बावजूद अपने को एक दूसरे के साथ नियमित करने की समय पाई और राज्य के तीन अनिवार्य तत्वों को सुलभ कराया—जनसख्या, क्षेत्रफल एव सरकार।

प्रारम्भ मे व्यक्ति शिकार के रूप मे जो कुछ मिलता था, खा पी लेता था। अपना पेट पालना उसका अभीष्ट था और इस उद्देश्य से जो कुछ भी उसे मिले वह उसकी उपलब्धि होती थी इस उपलब्धि के स ग्राम म कुछ भी वर्जित नही था जो कुछ भी प्राप्य हो वह सही था। व्यक्ति पेट पालने के क्रम म इधर उधर घूमते हुए जो कुछ भी मिले वह उठा-मार कर खा लेता था—कन्द मूल, फल पशु पक्षी कुछ भी। कालान्तर मे उसे यह आभास हुआ कि पशु आहार का ही विषय नही है उनकी उसके जीवन मे कुछ अन्य उपयोगिताए भी सम्भावित है, जैसे घोडे पर चढकर यातायात का प्रबन्ध किया जा सकता है और भौगोलिक दूरी अधिक सुगमता से कम की जा सकती है। इसी प्रकार, गाय, भैंस, बकरी इत्यादि को मारकर खाना सीमित आहार प्राप्त करना ही होगा जबकि उन्ह पालकर दूध-सेवन का असीमित लाभ अर्जित किया जा सकता है। अपने बाह्य परिवेश के प्रति इस नए ज्ञान व अनुभूति ने व्यक्ति की शिकारी वृत्ति पर अकुश लगाया और उसे शिकारी अवस्था से पशुपालक अवस्था में पहुचा दिया। इस अवस्था मे व्यक्ति ने स्थिर स्थायी निवास व भूमि का अधिग्रहण किया और अपने पशुओं को पालने का अभ्यास किया। सतत् अभ्यास व अनुभव ने उसके पशु धन म निरन्तर वृद्धि की। स्थायी रूप से रहने-बसने के क्रम मे परिवार का एक सस्था के रूप म उदय हुआ, पारिवारिक नियम-विधान बने, पतक नेतृत्व व अनुशासन बलवती हुआ और सम्पत्ति की वास्तविकता प्रकट हुई। स्थितियो के इस सम्मिलित क्रम ने स्थिर जनसख्या व स्थायी क्षेत्रफल प्रदान करते हुए व्यक्तियो को राज्य व सरकार के समीप ला खडा किया। आवश्यकता केवल इस बात की थी कि राज्य का आर्थिक आधार व सुसगठित सरकारी-तन्त्र किस प्रकार उपलब्ध हो? तीसरी अवस्था मे खेतिहर-किसान की भूमिका उस सदर्भ म उत्पन्न हुई जब बढते पशु धन व उनकी चरागाह व्यवस्था के साथ-साथ पारिवारिक भरण-पोषण की आवश्यकता ने सिर उठाया। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए व्यक्ति न अपनी भूमि पर ही पशुओ के चारे व परिवार के लिए अन्न बोना प्रारम्भ किया और इस प्रकार अब तक की अनुत्पादक भूमि को कृषि उत्पादकता से सयोजित किया। अपनी भूल सुधार करते हुए और पडोसी के कृषि प्रयोगो से लाभान्वित होते हुए व्यक्तियो न क्रमश अपने समाज को कृषक समाज के रूप म ढाला और कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था से लाभ उठाते हुए जब एक चरागाह समूह निश्चित क्षेत्र म बस गया तो प्रारम्भिक राज्य का उदय हुआ जिसने मानव सम्बधो म नियमनकारी

व्यवस्थाएं प्रवर्तित कीं। इस प्रकार राज्य विषयक समस्त आवश्यकताओं का सिलसिला लगभग पूर्णता की ओर उन्मुख होते हुए स्थायित्व पा गया और जनसंख्या, क्षेत्रफल व सरकार से युक्त यह राज्य-व्यवस्था अपने स्वाभाविक क्रम में राज्य सम्प्रभुता का लक्ष्य पाने का उपक्रम करने लगी।

(iv) बल

राज्य के विकास में बल का तत्व के रूप में आकलन अन्यत्र किया जा चुका है। यहां एक बार फिर सारस्प में उसकी सघटक भूमिका की ही पुन अभिव्यक्ति किया जा रहा है। व्यक्ति की स्थिरता पारिवारिक सगठन, सम्पत्ति की विषमता व राज्य-सरकार सम्बंधी व्यावहारिता ने उस सगठित शक्ति व बल को अस्तित्व दिया जो राज्य-अनुमोदित व सरकार प्रवर्तित था। इस क्रम में नए अधिग्रहणों से राज्य सगठित हुआ अव्यवहार्य क्षेत्र प्रभावी राज्य से जुड़ कर नई उपयोगिता के क्षितिज पाने लगे। राज्यों से साम्राज्य बने और इस प्रकार राज्य-समुदाय में बड़े राज्यों, मध्यस्थ राज्यों व छोटे राज्यों का एक अभिनव पद सोपान उपस्थित हुआ। इसी क्रम में अधुनातन शस्त्र व्यवस्थाओं का अन्वेषण हुआ और युद्ध प्रणाली सृजित हुई। इसके अतिरिक्त, राज्य-व्यवस्थापन के लिए स्थायी सेना का गठन भी हुआ जो आज भी राज्य शक्ति का एक महत्वपूर्ण मापनीय विषय है। बल की महत्ता का क्रम सोल्टओ के इस कथन से समझा जा सकता है कि "सघर्ष व युद्ध प्रणाली ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य निर्माण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं और यह निश्चित है कि बल के द्वारा भी दो समूहों का एकीकरण कुछ समय उपरांत ऐसे समान हित विकसित करता है जिससे एक एकता का भाव प्रस्फुटित होता है।[3] बल की राज्य निर्माणकारी तत्व के रूप में सामान्य मान्यता के बावजूद यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि वह राज्य निर्माण का केवल एक (केवल एक) महत्वपूर्ण सघटक है एकमात्र नहीं।

राजनीतिक चेतना

उपरोक्त सामाजिक विकास क्रम व्यक्ति में चेतना का वह सामाजिक, राजनीतिक भाव मुखरित कर सका जिसमें व्यक्ति 'स्व' और सवस्व में तारतम्यता स्थापित करने में सफल हुआ। उसे यह बोध हुआ कि सुख-सम्पन्नता की सामाजिक खोज कोई एकाकी साधना नहीं बल्कि एक सामुदायिक प्रयास है—एक ऐसा प्रयास जो सभी की चेष्टाओं पर अवलम्बित है। यह सम्भव है कि इस प्रयास में सब एक समान ग्रहण नहीं करेंगे। (असमानताएं तो होंगी ही) लेकिन यह बिल्कुल असम्भव है कि कुछ तो अधिकांश पाएं और कुछ बिल्कुल भी नहीं। कोई न कोई व्यवस्था तो ऐसी होनी ही चाहिए जो सब का नियमित

नियंत्रित करे और इस क्रम में न्यूनाधिक रूप से 'एक का सबके लिए' 'और सब को एक के लिए' ढाले। राज्य व सरकार की कल्पना ऐसी ही नियमनकारी एजेंसी के रूप में की गई और उसकी सत्ता को सामुदायिक स्वीकृति व अनुपालना चेतना मिली। सामाजिक परिवर्तन ने कालांतर में इस वृत्तिपरक चेतना को चेतन शील उद्देश्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसके अंतर्गत सामाजिक राजनीतिक मूल्यों का 'समाजीकरण' प्रक्रिया द्वारा अंतःस्थ किया गया। इस चेतना की अभिव्यक्ति देते हुए सोल्टआ का यह कथन उल्लेखनीय है कि "सगोत्रता धर्म आहार की आवश्यकता व रक्षा तथ्यतः एसे सक्रिय दिमागों के साधन बने जो कुछ ससक्तिशील व सगठित की इच्छा करते थे और जो अपनी इस इच्छा को अपने समूह में व अन्य समूहों में व्यक्तियों पर आरोपित करते थे।" [4]

राज्य की उत्पत्ति व विकास से सम्बंधित यह चर्चा उपयुक्ततः यह इंगित करती है कि राज्य किसी एक व्याख्या अथवा घटक का परिणाम नहीं है बल्कि, वह अनेक ऐतिहासिक अवस्थाओं में विविध घटकों की अंतःक्रियाशीलता से निर्मित है ऐतिहासिक दृष्टि से विविध भौतिक अवस्थाओं ने व्यक्ति समूह व समाज के मध्य एसे विविध सम्बंध प्रतिमान सुलभ कराए जिनके क्रम में सामाजिकता संगठित हुई और राज्य व सरकार का विशिष्ट स्वरूप उपस्थित हुआ। इन विविधताओं के संदर्भ में ही सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक गतिविधियों का निरूपित करते हुए राज्य के विकास क्रम का आकलन किया जा सकता है। विशेषतः पश्चिम के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राज्य संस्था के ऐतिहासिक तत्त्व यूनानी राज्य व्यवस्थाओं में उपलब्ध थे। यूनानी संदर्भ में विद्यमान राज्यों के दो विशिष्ट लक्षण उल्लेखनीय थे—(1) उनका सीमित आकार व जनसख्या और (2) उनका राजनीतिक दृष्टि से व्यवहार्य संगठन व स्वतंत्र अस्तित्व। ये राज्य अपने संगठन को साधन के रूप में ग्रहण करते हुए मानव जीवन की बहुरंगी गुणात्मकता का साध्य पाना चाहते थे और इस दृष्टि से राज्य का मूलतः एक नैतिक संस्था के रूप में चरितार्थ करते थे। रोमन राज्य अवधारणाओं ने राज्य की व्यावहारिकताओं को प्राथमिकता देते हुए राज्य कानून के संदर्भ में बहुमूल्य योगदान दिया। नागरिक कानून व राज्य कानून का पार्थक्य देते हुए रोमन काल के अंतर्गत सत्ता की कानूनी संस्थागत अवधारणा विकसित की गई और प्राकृतिक स्वतंत्रता समानता व अधिकारों का कानून सम्मत दृष्टिकोण निर्धारित किया गया। आर्थिक विषमता व साधनों के असमान वितरण ने सामंतवादी व्यवस्था को प्रकट किया जिसमें स्वामी अपने अधीनस्थ कार्मिकों से व्यक्तिगत निष्ठा व आर्थिक लाभ का संधान करवाता था लेकिन इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य व्यवस्था को कोई नया आधार नहीं मिला बल्कि, पुराने आधारों पर और जंग लग गई। सामंती युग की विसंगतियों ने चर्च की धार्मिक सत्ता

को प्रकट किया, चच राज्य सघप हुआ और आधुनिक काल के सूर्योदय ने नई राज्य व्यवस्था को धूप खिलाने की सम्भावनाए व्यक्त की। सामाजिक प्रवत्तिया के प्रवाह ने आधुनिक राज्य को पूजीवादी राज्य के रूप मे अभिव्यक्त किया। पूजी के आधिक्य व उसके अनिबन्धित ऋम ने उदारवाद का तरजीह दते हुए एक ओर जहा आन्तरिक सरचना मे उदार लोकतान्त्रिकरण को प्रकट किया वही बाह्य रूप से उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद सगठित हुए। आधुनिक राज्यो क गर उदारवादी व पूजीवाद विरोधी क्षेत्रो स राज्य व्यवस्था का एक नया मानक निर्मित हुआ—समाजवादी राज्य। इन दोनो राज्या की वास्तविकता न अपने अन्तर्विरोधो को चरितार्थ करते हुए सहयोग व असहयोग के विरोधाभासी प्रति मानो को उपलब्ध कराया जो दो महायुद्धो के उपरात भी आज प्रभावशाली है और दोनो राज्य-व्यवस्थाओ के सम्बन्धो की प्रीति-अप्रीतिकारी अभिव्यजनाए समायोजित करती है।

यह वस्तुत राज्य विकास का एक स्थूल रेखाचित्र है जिसम चित्र की सूक्ष्मताए तो क्या स्वय रेखाचित्र की बारीकिया भी नही है लेकिन इसका उद्देश्य यह प्रस्तावित करना है कि राज्य का क्रमिक विकास भिन्न भिन्न सामाजिक शक्तियो घटको की परिवतनशील भूमिका से सम्बन्धित है। भौतिक परिवेश की स्थिति जन्य चुनौतिया ने राज्य के तत्कालीन स्वरूप का आवृत किया और उस क्रम म राज्य का नया रूप निखर कर सामने आया। यह रूप पूववर्ती स्थितियो का परिणाम होत हुए भी पीछे की ओर नजर टिकाए रखने का पक्षधर नही था बल्कि, भावी चुनौतियो व स्थितियो से साक्षात्कार का उत्साही था। इस प्रवत्ति ने ही राज्य को ऐतिहासिक तत्वो के भार को उठाने की प्रेरणा दी है और उस 'नए' के सदभ मे 'पुराने' को रूपातरित करने की अनवरत सामर्थ्य उपलब्ध कराई है।

राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा

राजनीति विज्ञान के सदभ म राजनीतिक व्यवस्था का विचार 1945 के नए विश्व को समझन एव परखने के लिए किया गया। इसका उद्देश्य राजनीतिक यथाथ का अधिक समग्रतापूवक ग्रहण करना तथा पश्चिमी व गैर-पश्चिमी सदर्भो म परस्पर व्याप्त विषमताओ को वचारिक स्तर पर समाधित करते हुए उसकी व्याख्या करना था। यह बौद्धिक अभ्यास इस दृष्टि से भी नियोजित किया गया क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था राज्य-व्यवस्था को अपना अपने क्रम म अध्ययन व विश्लेषण के अधिक समाधनीय स्तर सुलभ करानो था और ऐसा करत हुए विविध स्तरीय राजनीतिक व्याख्याए प्रस्तुत करती थी। आनुमानिक व व्यवहार- वादी विषय निरूपण व अध्ययन की दृष्टि स राजनीतिक व्य[illegible] य

वचारिक योजना इस प्रकार, विशेष महत्व का स्थान रखती थी । इसकी सफलता इस तथ्य म निहित है कि युद्धोत्तर काल म अनक गैर-पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओ का व्यवस्था विश्लेषण किया गया और उपयोगी निष्कष प्रतिपादित किए गए । राजनीतिक व्यवस्था के इन अध्ययनो की दृष्टि से जेम्स कोलमन की कृति नाइजीरिया बेकग्राउण्ड टू नेशनलिज्म, डब्ल्यू हावर्ड रिगिंस की, सिलोन डिल्लेमाज आव एयू नेशन, लिओनाड बाइंडर की रेलिजन एण्ड पॉलिटिक्स इन पाकिस्तान, हर्बट फीथ की दि डिक्लाइन आव कन्स्टीटयुशनल डिमोक्रेसी इन इडोनेशिया, ल्यूशन पाई की पॉलिटिक्स, पसनेलिटी ऐण्ड नेशन बिल्डिंग बर्माज सच फॉर आइडेन्टिटि, माइरन वीनर की दि पॉलिटिक्स आव् स्केआर्सिटी पब्लिक प्रेशर एण्ड पॉलिटिकल रिस्पान्स इन इंडिया तथा डेविड एप्टर की घना इन ट्रान्जिशन विशेष उल्लेखनीय है । इस सदभ म सामान्य परिप्रेक्ष्य निर्माण के लिए जेम्स कोलमन व गेब्रियल आमण्ड की दि पॉलिटिक्स आव् डवलपिंग एरियाज भी उद्धरणीय है ।

राजनीतिक व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था

सामान्य वैचारिक समझ के लिए राजनीतिक व्यवस्था व राज्य व्यवस्था म निम्नलिखित प्रमुख अन्तर स्पष्ट किए जा सकते है—

1. राजनीतिक व्यवस्था राजनीति के निर्धारक समस्त घटको व व्याख्याओ को अपने परिक्षेप मे समाहित करती हैं और ऐसा करते हुए वह राजनीति की समग्र समझ की दृष्टि से इतिहास, समाज अथव्यवस्था सस्कृति धम, नैतिकता, शिक्षा भूगोल, मनोविज्ञान कानून, राज्य व सरकार आदि समस्त तत्वो की राजनीतिक प्रासगिकता पर पर्याप्त ध्यान केंद्रित करती है जबकि राज्य व्यवस्था अपने चार बुनियादी सघटको (जनसख्या, क्षेत्रफल, सरकार व सम्प्रभुता) को ही अपनी विषय परिधि मे तरजीह देती है । इस दृष्टि से राज्य-व्यवस्था की अपेक्षा राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययनगत सदभ अधिक व्यापक व इस आधार पर अधिक समन्वित है ।
2. राजनीतिक व्यवस्था व्यावहारिक आधार पर राजनीति को ग्रहण करते हुए उसकी वास्तविक प्रक्रिया को समझने व विश्लेषित करने की चेष्टा करती है जबकि राज्य व्यवस्था औपचारिक कानूनी सस्थागत सदभ मे राज्य के क्रिया कलापो को ही केन्द्रीय महत्व प्रदान करती है । अत राजनीतिक व्यवस्थाओ अपने दृष्टि

कोण के सदर्भ मे भी राज्य व्यवस्था की तुलना मे मानव व्यवहार व पूर्ण सामाजिक राजनीतिक व्यवहार से अधिक सगत है,

3 दूसरे अतर के पूरक के रूप मे यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था राजनीति के वास्तविक निर्माण, उसकी यथार्थपूर्ण समझ व उस पर आधारित आनुभविक राजनीतिक प्रक्रिया को वचारिक अन्वेषण मे प्रधानता देती है और राज्य के प्रकट व्यवहार के परे जाकर उस व्यवहार की सघटक व्याख्याए खोजते हुए राजनीतिक सामान्यीकरण प्राप्त करती है जो तदनतर राजनीतिक सस्थाओ, प्रक्रियाओ व व्यक्तियो की सदर्भगत व्याख्या करता है। इसके विपरीत राज्य व्यवस्था राज्य केन्द्रित गतिविधियो पर ध्यान केन्द्रित करते हुए केवल सस्थागत सदर्भ म ही अनुभवतर (non-empirical) राजनीतिक व्याख्याए उपलब्ध कराती है,

4 पद्धति की दृष्टि से भी इन दोनो व्यवस्थाओ म पर्याप्त भेद है। राजनीतिक व्यवस्था अनुभाविक व्यवहारवादी पद्धति का प्रयोग करते हुए सत्यापनीय व काय कारणत्व के परिचायक तथ्यो को प्रकट करती है जबकि राज्य-व्यवस्था स सबधित पूव अध्ययन अपनी अति उपयोगी अत दृष्टियो के बावजूद पद्धति की दृष्टि स अपर्याप्त रह है। उनम विश्लेषण की अपक्षा विवरण अधिक प्रकट होता है और यह विवरण भी सतही पर्यवेक्षण की अधिक उपज है क्योकि प्रकट के परे जाकर तथ्य ज्ञान अथवा समुद्र मथन करके मोती, सीपिया आदि सकलित करने का उपलब्धिपूर्ण प्रयास इनमें पर्याप्तत दृष्टिगोचर नही होता तथा

5 राजनीतिक व्यवस्था अधिक सत्यापनीय रूप स राजनीतिक यथार्थ का बहुविषयक (Multi disciplinary) अथवा अन्तर्विषयक (Inter-disciplinary) दृष्टिकोण के माध्यम स ग्रहण करना चाहता है। इसी दृष्टि स राजनीति की अतविषयक विश्लेषण-श्रेणियाँ निर्मित की गई है—अभिजन (Elite) वग विश्लेषण (Class Analysis) राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialization) निर्णय निर्माण (Decision-Making) सप्रेषण (Communications) वितरणकारी विश्लेषण (Distributive Analysis) क्रीडा सि[illegible] Theory) तथा स्वयं स[illegible] [illegible] व्यवस्थागत अतविषयक स[illegible] [illegible]

समस्त वैचारिक श्रेणियाँ राजनीति विज्ञान को व्यवस्था के सदभ मे पद्धतिशास्त्रीय परिष्कार व तथ्यात्मक बोध उपलब्ध कराती हैं। राज्य-अध्ययनो मे यह क्रम अनुपलब्ध है।

राजनीतिक व्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था

राजनीतिक व्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था मे अनेक स्तरो पर महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध व्याप्त है। ये सम्बन्ध राजनीतिक विश्लेषण मे विशेष अन्तर्दृष्टियाँ सुलभ कराते हैं। इन सम्बन्धो को प्रमुख रूप से निम्न प्रकार से निरूपित किया जा सकता है

1 एक सघटक के रूप मे राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था की एक उपव्यवस्था है। इसका निहितार्थ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का भाग होते हुए सामाजिक व्यवस्था के कुल परिवेश मे क्रियाशील होती है,

2 अपने विशिष्ट स्वरूप के रूप मे राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था की एक समन्वित प्रतिनिधि व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित समस्त वग, समूह, व्यवसाय व हित आते है और उस प्रक्रिया से एकाकार होते है

3 एक प्रतिनिधि-व्यवस्था के रूप मे राजनीतिक औचित्य के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था को सचालित करती है और ऐसा करते हुए सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित सभी प्रश्नो पर आधिकारिक निणय लेकर उन्हें क्रियान्वित करती है। इस क्रम मे लिए गए निणय समाज के लिए बाध्यकारी होते है और उनकी अवज्ञा अथवा अवहेलना की स्थिति मे राजनीतिक व्यवस्था दोषी व्यक्तियो, समूहो अथवा वर्गों को दण्डित करने की अधिकारी होती है,

4 राजनीतिक व्यवस्था की स्वरूप सम्बन्धी विशिष्टताए अपने रूप निर्धारण के लिए सामाजिक व्यवस्था पर अवलम्बित भी होती है। सामाजिक व्यवस्था की विशिष्ट प्रकृति व स्वरूप के सदभ म ही राजनीतिक व्यवस्था की विशिष्टताए आकार पाती है। इस दृष्टि से राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिनिधि चरित्र व उसकी तत्सम्बन्धी प्रक्रिया सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम होती है। सामाजिकता के सदभ मे सगठित यह राजनीतिक व्यवस्था ही सामाजिक व्यवस्था को सचालित कर पाती है अन्यथा अवरोध प्रकट होते हैं। सामाजिक व्यवस्था व राज-

नीतिक व्यवस्था का सम्बन्धात्मक प्रतिमान यह प्रस्तावित करता है कि एक बडी इकाई के रूप मे सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था को निर्धारित करती है और राजनीतिक व्यवस्था की वास्तविक क्रियाशीलता से वह स्वय भावी स्थितियो के प्रति निर्धारित भी होती है और राजनीतिक व्यवस्था उसे रूपातरित करते हुए कई स्थितियो के लिए तयार करती है,

5 उद्देश्यो व लक्ष्यो के सदभ म भी दोना व्यवस्थाओ म साम्य होता है। राजनीतिक व्यवस्था द्वारा सामाजिक लक्ष्यो, हितो व मूल्यों का 'राजनीतिकरण होता है जबकि सामाजिक व्यवस्था द्वारा राजनीतिक प्रश्नों प्रसगो का प्रभावी 'समाजीकरण'। इस दोहरी अनुक्रिया के अभाव मे लक्ष्य पर्याप्तत केन्द्रबिन्दु नही बन पाते और उनका प्रभावी व्यवस्थापन नही हो पाता, तथा

6 राजनीतिक विकास व सामाजिक विकास मे भी समानुपात का कोई न कोई अश अवश्य विद्यमान होता हैं। इस सदभ म ही दोनो समन्वित व उद्देश्य परक हो पाते हैं। इसकी अनुपस्थिति म सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्थाए प्रतिगामी होन लगती है, उनका सम्बन्धात्मक सदभ टूट जाता है और व्यवस्था के एसे गम्भीर सकट प्रकट होते है जो 'अनुत्पादक श्रम' चरितार्थ करते हुए समूचे व्यवस्था सदभ को दुष्क्रियाशीलता (Dysfunctionality) प्रदान करते हैं।

इन सैद्धातिक प्रस्तावनाओ को भारतीय सदभ मे उपयुक्त रूप से उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रवाद के वचारिक राजनीतिक कलेवर को विशिष्ट सामाजिक सदभ प्राप्त हुआ और सामाजिक परिवेश स रूप व आकार पाते हुए राष्ट्रवादी आन्दोलन ने राजनीतिक नतत्व को क्रमश उदारवादी उग्रवादी व गाधीवादी अवस्थाओ म समाज द्वारा राजनीति के निर्धारण के पृथक प्रतिमान उपलब्ध कराए। इस दृष्टि से प्रत्यक राष्ट्रवादी राजनीतिक नेतत्व वस्तुत सामाजिक व्यवस्था के तत्कालीन चरित्र व प्रकति पर अवलम्बित था और राष्ट्रवादी राजनीति सामाजिक परिवश पर प्रभावी रूप से निभर। आजादी के बाद राजनीतिक व्यवस्था द्वारा सामाजिक व्यवस्था के सचालन का आभास उन राजनीतिक निर्णयों से प्रकट होता है जिन्होंने प्रचलित सामाजिक-सम्बधों व प्रक्रियाओ को अपने विशिष्ट क्रम से प्रभावित व रूपातरित किया। उदाहरणार्थ जमीदारी उन्मूलन से सम्बधित सवधानिक व्यवस्था ने एक अभिनव सामाजिक सदर्भ प्रस्तुत किया और उसके

मदभ म सामाजिक व्यवस्था को अनुक्रियाए उपलब्ध करन के लिए बाध्य किया। यह राजनीति द्वारा समाज को सचालित करने का एक महत्वपूण सकेतक था। स्वात-योत्तर राजनीति ने 'जाति' का राजनीतिकरण किया और विविध व्याव सायिक, विशेपज्ञ हिता को भी राजनीतिकरण की प्रक्रिया के सम्मुख प्रस्तुत किया। दूसरे सदभ म लोकतात्रिक समाज के राजनीतिक प्रश्न का पर्याप्त समाजीकरण हुआ। प जवाहर लाल नहरू ने राजनीतिक नेतृत्व के दौरान औद्योगीकरण वज्ञानिकता, विकेन्द्रीकरण आदि प्रमुख सामाजिक प्रश्नो को राज नीतिक परिवेश म प्रधानता दी और इन प्रश्नो से अपन राजनीतिक भाषणो द्वारा जनता को परिचित कराते हुए इनके मूल्य से उन्हे बाध व इस प्रकार 'राजनीतिक समाजीकरण' की प्रक्रिया का प्रवतन किया। श्रीमती गाधी द्वारा गरीबी हटाओ' का प्रवतन भी राजनीतिक सामाजिक सदर्भो को परस्पर जोडन का एक सकल्पित प्रयास था। इस क्रम मे उन्होने समाज के विभिन्न वर्गों का राजनीति की धारा से जोडकर राजनीति का आधार व्यापक किया, उसे सुदृढता प्रदान की। स्थितियो के विकार न लोकतात्रिक राजनीति को भीडवादी सदभ प्रदान किया राजनीति न सुदृढता की प्राप्ति के लिए श्रमसाध्य माग छोडकर सुविधा परस्ती की अपनी एक अलग 'पगडण्डी' तैयार की। इससे श्रीमती गाधी के नेतत्व का तात्कालिक लाभ तो मिला, 1971 के चुनावा मे उनके नेतृत्व म राजनीतिक स्थायित्व भी आया लेकिन राजनीतिक व्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था मे तार तम्यता टूटने के कारण उनकी विशिष्ट विकास रफ्तारो म तालमेल नही रहा। परिणामस्वरूप एक ओर सुदृढ व स्थिर राजनीतिक नेतृत्व बना रहा तो दूसरी ओर आर्थिक सामाजिक सदभ म राजनीतिक सकल्पनाओ का अभाव स्थितिया बद से बदतर करता रहा—मुद्रास्फीति बढ़ी आर्थिक अपराधो म वृद्धि हुई काले धन का प्रभाव हर क्षेत्र म परिलक्षित हुआ, वितरणकारी न्याय छिन्न भिन्न हुआ राजनीतिक भ्रष्टाचार ने अपना फन फैलाया और इस सब का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि व्यक्ति यह सोचने को बाध्य हुए कि राजनीतिक वक्तव्य कला और वस्तु राजनीतिक साधना मे कोई सह-सम्बध नही है कि राजनीति अपने आप म एक निरकुशतन्त्र होती जा रही है जिसमे सभी से राजनीतिक अभ्यथना की तो अपेक्षा है लेकिन राजनीतिक वरदान प्राप्ति की कामना का किसी को कोई अधिकार नही है जीवन की न्यूनतम सुविधाओ के ससाधन के लिए भी नही। इस स्थिति से प्रेरित होकर लोगो न राजनीतिक सस्थाओ की लोकतात्रिकता पर भी आघात किया। इसी क्रम म व्यवस्था मे गतिरोध उपस्थित हुआ और इस गतिरोध के निराकरण स्वरूप आपातकाल की कडवी दवा म व्यवस्था के उपचार की तैयारिया की गइ। यह समस्त क्रम राजनीतिक व्यवस्था

व सामाजिक व्यवस्था के सम्बधो का परिचायक है—नकारात्मक व सकारात्मक दो प्रकार के सम्बधो की इससे पुष्टि होती है।

उद्धरण एव टिप्पणी

1 गिलक्राइस्ट, प्रिंसिपल्स आव पॅलिटिकल साइंस, पृ 74
2 मेकाइवर का यह कथन ए सी कपूर द्वारा उद्धत, प्रिंसिपल्स आव पॅलिटिकल साइंस, प 100
3 बेकोफेन का यह मत डनिंग द्वारा उद्धत। देखें, पॅलिटिकल थिअरीज, खण्ड 5 प 435
4 मेकाइवर दि मॉडन स्टेट प 29
5 लीकाक, ऐलेमेन्टस आव पॅलिकल साइंस, प 32
6 जेन्क्स, ए शाट हिस्टरी ऑव पॅलिटिक्स, प 71
7 रे व भट्टाचार्य द्वारा उद्धत, पॅलिटिकलथिअरी पृ 64
8 हेराल्ड लास्की का कथन रे व भट्टाचाय म उद्धत, वही प 53
9 काल फ्राइडरिख, एन इंटोडक्शन टू पॅलिटिकलथिअरी, प 132
10 वही
11 जाज एच सेबाइन, ए हिस्टरी आव पॅलिटिक्स थिअरी, प 531
12 काल फ्राइडरिख, पूर्वोक्त पृ 139
13 सिजविक, दि डिवलपमेंट आव यूरोपियन पॅलिटी, पृ 390।
14 काल फ्राइडरिख, पूर्वोक्त, प 133 134
15 वही प स 141 142
16 गिलक्राइस्ट, प्रिंसिपल्स आव पॅलिटिकलसाइंस प 66
17 डी आर भडारकर, कारमाईकेल व्याख्यान 1918, प 119, 122 124
18 भास्कर आनन्द सेलेटोर, एशिएंट इंडियन पॅलिटिकल थॉट ऐण्ड इन्स्टीटयूशन्स, पृ 143 144
19 मेकाइवर, पूर्वोक्त, पृ 33
20 लिओनड ब्रूम व फिलिप सेल्जनिक प्रिंसिपल्स आव सोशियोलाजी प 31-32
21 वही
22 विस्तत व्याख्या के लिए देखें माईकेल यग व पीटर विल्माट, फमिली एण्ड किनशिप इन ईस्ट, लदन
23 सोल्टओ, एन इट्रोडक्शन टू पलिटिक्स, पृ 53
24 वही, प 54

अध्याय 7

राज्य-सम्प्रभुता के विविध प्रसग

राज्य-सम्प्रभुता वह गुण है जो राज्य को अन्य सामाजिक परिषदो से पृथक् करता है। यद्यपि राज्य समाज म व्याप्त एक परिषद है और इस दृष्टि से उसका अन्य सामाजिक परिषदो से घनिष्ठ सम्बन्ध है, फिर भी राज्य एक परिषद के रूप म अपना वह वैशेषिक गुण चरिताथ करता है जिसके अन्तगत वह समाज का अग व अन्य परिषदो का सहचर होने के बावजूद उन्ह अनिवायत अपने सदभ मे ढाल-कर गतिशीलता प्रदान करता है। अन्य सामाजिक परिषदें राज्य प्रवर्तित आदेशो व निर्देशो की अनिवाय अनुपालना करती हैं और यदि वे ऐसा न करें तो राज्य उन्ह ऐसा करने के लिए राज्य-शक्ति के माध्यम से बाध्य कर सकता है। इस दृष्टि से समाज की एक परिषद होते हुए भी राज्य समाज को निर्देशित करने व उसे अपनी देख-रेख मे चलाने की सामर्थ्य रखता है और वह शक्ति जो उसे इस कार्यसम्पादन की क्षमता देती है सम्प्रभुता (sovereignty) कहलाती है।

सम्प्रभुता मूलत एक कानूनी विचार है और इस रूप मे वह सर्वोच्च व अंतिम शक्ति की कल्पना करती है—एक ऐसी शक्ति जो राज्य को उसका सर्व-प्रभावी अस्त्र उपलब्ध कराती है और जिसकी सहायता से राज्य अपने सघटको से अनिवाय आज्ञापालन उपलब्ध करता है। राज्य की यह शक्ति अपनी विशिष्ट राज्य-सरचना व राजनीतिक मूल्य-व्यवस्था मे क्रम म पृथक्-पृथक् स्थान पर निवास कर सकती है। ब्रिटेन मे यह सम्प्रभुता शक्ति ससद के अधीन है तो भारत म यह जनता म निहित होती है, रूस मे यह राजनीतिक वास्तविकताओ के सन्दर्भ मे साम्यवादी दल मे विद्यमान होती है तो किसी तानाशाही-व्यवस्था म यह एक व्यक्ति के पास केन्द्रित होती है। राज्य-सम्प्रभुता का स्थान कही भी क्यो न हो, इसका मूल आधार वह शुद्ध शक्ति होती है जिसके अन्तगत राज्य उपलब्ध सैन्य

बल अथवा अन्य शक्ति साधनों से अपनी इच्छा के अनुरूप आज्ञापालन अर्जित करता है।[1] सम्प्रभु इच्छा पूर्ण होती है और उस पर कोई कानूनी मर्यादा अथवा सीमा प्रवर्तित नहीं होती। वस्तुत वह जो कुछ भी प्रस्तावित करती है वह मात्र उसकी मन्तव्य घोषणा से ही सही होता है।

कानूनी यथार्थ की दृष्टि से यह सर्वोच्च सम्प्रभुता अपने राजनीतिक अथवा वास्तविक यथार्थ के रूप में प्रभावोत्पादकता का मापदण्ड स्वीकार करती है। इस दृष्टि से यह आवश्यक नहीं कि सम्प्रभुता का प्रवर्तन केवल राज्य शक्ति से ही हो। वस्तुत राजनीतिक प्रभाव यह अपेक्षा करता है कि शासक शक्ति अथवा बल का न्यूनतम प्रयोग करते हुए समझाने बुझाने की क्रियाओं (persuasion) द्वारा ही इसे प्रवर्तित करके अपनी विश्वसनीयता (credibility) स्थापित करें। अभिनव मापदण्डों के अनुसार शक्ति के आशंकित प्रयोग का भय ही राजनीतिक अनुपालना के लिए यथेष्ट होना चाहिए। वस्तुत एक बार उसके वास्तविक प्रयोग के उपरान्त उसके सब आयाम उदघाटित हो जाते हैं और उस स्थिति में राज्य विकल्पों की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। इस दृष्टि से फाइनर का सरकार विषयक "बलप्रयोग अनुनय आयाम" (Coercion Persuasion Dimension) उद्धरणीय है जिसमें उसने यह सुझाया है कि जो सरकार जिस क्रम में अधिकतम अनुनय व न्यूनतम बलप्रयोग द्वारा अनुपालना प्राप्ति की क्षमता रखती है वह उसी क्रम में प्रभावोत्पादक होती है।[2]

सम्प्रभुता परिभाषा व विशेषताएँ

सम्प्रभुता की विभिन्न विचारकों ने भिन्न भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की है। बोदां इसे ऐसी सर्वोच्च शक्ति मानता है जो नागरिकों व राज्य विषयों पर प्रयुक्त होती है और जो इस सन्दर्भ में कानून से अमर्यादित है। ह्यूगो ग्रोशियस ने इसे ऐसी सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति के रूप में परिभाषित किया है जो सवशक्तिमान की क्रियाओं से अनन्य बनाती है और जिसकी इच्छा पददमित नहीं की जा सकती। ड्यूगुइट के शब्दों में सम्प्रभुता राज्य की आदेशकारी शक्ति है, यह राज्य के अन्तर्गत संगठित राष्ट्र की इच्छा है यह वह अधिकार है जिसके अन्तर्गत राज्य सीमा में बसे व्यक्तियों को अप्रतिबन्धित आदेश दिए जाते हैं। बर्गेस ने इसे राज्य-विषय व विषयों से सम्बन्धित विभिन्न परिषदों के सन्दर्भ में मौलिक पूर्ण व असीमित अपरिमित शक्ति माना है। लास्की की धारणा में सम्प्रभुता किसी भी व्यक्ति अथवा समूह पर कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च है। जेन्क्स के अनुसार यह वह सत्ता है जो अन्तिम स्थिति में किसी समुदाय के प्रत्येक वैयक्तिक सदस्य की क्रियाओं को बिना किसी अन्य अपील के पूर्णत नियन्त्रित करती है।

कानून विषयक इस सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) पूर्णता – पारम्परिक दृष्टि से सम्प्रभुता पूर्ण है। यह राज्य की एक ऐसी शक्ति है जो किसी भी अन्य एजेन्सी अथवा संस्था से मर्यादित अथवा शमित नहीं होती। इसकी राज्य के सन्दर्भ में कोई सीमा नहीं है और इसकी सर्वोच्चता निद्वन्द्व है। सम्प्रभु इस दृष्टि से सर्वशक्तिमान है और उसके विषय उसकी अनन्य शक्ति के प्रति पूर्णत आस्थावान। सम्प्रभु जो कुछ भी कहता है वह कानून है और इस सन्दर्भ में उसकी समस्त क्रियाएँ एवं गतिविधियाँ कानून सम्मत।

सम्प्रभुता की इस कानूनी पूर्णता का अनेक विचारकों व आलोचकों ने राजनीतिक यथार्थ की दृष्टि से सशयात्मक माना है। लास्की ने पूर्ण सम्प्रभु शक्ति के व्यवहार की समीक्षा करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि व्यवहार में कानूनी दृष्टि में असीमित यह शक्ति एक ऐसी शक्ति के रूप में प्रकट होती है जिसका प्रयोग पीढ़ी दर पीढ़ी सुविज्ञ स्थितियों के अनुरूप होता है।[4] सर हेनरी मेन ने परम्पराओं व सामाजिक रीति रिवाजों के सम्प्रभुता पर एक मर्यादाकारी बन्धन माना है। गिलक्राइस्ट ने सम्प्रभुता के सन्दर्भ में "मानवीय सहनशीलता की सीमा" को निरूपित किया है जिसके उल्लघन के उपरान्त कोई भी सर्वोच्च शक्ति अपना वैशेषिक गुण बरकरार नहीं रख पाती। इसी क्रम में अर्नेस्ट बार्कर ने यह मत व्यक्त किया है कि सम्प्रभुता स्वयं अपनी विशिष्ट प्रकृति व अपनी निजी क्रिया-विधियों से परिसीमित एवं परिभाषित की जाती है।[5] इस सन्दर्भ में यह धारणा उपयुक्त होगी कि सम्प्रभुता का सामाजिक-स्वायत्तता से कोई विरोधाभास नहीं है। विभिन्न सामाजिक परिषदें अपने-अपने विशिष्ट सन्दर्भ में अपना अपना कार्य सुचारू रूप से करती हैं केवल राज्य प्राथमिकताओं से जब से उनका विरोध प्रकट होता है और वह विरोध सक्षम रूप से व्यवस्था के लिए हानिप्रद होता है तभी सम्प्रभुता अपनी सगठित इच्छा व शक्ति से उसका दमन करती है अन्यथा नहीं।

(ii) स्थायित्व—सम्प्रभुता का भाव स्थायी होता है। जिस प्रकार सरकार की फेर-बदल से राज्य का पद अक्षुण्ण रहता है और बिना किसी वैचारिक द्वन्द्व के राजसत्ता विद्यमान रहती है, उसी प्रकार राजशक्ति व सत्ता की परिचायक सम्प्रभुता भी अपना मूल भाव कभी नहीं खोती, वह सदैव राज्य क्रम में बरकरार रहता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए गार्नर ने यह स्पष्ट किया है कि राज्य पुनर्गठन की स्थिति में भी सम्प्रभुता अबाधित रूप से पुनर्गठित भाग में उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाती है जिस प्रकार बाह्य परिवर्तन के क्रम में गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र किसी भौतिक निकाय के एक भाग से दूसरे भाग में प्रतिस्थापित हो जाता है।

(iii) सार्वदेशिकता—सम्प्रभुता समूचे राज्य-क्षेत्र उसकी समस्त संस्थाओं व राज्य के समस्त व्यक्तियों पर लागू होती है उससे किसी को उन्मुक्ति नहीं प्राप्त है। अपवादस्वरूप विदेशी राजनयिक वर्ग अवश्य हैं जो अपने देश के कानून में

सचालित होते हैं लेकिन यह अपवाद भी सार्वदेशिकता सम्बन्धी सम्प्रभुता की स्थिति को चुनौती नही देता क्योंकि, राजनीतिक सुविधा पारस्परिक समझौते के आधार पर स्वेच्छा से प्रदान की जाती है न कि किसी अनिवार्यता से प्रेरित होकर। प्रत्येक राज्य का यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह किसी से पूर्णत राजनयिक सम्बन्ध तोडकर इस सुविधा पारस्परिक समझौते के आधार पर स्वेच्छा से प्रदान की जाती है न कि किसी अनिवार्यता से प्रेरित होकर। प्रत्येक राज्य को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह किसी देश से पूर्णत राजनयिक सम्बन्ध तोडकर इस सुविधा को भग कर दे अथवा किसी राजनयिक को देश से निष्कासित करके आशिक रूप म इस सुविधा को वापिस ले ले।

(iv) अहरणीयता—सम्प्रभुता किसी भी राज्य का अपरिहार्य तत्त्व होता है और इस कारण उसका हरण अथवा हस्तातरण आत्मघाती होगा। कोई भी वैचारिक योजना उसकी हरणीयता अथवा हस्तातरणीयता की व्यवस्था नही कर सकती। इस सन्दभ मे यह प्रतीकात्मक व्याख्या प्रासगिक है कि जिस प्रकार कोई पड अकुरित व पल्लवित होने का अपना अधिकार नहीं अलग कर सकता और जिस प्रकार कोई व्यक्ति बिना आत्म सहार से अपना जीवन व व्यक्तित्व हस्तातरित नही कर सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता भी अपने आपको अपने आपसे पथक् नही कर सकती।[6]

(v) अनन्यता—अनन्यता का अर्थ यह है कि किसी भी राज्य मे एक ही सर्वोच्च व सम्प्रभु शक्ति हो सकती है, एकाधिक नही। जिस प्रकार एक म्यान मे दो तलवारें नही हो सकती, उसी प्रकार एक राज्य क्षेत्र म एक से अधिक सम्प्रभु शक्ति नही हो सकती। यदि ऐसा हो और दो सम्प्रभुता केन्द्र प्रकट हो तो वह राज्य शक्ति का एक खुली चुनौती होगी जैसाकि गृह-युद्ध (Civil War) की स्थिति मे होता है और उस सन्दभ मे राज्य शक्ति को निर्णायक पहल लेकर या तो मिटना पडेगा या मिटाना पडेगा। यदि पूववर्ती सम्प्रभु शक्ति मिट जाती है तो उदीयमान शक्ति सम्प्रभु शक्ति के रूप म प्रतिष्ठित होगी और यदि वह चुनौती भरी प्रतिगामी-सम्प्रभु शक्ति या दावा करने वाले केन्द्र को तोड देती है तो इससे उसकी साख पुन स्थापित हो जाएगी।

(vi) अविभाज्यता—सम्प्रभुता अविभाज्य होती है, उसका विभाजन व तदनन्तर एकाधिक स्वतन्त्र इच्छाओं का अस्तित्व अव्यवस्था बिखराव व सघर्ष को आमन्त्रित करता है। आदेश की एकात्मकता व्यवस्था के सुचारु सचालन के लिए अपरिहार्य है।

अविभाज्यता का यह विचार भी समसामयिक राजनीतिक सन्दभ म अव्यवहार्य है। सघवाद की वास्तविकता सांविधानिक-कानूनी आधार पर शक्ति के विभाजन की व्यवस्था पर आधारित है और सघ व राज्य स्पष्टत वैचारिक दृष्टि

अपने अपने निर्धारित क्षेत्रो मे पूणत स्वत त्र व आत्मावलम्बी होते ह और सम्प्रभुता उनके मध्य विभाजित होती है। अमेरिकी सर्वोच्च यायालय द्वारा प्रवर्तित द्वध सम्प्रभुता (Dual Sovereignty) के विचार न अपने राजनीतिक अध्येताओ को महत्त्वपूण रूप से प्रभावित किया और यह भाव प्रमुखत टाक्विविले, ह्वीटन आदि के कृतित्त्व म परिलक्षित हुआ। इस स दभ म रे व भट्टाचाय का यह कथन अत्यधिक महत्त्वपूण है कि द्वैध सम्प्रभुता के पक्षधर सम्प्रभुता व उसके निगम तत्त्व (emanation element) के बीच वैचारिक भ्राति उपस्थित करत हैं। सम्प्रभुता के निगम तत्त्व के रूप म शक्ति विभाज्य है न्यय सम्प्रभुता नही।

सम्प्रभुता—ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा

सम्प्रभुता राज्य के एक तत्त्व के रूप मे आधुनिक राज्य की स्थापना के उपरान्त प्रकट हुई यद्यपि प्राचीन काल म उसका भाव अनुपस्थित नही था। प्लेटो ने विवेक के अवतार के रूप म दाशनिक राजा को जो निद्व द्व शक्तिया व असीमित अधिकार दिए थे वे दाशनिक रूप से सम्प्रभुता की कानूनी अवधारणा के ही तत्सम थे। कानून प्लेटो की विचार योजना म याय उपलब्ध कराता था और न्याय विवेक द्वारा व्याख्यायित होता था। इस दष्टि स विवेकी ही एकमात्र याय का व्याख्याता था और उसी की मा यताओ व म तव्यो स राज्य सचालित होता था। अरस्तु ने भी पलिटिक्स म 'राज्य की सर्वोच्च शक्ति' का उल्लेख किया है। मध्यकाल म मानव कानून के ऊपर प्राकृतिक अथवा दैविक कानून की सत्ता के दावा ने मानव प्रतिमा के अनुरूप सम्प्रभुता का भाव नही विकसित हाने दिया। चच राज्य सघष म धम व राज्य की प्रभुता सम्ब धी दावा ने भी अपने सम्मिलित रूप म सम्प्रभुता का द्वैधाभास उपल ध कराया। इस सघष के निराकरण स्वरूप प्रकट राज्य-सत्ता के निर्णायक तथ्य ने सम्प्रभुता के आधुनिक भाव को जागृत किया जिसकी आधिकारिक अभिव्यक्ति बोदा, ग्रोशियस, हा स बेंथम व आस्टिन की सम्प्रभुता विषयक कानूनी अवधारणाओ मे हुई। रूसो, हेगल व बोसाके ने सम्प्रभुता विषयक दाशनिक अवधारणाएँ प्रस्तुत की। इस क्रम मे रूसो न जहाँ सामा य इच्छा के स दभ मे सम्प्रभुता को निरूपित किया वही हेगल ने उसकी नैतिक इच्छा के स दभ म व्याख्या उपलब्ध कराई। सम्प्रभुता का लाकतात्रिकी-करण राष्ट्रवाद व उत्तर औद्योगिक क्राति के यूरोपीय समाज के स दभ म हुआ। लोकता त्रिक भाव की अभिव्यक्ति सहमति के आधार पर शासन के रूप म लाक के विचारो से हुई जबकि औद्योगिक क्राति के उपरा त आर्थिक सामाजिक यव-स्थापन स सम्बर्धित राज्य-उत्तरदायित्वो ने राज्य के प्रभुता सम्ब धी अधिकार-क्षेत्र मे उल्लेखनीय अभिवद्धि की। सम्प्रभुता की ऑस्टिनवादी शक्ति केन्द्रित व अखण्ड कानून विषयक सम्प्रभुता धारणा की प्रतिक्रियास्वरूप बहुलवादियो न

सम्प्रभुता को कानूनेतर (non legal) भाव उपलब्ध कराया और उसका व्यवहारवादी-यथार्थपरक परिवेश निर्मित किया।

सम्प्रभुता के विविध प्रकार

सम्प्रभुता के विविध प्रकारों को प्रमुख रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(i) कानूनी व राजनीतिक सम्प्रभुता

(ii) लोकप्रिय सम्प्रभुता अथवा लोक प्रभुता

(iii) विधित व वस्तुत सम्प्रभुता (Dejure and Defacto Sovereignty)

कानूनी व राजनीतिक सम्प्रभुता

कानूनी सम्प्रभुता औपचारिक कानून समर्थित एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सम्प्रभु के औपचारिक रूप से सर्वोच्च अधिकारों एवं शक्तियों को निरूपित किया जाता है। कानूनी सम्प्रभु सर्वोच्च शक्ति के रूप में सम्पूर्ण समाज को आदेश देता है और समाज उनका अनिवार्यत अनुपालना करता है। अवज्ञा की स्थिति में सम्प्रभु दण्ड व्यवस्था का भी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। कानूनी सम्प्रभुता कानून प्रवर्तित भाव को ही तरजीह देती है वह कानूनेतर व्याप्त नैतिक-मूल्यात्मक सन्दर्भों पर विचार नहीं करती। न्यायपालिका स्वयं कानून सम्मत सम्प्रभुता भावों पर बल देती है। इसके विपरीत, राजनीतिक सम्प्रभुता राजनीतिक यथार्थ को चरितार्थ करते हुए राजनीतिक सत्ता का तथ्य स्वीकार करती है और उसके सन्दर्भ में सम्प्रभुता भाव प्रतिष्ठित करती है। राजनीतिक सम्प्रभुता विशेषत लोकतान्त्रिक सन्दर्भ में जनता में निहित होती है और जन इच्छा अपने वास्तविक सन्दर्भ में सम्प्रभुता का लोक भाव प्रकट कराती है। कानूनी सम्प्रभुता व राजनीतिक सम्प्रभुता में इस दृष्टि से उद्देश्यपरक सम्बन्ध व्याप्त रहता है। विशेषत प्रतिनिधि लोकतन्त्र की आधुनिक व्यवस्था में कानूनी सम्प्रभुता व्यवस्थापिका व राजनीतिक सम्प्रभुता निर्वाचकों में निहित होती है। इस व्यवस्था में कानूनी सम्प्रभुता का संस्थात्मक सन्दर्भ राजनीतिक सम्प्रभु-इच्छा को चरितार्थ करने का एक उपकरण मात्र होता है। अत उपकरण का उद्देश्यपरकता की दृष्टि से व्यापकतर वास्तविकता (राजनीतिक सम्प्रभुता) से अभिप्रेरित होना ही पड़ता है। प्रभावी लोकमत व लोकप्रतिरोध की सतत आशंका कानूनी सम्प्रभुता को राजनीतिक सम्प्रभुता की वास्तविकता से समन्वय स्थापित करने के लिए बाध्य करती है अन्यथा व्यवस्था अस्त व्यस्त हो सकती है।

लोकप्रिय सम्प्रभुता अथवा लोक-प्रभुता

लोकप्रिय सम्प्रभुता लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं का आधार है। ऐसी व्यवस्थाओं में सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। इसका उदाहरण स्वयं भारतीय संविधान की प्रस्तावना में निहित है जहां यह लिखा हुआ है कि 'हम, भारत की जनता ... अपने आप को यह संविधान प्रदान करते हैं।' लोकप्रिय सम्प्रभुता का वैचारिक दार्शनिक आधार अनेक राजनीतिक विचारकों के कृतित्व से मिला है। लॉक ने 'सहमति के आधार पर शासन' की आधारशिला रखते हुए सीमित सामाजिक समझौते के द्वारा निरंकुश तन्त्र की स्थापना न करके सांविधानिक शासन की स्थापना का मन्तव्य प्रकट किया और इस दृष्टि से समुदाय की प्रभुता की व्याख्या की। रूसो ने सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से अंगीकार की गई 'सामान्य इच्छा' को सम्प्रभुता प्रदान करके सामुदायिक पहल का दृष्टान्त प्रतिपादित किया। जेफरसन ने लोक प्रभुता के सन्दर्भ में जनता को 'प्रतिरोध का अधिकार' प्रदान किए जाने का आग्रह किया। इन समस्त विचारों व दार्शनिक व्याख्याओं ने लोकतान्त्रिक राज्य के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण पार्श्व भूमिका निभाई है। लोकप्रिय सम्प्रभुता का भाव भी इन्हीं वैचारिक व्याख्याओं के सन्दर्भ में कानूनी यथार्थ के पर जाकर वास्तविक यथार्थ को अंगीकार करता है और जनता को प्रभावी रूप से प्रभुताशील बनाता है। इस सन्दर्भ में सीमित रूप से जनता निर्वाचक के रूप से चुनावों द्वारा अपनी सम्प्रभुता की प्रकट अभिव्यक्ति देती है जबकि व्यापक रूप से यह अपनी सम्प्रभुता के सन्दर्भ में अनवरत लोकमत की रचना करती है और उसे जन इच्छा के रूप में प्रतिष्ठित करके उसके सन्दर्भ में कानूनी सम्प्रभुता के निर्वहन की स्थितियाँ सुलभ कराती है।

विधित व वस्तुतः सम्प्रभुता

विधित (De Jure) सम्प्रभुता किसी भी देश की औपचारिक कानूनी सम्प्रभु शक्ति होती है जिसका स्रोत देश के कानून होते हैं। यह सम्प्रभुता संविधान वर्णित अपनी सर्वोच्च कानूनी शक्ति द्वारा सम्प्रभु को आदेश देने व उस आदेश के जनता द्वारा पालन की व्यवस्था करती है। कानूनी मान्यता के अनुसार विधित सम्प्रभुता अनन्य होती है और उसका कोई सांविधानिक स्थानापन्न नहीं होता। इसके बावजूद किसी देश में वस्तुतः सम्प्रभुता (Defacto sovereignty) का वास हो सकता है जो बिना सांविधानिक मान्यता व दर्जे के अपने आदेश का जनता के बहुमत से पालन कराती है व उसका अपना एक विशिष्ट सम्प्रभुतीय प्रभाव-क्षेत्र व्याप्त हो सकता है। ऐसी सम्प्रभुता जो वास्तविक रूप में विद्यमान होते हुए उसी सन्दर्भ में बहुसंख्य जनता के प्रति अपनी प्रभावी शक्ति का परिचय दे और जो उस सम्बन्ध में प्रकटतः श्रेय हो वस्तुतः सम्प्रभुता कहलाती है। भारत में ब्रिटिश

औपनिवेशिक शासन-काल में विशेषतः महात्मा गांधी का राष्ट्रीय नेतृत्व वस्तुतः सम्प्रभुता चरितार्थ करता था। गांधी जी की अपील पर देशव्यापी असहयोग आन्दोलन व भारत छोड़ो आन्दोलन होते थे जो अपनी प्रकृति में पूर्णतः लोकप्रिय थे। इसी प्रकार उनकी एक अपील पर विदेशी वस्त्रों व साजो सामान का बहिष्कार हो जाता था, देश में सत्याग्रही जेल भर देते थे और जेल के अन्दर व बाहर गांधीजी का अनुशासन प्रभावी रूप से लागू होता था। 1971 में बांगलादेश के मुक्ति-संग्राम के प्रारम्भिक काल से ही शेख मुजीबुरहमान अपनी नजरबन्दी के बावजूद वस्तुतः सम्प्रभुता की समस्त शर्तें पूरी करते थे और बांगलादेश की निर्वासित सरकार की आज्ञाएँ पूरे क्षेत्र में मान्य थीं। इसी आधार पर भारत में व अन्यत्र बांगलादेश के नए राज्य को राजनयिक मान्यता देने की मांग की जाती थी। गिलक्राइस्ट ने अपने कृतित्व में विधितः व वस्तुतः सम्प्रभुता के एक साथ किसी देश में विद्यमान होने की सम्भावनाओं को स्वीकार किया है।[8] वस्तुतः सम्प्रभुता की एक पर्यवेक्षणीय स्तर पर उपस्थिति व लम्बे समय तक उसका प्रवर्तित सत्ता भाव उसे विधितः सम्प्रभुता के रूप में मान्यता दिला देता है।

जान आस्टिन समेत अनेक विधिशास्त्रियों ने विधितः व वस्तुतः सम्प्रभुता के इस वर्गीकरण की प्रवृत्ति की आलोचना की है। इन लोगों की यह मान्यता है कि सम्प्रभुता मूलतः एक कानूनी सत्य है और जो कानूनी तथ्य से समर्थित व उस पर आधारित न हो वह सम्प्रभुता का तत्सम नहीं हो सकता। अतः वस्तुतः सम्प्रभुता केवल एक कानूनी कल्पना है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। सम्प्रभुता वह है जो स्वीकृत कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से पावनता प्राप्त करती है।

जॉन ऑस्टिन का एकात्मक सम्प्रभुता सिद्धान्त

जान ऑस्टिन एक अंग्रेज विधिशास्त्री था जिसने 19वीं शताब्दी में सम्प्रभुता के शास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और सम्प्रभुता का कानूनी एकात्मक सिद्धान्त सुलभ कराया। इस दृष्टि से उसकी कृति **दि प्राविन्स आफ जूरिसप्रूडेन्स डिटर्मिण्ड** विशेष उल्लेखनीय है। आस्टिन ने अपने कृतित्व में हाब्स व बेंथम की सम्प्रभुता अवधारणाओं का प्रभाव परिलक्षित कराया यद्यपि उसमें अपने विषयों के प्रति सम्प्रभुता का नैतिक दायित्व भाव भी विद्यमान है।

आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त इस प्रकार है—

> 'यदि एक निर्धारित मानव उच्चाधिकारी किसी समान रूपी उच्चाधिकारी की आज्ञापालन का अभ्यस्त न हो (और वह) एक दत्त समाज के अधिकांश से स्वभावगत आज्ञापालन प्राप्त करता हो तो वह निर्धारित उच्चाधिकारी उस समाज में सम्प्रभु (होता) है और (उसके समेत) वह समाज एक राजनीतिक व स्वतन्त्र समाज (होता) है।'

ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता युक्त समाज में सभी सदस्य सम्प्रभु का विषय होते हैं और उस पर आश्रित होते हैं। ऐसे समाज में कानून वस्तुतः "उच्चाधिकारी द्वारा अधीनस्थ को दिया गया आदेश" है।

आस्टिन के एकात्मक सम्प्रभुता सिद्धान्त के प्रमुखतः निम्नलिखित निहितार्थ हैं—

1. प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज में कोई एक अथवा कुछ व्यक्ति या उनकी कोई परिषद् सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करती है और यह उस समाज की स्वतन्त्रता का एक अपरिहार्य लक्षण है,
2. सम्प्रभु एक निर्धारित व्यक्ति या उससे सम्बन्धित कोई विशिष्ट परिषद् होती है। आधुनिक काल में किसी एक व्यक्ति के सन्दर्भ में ही सम्प्रभुता की कल्पना करना प्रायः असम्भव है लेकिन फिर भी यह तथ्य सामान्यतः वैध है कि एक व्यक्ति न होते हुए भी सम्प्रभु की 'शख्सियत' ऐसी होनी चाहिए जो सहज निर्धारणीय हो।[9] सम्प्रभु की यह शख्सियत वस्तुतः मानव कानून द्वारा निर्धारित की जाती है। इस दृष्टि से मानवेतर (non human) कानूनी संकल्पना अनुपयोगी है,
3. निर्धारित मानव उच्चाधिकारी के रूप में सम्प्रभु को किसी अन्य का हुक्म बजा लाने की आदत नहीं होनी चाहिए बल्कि, उसे स्वयं अन्य लोगों से अपने हुक्म की तामील करवानी चाहिए,
4. जनता द्वारा सम्प्रभु का स्वभावगत आज्ञापालन प्रदान करना चाहिए न कि केवल प्रासंगिक अथवा सायोगिक। स्वभावगत आज्ञापालन के रूप में जनता द्वारा राज्य आदेशों का पालन सतत, नियमित, अबाधित व अविरल होना चाहिए
5. राज्य सम्प्रभुता के सन्दर्भ में सम्प्रभु के आदेश ही कानून का सार होते हैं। उसकी अनुपालना अनिवार्य है। राज्य आज्ञा (कानूनों) की अवज्ञा की स्थिति में सम्प्रभु दोषी व्यक्तियों को दण्डित कर सकता है तथा
6. अपने वस्तुक्रम में यह सम्प्रभुता अदेय, अनन्य व अविभाज्य है। इसके प्रवर्तन की दृष्टि से यह सार्वदेशिक है।

ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचना

आस्टिन के एकात्मक सम्प्रभुता सिद्धान्त की अनेक कारणों से आलोचना की गई है। इनमें से प्रमुख आलोचनाएँ व उनका तार्किक आधार इस प्रकार हैं—

1. सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त

उच्चतर-अधीनस्थ पदसोपानिक स्थितियों को निरूपित करने व उस सन्दर्भ में सामाजिक असमानता स्थिर करने के कारण लोकतान्त्रिक भाव का खण्डन करता है। लोकतन्त्र सर्वसमानता की एक ऐसी कानूनी व्यवस्था है जो 'कानून के शासन' से अनुप्राणित व अभिप्रेरित होती है जबकि आस्टिन की सम्प्रभुता सम्प्रभु की निजी इच्छा व मतव्यों को कानूनी दर्जा प्रदान करते हुए उसके द्वारा असमान सामाजिक सम्बन्धों का सूत्रपात करती है,

2 आस्टिन द्वारा प्रतिपादक सम्प्रभुता के निर्धारित मानव उच्चाधिकारी (determinate human superior) भाव की भी कटु आलोचना की गई है। सर हनरी मेन ने आस्टिन के इस दावे का प्रतिरोध करते हुए यह कहा कि केवल अव्यवस्थित दिमाग का कोई निरकुश राजा ही सम्प्रभुता के इस प्रकार का अकेला उदाहरण हो सकता है। मेन के मत मे रणजीतसिंह एक प्रबल निरकुश शासक था लेकिन स्वय उसने भी आस्टिनवादी मापदण्डो के अनुसार शासनपर्यन्त कोई आदेश प्रसारित नही किया। उसकी दृष्टि मे भारत सरीखे प्राच्य (Oriental) सदर्भ मे तो यह सिद्धान्त अनुपयुक्त है ही, इसके अतिरिक्त यह विशिष्ट पाश्चात्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी असमर्थित व अछूता है। लोकप्रभुता का प्रकट भाव भी 'निर्धारित उच्चाधिकारी' के तथ्य को पुष्ट नही कर पाता। लोक प्रभुता के अन्तर्गत निर्वाचक (electorates) बिना किसी आस्टिनवादी निर्धारण के अपनी वास्तविक प्रभुता प्रतिष्ठित करते हैं। इसी प्रकार सघीय शासन व्यवस्था भी प्रकट रूप से निर्धारित सम्प्रभुता का परिचय नही देती। वहा द्वैध-सम्प्रभुता (Dual sovereignty) सघ व सघटक राज्यो के मध्य विभाजित होती है,

3 आस्टिन द्वारा निरूपित सम्प्रभु कानून, प्रथागत कानून को अपनी परिधि मे समाहित न करते हुए सम्प्रभुता को केवल सम्प्रभु आदेश व उसकी स्वभावगत अनुपालना के रूप मे ही प्रस्तुत करता है यह प्रयास विधिशास्त्रीय दृष्टि से भी असगत है। लास्की की यह मान्यता है कि मात्र आदेश के सदर्भ मे ही कानून की सकल्पना वस्तुत उसकी परिभाषा को शालीनता की सीमातक रूग्ग तक ला खडा करती है। उसकी दृष्टि मे कोई भी सम्प्रभु प्रथागत कानूनी व्यवहार व मान्यताओ की अवहेलना नही कर सकता। मेकाइवर ने इस सम्बन्ध मे यह मत व्यक्त किया है कि "राज्य के

पास प्रथाएँ निर्मित करने की कम शक्ति है और सम्भवत उन्हें नष्ट करने की तो और भी कम यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से वह, प्रथाओं की निर्माणशील अवस्थाओं को बदल कर, उन्हें (निश्चित रूप से) प्रभावित करता है '[9]

4 कानून की समाजशास्त्रीय धारणा भी उसे केवल सम्प्रभु के आदेशात्मक रूप म स्वीकार करने की पक्षधर नहीं है। उसकी मान्यता मे कानून इसलिए बाध्यकारी नहीं है क्योंकि, उसे राज्य बनाता है बल्कि, वह इसलिए अपरिहार्य है क्योंकि उससे सामाजिक एकात्मकता की प्राप्ति मे सहायता मिलती है,

5 बहुलवादियो ने राज्य की अविभाज्य सम्प्रभुता के सदभ मे प्रतिष्ठित किए जाने के प्रयासो का विरोध किया है। उनकी दृष्टि म राज्य अन्य अनेक सामाजिक परिषदो की भाँति ही एक सामाजिक परिषद है और इस कारण केवल उसको ही विलक्षण सम्प्रभुता से युक्त करना अन्य सामाजिक परिषदो को उनकी प्रभावी क्रियाशीलता मे वचित करना होगा। राज्य सम्प्रभुता राज्य समेत समस्त परिषदो (सामाजिक) मे प्रसारित होनी चाहिए। ऐसा इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये परिषदे अपने विशिष्ट क्षेत्रो म अपनी उद्देश्यात्मक दृष्टि उतने ही विशिष्ट सम्प्रभु है जितना कि अपने सन्दभ म स्वय राज्य। अत बहुलवादी धारणा के अनुसार सम्प्रभुता एकात्मक व पूर्ण नहीं है बल्कि प्रसारित है और उसका प्रसार राज्य के अन्दर व बाहर सवत्र व्याप्त है, तथा

6 बाह्य सन्दभ म अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय सम्प्रभुता को उल्लेखनीय रूप से मर्यादित व निर्देशित करता है। अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव व इसके सन्दभ मे क्रियाशील विविध अन्तर्राष्ट्रीय सगठन राष्ट्रीय सन्दभ म एकात्मक सम्प्रभुता पर प्रभावी अकुश लगाते हैं।

बहुलवाद

एकात्मक सिद्धान्त जहा सम्प्रभुता को सर्वोच्च असीमित, पूर्ण, अनन्य अदेय आदि मानता है वही बहुलवादी सिद्धान्त की यह मान्यता है कि सम्प्रभुता अपनी मूल प्रकृति मे अनेकात्मक, साविधानिक तथा उत्तरदायी है। बहुलवादियो की यह धारणा है कि राज्य अनेक सामाजिक परिषदों म स एक है और इस क्रम मे वह अन्य परिषदो स उच्चतर अथवा अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि, उनके बराबर महत्त्व का ही चरितार्थ करता है। राज्य जिस प्रकार व्यक्ति की राजनीतिक

आवश्यकताओं की पूर्ति करता है उसी प्रकार अन्य सामाजिक परिषदें व्यक्ति की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, कलात्मक, मनोरंजक आदि आवश्यकताएँ समाधित करती हैं। इन समस्त शक्तियों व अभिरुचियों का समाधान अंगीकार करके ही व्यक्ति व समाज समग्रता प्राप्त करता है। राज्य महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह इस लक्ष्य के सन्दर्भ में साधनात्मक भूमिका निभाता है लेकिन वह यह काम 'प्राइमस इन्टरपेरस' (समानों में प्रथम) रूप में करता है अन्य परिषदों पर आधिपत्य स्थापित करके नहीं। बहुलवाद के मूलभाव की सर्वाधिक उपयुक्त अभिव्यक्ति गैटेल के इस कथन में हुई है

> बहुलवादी यह नहीं मानते कि राज्य एक विशाल संगठन है। उनकी यह धारणा है कि अन्य सामाजिक परिषदें भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण व प्राकृतिक हैं, उनका यह मत है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति में ये परिषदें उतनी ही सम्प्रभु हैं जितना अपने उद्देश्य की प्राप्ति में स्वयं राज्य। वे इस बात पर बल देते हैं कि व्यवहार में राज्य अन्य परिषदों के हितों व विरोध की स्थिति में उन पर अपनी इच्छा प्रवर्तित करने में असमर्थ होता है। वे इस तथ्य का भी खण्डन करते हैं कि राज्य द्वारा अधिनियमित कानून उन्हें कोई उच्चतर अधिकार प्रदान करता है। उनका यह निश्चित आग्रह है कि अन्य समूहों द्वारा निर्मित नियम तथा समूहों के समान अधिकार हैं और वे समाज के सम्पूर्ण रूप में बहुमूल्य क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। इस आधार पर सम्प्रभुता बहुलरूप में विद्यमान होती है। यह एक अविभाज्य इकाई नहीं है, राज्य सर्वोच्च सत्ता का निकाय नहीं है।[10]

कायसम्पादन मे पर्याप्त स्वतन्त्रता होनी चाहिए और राज्य का सम्प्रभुता पर एकाधिकार नही होना चाहिए।

अपने नकारात्मक सम्बन्ध म बहुलवाद न एकात्मक सम्प्रभुता के पक्षधर ऑस्टिन व अन्य विचारकों/विधिशास्त्रियो की स्थापनाओ का खण्डन किया है और विषय से सम्बन्धित अध्येताओ व पाठको म उन पर ध्यान न देने और उनका परित्याग करने की अपील की है। एकात्मक सम्प्रभुता की सर्वाधिक प्रभावशाली नकारात्मक-व्याख्या हेरोल्ड लास्की द्वारा की गई है। उसकी यह धारणा है कि राजनीतिक दशन के क्षेत्र मे सम्प्रभुता के एकात्मक सिद्धान्त की वैधता निर्मित करना असम्भव है। राजनीति विज्ञान का चिरस्थायी लाभ प्रदान करने के लिए सम्प्रभुता का इस (एकात्मक) अवधारणा का परित्याग कर देना चाहिए। लास्की के इस मत से सहमति व्यक्त करते हुए क्रैब का भी यह प्रस्ताव है कि सम्प्रभुता के इस विचार को राजनीतिक सिद्धान्त से अनिवायत बाहर निकाल देना चाहिए।

बहुलवाद का आकलन

सम्प्रभुता से सम्बन्धित बहुलवादी आग्रह वास्तव में आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य के तक सार का प्रतिबिम्बित करता है। बहुलवादियो की दृष्टि मे राज्य की एकात्मक सम्प्रभुता शक्ति व सत्ता के केन्द्रीयकरण का प्रकट करती है जो कि प्रशासनिक कायक्षमता का विरोधी है। इसके अतिरिक्त, एकात्मक सम्प्रभुता से उत्पन्न सामाजिक सगठन भी नैतिक अपर्याप्तता का परिचय देते हुए व्यक्ति को स्वय व्यक्ति की समस्याओ से साक्षात्कार करन व उनका निराकरण करन का अवसर नही देता। विकल्पस्वरूप बहुलवादी लोकतान्त्रिक परिवेश मे सावैधानिक व्यवस्था के अन्तगत शक्ति व सत्ता के अनेक व्यवहार्य स्तरो की कल्पना करते हैं और तत्परिणामी क्रियात्मक विकेन्द्रीकरण के माध्यम से एक नए राज्य विषयक वातावरण का सूत्रपात करते है—एक ऐसा वातावरण जो समानता का मूल्य प्रतिष्ठित करते हुए व्यक्ति को व्यक्तिपरक सस्थाओ से जोडे और इस सयोजन से प्रशासनिक क्षमता व सरकारी विश्वसनीयता मे अभिवृद्धि करे। सघवाद की लोकतान्त्रिक वास्तविकता बहुलवादी सम्प्रभुता धारणा का वैधीकरण है,जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता व प्रशासकीय उन्मुक्ति (स्वतन्त्रता) का विविध स्तरीय प्रतिमान प्रस्तुत होता है।

मिस फालेट ने अपनी पुस्तक दि न्यू स्टेट मे बहुलवाद की निम्न योग्यताएँ प्रकट की है—

1 बहुलवादियो ने "वतमान राज्य के सर्वोच्चता अधिकार सम्बन्धी बुलबुले को तोडा है। उनकी दृष्टि मे मध्यकाल से ही क्रमश

निर्मित राज्य ने अपने भ्रामक आभासो व अपरिनार्पी भावा के साथ हमारा आदर व सम्मान नही अर्जित किया है'

2 "व समूह के मूल्य का मान्यता देते हैं और यह देखत भालत हैं कि सामूहिक जीवन की एक विशिष्ट महत्ता है जिस राजनीतिक जीवन म तत्का न अ त म्य करना चाहिए,"

3 "व स्थानीय जीवन के पुनजागरण का आग्रह करते है।' इस प्रकार उनका उद्देश्य विकेन्द्रित सत्ता की प्राप्ति है और इस दृष्टि से वे स्थानिक इकाईयो को शिक्षा व सगठन से सम्बन्धित पक्षा पर पर्याप्त बल दत ह,

4 "बहुलवादियो की धारणा म राज्य का हित अब सदैव अपन अशा (भागा) के हिता के समान नही होता'

5 बहुलवाद ' भीड के लोप की शुरुआत ..' तथा

6 बहुलवाद म भविष्य का व्याख्यायित करने की साम य जुटा हुई है क्योकि उसने सघवाद व परिषदो की अस्तित्व सम्बन्धी समस्या के प्रति तीक्ष्णतर अन्त दृष्टि सयाजित की है।

इन समस्त गुणो व योग्यताओ के बावजूद बहुलवाद की कुछ ऐसा अ तर्निहित अपर्याप्तताएँ हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है—

1 बहुलवादियो की सैद्धान्तिक योजना व व्यावहारिक प्रस्तावनाओ मे विरोधाभास प्रकट होता है। वे वैचारिक-सद्धान्तिक सन्दर्भ म तो परिसीमित राज्य क्रियाओ व शक्तियो पर बल देते है जबकि व्यावहारिक रूप म सस्थात्मक योजना के क्रियान्वयन मे व राज्य को प्रभुतावादी शक्तियाँ सौपते है। उदाहरण के लिए-मीर्न विभिन्न सामाजिक परिषदा की अबाधित स्वायत्तता का ता आग्रह करता है लेकिन सामान्य हित क मामला मे वह राज्य की सम्प्रभु शक्ति का विचार प्रकटत ग्रहण करता है

2 कोकर के अनुसार बहुलवादी य नही निर्धारित कर सक कि व एकात्मक सम्प्रभुतावादिया के किस विशिष्ट तत्त्व का खण्डन करें। इसके अभाव मे उनका विरोध अति-सामान्य व अप्रमाणित रहा है जिसका कोई विशिष्ट 'केन्द्र बिन्दु' प्रकट नही होता

3 बहुलवादियो ने आस्टिनवादी सम्प्रभुता की आलोचना करते समय वस्तुत उनमे व्याप्त कानून के रूप व सार म भ्रम का आभास दिया है क्योकि आस्टिन कानून के प्रकट रूप की व्याख्या पर ध्यान केन्द्रित करते हुए राज्य की सर्वोपरिता का तथ्य प्रकाशित करना

है जबकि बहुलवादी इस तथ्य स जूझे बिना केवल कानून के स्रोत सम्बन्धी तथ्यात्मकता के जाल मे ही उलझ कर रह जाते है,

4 समसामयिक राज्य प्रभुता की वास्तविकता बहुलवादियों के बहुतापरक भावों पर प्रश्नचिह्न अंकित करती है। आज लोकतान्त्रिक अधिनायकवादी व समाजवादी, सभी प्रकार के राज्य दुर्दमनीय राज्य नियन्त्रण प्रकट करते है। राज्य नियोजित अर्थव्यवस्था का समाजवादी प्रतिमान, लोक कल्याण स प्रेरित विविध राज्य गतिविधियां व राज्य अकुश की लोकतान्त्रिक राज्य सरचना व व्यक्तिगत समूहगत शक्ति लाभ म युक्त अधिनायकवादी राज्य प्रतिमान सभी शक्ति व सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के परिचायक हैं भले ही यह केन्द्रीकरण कानूनी न होकर राजनीतिक ही क्यो न हो, तथा

5 स्वय लास्की यह महसूस करता है कि वर्ग द्वेष व विषमता की समाप्ति से पूर्व राज्य-सम्प्रभुता की अनुपस्थिति की कल्पना असगत है। सामाजिक सुधार व सामाजिक वृत्तियों मे मूलभूत परिवर्तन न होने तक प्रभावी राज्य नियन्त्रण व नियमन आवश्यक है।[11]

सार रूप म यह कहा जा सकता है कि सामाजिक जटिलताओं क निराकरण व सामाजिक समन्वय से सम्बन्धित आवश्यक कार्य सम्पादन के लिए राज्य की प्रभुतावादी भूमिका अपरिहार्य है। प्रकारान्तर स स्वय बहुलवादी इस तथ्य को स्वीकार करते है लेकिन प्रत्यक्षत वे कानूनी तथ्यात्मकता से एकाकार न होकर केवल उसकी विविधरूपता को प्रकट करते हुए उससे सम्बन्धित किसी एक कानूनी नुस्खे के प्रतिपादन का ही विरोध कर पाते हैं। उनके प्रयास, कुल मिलाकर, कानूनी सम्प्रभु के 'लोकतान्त्रिकरण' के है जो एक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक-वैचारिक प्रयास है यद्यपि उनके पास एकात्मक सम्प्रभुतावादियों की भाँति कोई सशक्तिशील विचार-योजना नही है (स्फुट विचार सत्य अवश्य है)। बहुलवादियों का राजनीतिशास्त्र मे उल्लेखनीय योगदान यह है कि उन्होंने कानूनेतर शक्ति की कल्पना की और उस शक्ति के 'साधनात्मक स्वरूप' पर बल दिया। इसी से राजनीतिक सत्ता और औचित्य का परवर्ती भाव उदित व विकसित होता है।

शक्ति, सत्ता व औचित्य का सम्बन्धात्मक सन्दर्भ

बहुलवादियों के बौद्धिक-वैचारिक प्रयासो के फलस्वरूप शक्ति का कानूनी विचार राजनीतिक वास्तविकता के रूप मे परिणित हुआ। इस रूपान्तर का प्रमुख सार यह है कि आज कानूनी सम्प्रभुता वस्तुत राजनीतिक सम्प्रभुता स सचालित

होती है और राजनीतिक सम्प्रभुता स्वतः निर्धारित नहीं होती बल्कि यह प्रक्रिया-गत सन्दर्भ में औपचारिक राजनीतिक क्रियाकलापों द्वारा निर्धारित की जाती है। यह प्रक्रिया बारम्बार दोहराई जाती है और राजनीतिक व्यवस्था का अस्तित्व इस पर आश्रित होता है। ऐसी स्थिति में शक्ति को स्वतन्त्र घटक मानना, उसके क्रम का जड़वत् स्वीकार करना तथा राजनीतिक व्यवस्था को इनके क्रम से सचालित होते देखना सर्वथा दोषपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि शक्ति के अप्रकट रूप व तथ्य-सार को ग्रहण किया जाए और उसके व्यवस्था के सन्दर्भ में नाटकीय रूपान्तरण सहज स्वीकार किया जाए।

यहाँ यह तर्क विकसित किया जा रहा है कि राजनीतिक शक्ति, सत्ता व औचित्य के विचार परस्पर जुड़े हुए हैं और उनमें घनिष्ट कार्यकारी सम्बन्ध व्याप्त है। एक दूसरे के पूरक रूप में व एक-दूसरे के साथ फलते फूलते हैं और उनकी उत्पादकता वस्तुतः राजनीतिक व्यवस्था की सक्षमता का ही परिचय देती है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में ये सम्बन्ध सदैव व्याप्त होने के बावजूद वे अपने क्रम में निश्चित रूप से घटते-बढ़ते रहते हैं और उनके घटने-बढ़ने का यह क्रम ही किसी भी व्यवस्था की ताकत व कमजोरी को प्रदर्शित करता है। 1971 के चुनावों में प्रबल औचित्य प्राप्त श्रीमती गांधी अपने कार्यकाल के पाँच साल के भीतर ही औचित्य का संकट झेलते हुए और व्यवस्था को बचाने के उपक्रम में स्वयं व्यवस्था को लाँघने की सकल्पित चेष्टा कर सकती हैं और ऐसा करते हुए लोकतन्त्र को स्थगित करने के लिए अपने आप को विवश पा सकती हैं। बागला देश के जनक शेख मुजीब 'बंग बन्धु' का औचित्यपूर्ण दर्जा भी पा सकते हैं और कुछ ही वर्षों के अन्तराल में ही बागला देश के हित न ससाधित कर पाने के आरोप में गोली का शिकार भी हो सकते हैं। ये उदाहरण शक्ति, सत्ता व औचित्य के सतत् परिवर्तनशील सम्बन्धों को उजागर करते हैं।

इन तीनों विचारों में सम्बन्धों के निरूपण से पूर्व इनकी पारिभाषिक व्याख्या आवश्यक है। राजनीतिक शक्ति की परिभाषा देते हुए कार्ल फ्राइडरिक की यह मान्यता है कि—

> शक्ति को सर्वाधिक उपयुक्त रूप से अनुयायित्व (Fellowership) के रूप में वर्णित करते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी के पास अन्य या अन्यों (किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के सन्दर्भ में राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो सकती है यदि ये लोग उसकी (शक्तिशाली) प्राथमिकताओं का अनुसरण करते देखे जाएँ और वह करें जो कि वह शक्तिशाली उनसे करवाना पसन्द करे न कि वह जो वे स्वयं अपने आप करने की इच्छा करें।[12]

इस परिभाषा के सन्दर्भ मे यह सामान्य धारणा निर्मित करना सगत होगा कि शक्ति शक्तिशाली द्वारा (अथवा नेता द्वारा) अपने अनुयायियो से अपनी इच्छा के अनुरूप काय करवाने की क्षमता है। यह क्षमता अपने आप मे साध्य नही बल्कि, साधन है। एक नेता व शासक के शासन म अन्तर यही होता है कि नेता को शक्ति की शासनपरकता को ध्यान मे रखकर जनता से सम्पक करना होता है और इस सम्पक क्रम मे उसका नेतत्व जन सहमति अथवा असहमति के स दभ म बढता-घटता रहता है। इसके विपरीत, शासन शक्ति के तथ्यात्मक भाव से प्रेरित होकर शासन करता है उसे नेता की भाँति अपना शक्ति आधार हर रोज बनाने सँवारने की आवश्यकता नही होती। स्वय हासने शक्ति की साधनात्मकता (instrumentality) का स्वीकार करते हुए शक्ति की यह परिभाषा दी है कि "शक्ति भविष्य सम्बन्धी किसी आभासित लक्ष्य की उपलब्धि का एक वतमानकालिक साधन है।' साधन के रूप म प्रयुक्त शक्ति अपने आप को बढाने की कल्पना नही करती बल्कि, बहुमुखी विकास, प्रगति व स्थिरता लाने की चेष्टा करती है। यदि यह चरिताथ होता है तो इसके परिणाम स्वरूप शक्ति स्वय सवद्धित हो जाती है। अपने साधनात्मक सन्दभ मे शक्ति सवद्धन भौतिक बल प्रयोग की अपेक्षा कुशल मानसिक आकषण पर अधिक निभर करता है। स्वैच्छिक सहमति का लोक विषयक भाव शक्ति को प्रभावशाली बनाता है।

> "सत्ता शक्ति का कोई प्रकार नही है बल्कि, यह वह कुछ है जो शक्ति का सहगामी है। यह व्यक्तियो व तत्वो मे वह गुण है जो उनकी शक्ति बढाता है—वह कुछ जो शक्ति का निर्माण तो करता है पर स्वय शक्ति नही होता।'[13]

राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशालियो की सत्ता उस स्थिति मे व्याप्त होती है जब उनके गुण विश्वसनीयता प्राप्त करते हैं। यह विश्वसनीयता उनकी व्यक्तिगत सरलता, व्यवसायगत सक्षमता व समाजगत निष्पक्षता पर आश्रित होती है। इन गुणो से यह लोकभाव प्रकट होता है कि अमुक शक्ति प्राप्त व्यक्ति उसकी अपनी विश्वासनीयता के कारण हमारे काम आएगा, हमारी समस्याएँ सुलझाएगा और हम उसके नेतत्व मे सदैव आगे ही बढते जाएँगे, कही अटकेंगे नही।' यह वह *स्थिति है जो शक्ति के वास्तविक प्रयोग को औचित्य प्रदान करती है।* रॉबट डहल शक्ति के इसी औचित्यपूण प्रयोग का सत्ता की सज्ञा देता है[14] (Power legitimized is Authority)।

अब प्रश्न यह उठता है कि औचित्य क्या है ? औचित्य वह नैतिक बोध है जिसके द्वारा किसी देश की जनता स्वेच्छा से अपना दायित्व क्षेत्र स्वीकार करती है, इस भाव के साथ कि "क्योकि हमारे नेता हमारे हैं, हम उनको हमारा मानते

हैं; हमारा शासन हमारा है क्योंकि हम उसे हमारा मानते हैं इसलिए हम हमारे शासक व हमारे शासन के आदेशों निर्देशों का पालन करना चाहिए।"

शक्ति, सत्ता व औचित्य का यह सम्बन्धात्मक संदर्भ समग्र रूप से यह निष्कर्ष प्रदान करता है कि औचित्य एक व्यापक आवरण के रूप में राजनीतिक शक्ति को प्रभावशाली बनाते हुए उसे सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इस दृष्टि से औचित्य शक्ति व सत्ता के मध्य एक सेतु निर्माण करता है। अनुयायित्व के रूप में शक्ति तभी स्थायित्व पाती है जब वह लोक धर्मी चेतना का सहज प्रभावित करती है। यह प्रभाव अनुयायित्व को नैतिक महत्व प्रदान करता है और इसकी नैतिकता के स्वैच्छिक दायित्व बोध व मर्यादाओं की अनुभूति से सिंचित होकर लहलहाती है। जो व्यवस्थाएँ इस क्रम से परिचालित होती हैं वहाँ शासक व शासितों के मध्य अधिकाधिक तारतम्यता विद्यमान होती है साझेदारी (राजनीतिक) की कार्यकारी व्यवस्थाएँ निर्मित होती हैं और जनसमर्थन का व्यापक आधार व्यवस्था को सर्वग्राह्य व लोक अभिरुचिपूर्ण बनाता है। जहाँ यह नहीं होता वहाँ शासन की नैतिक स्वीकृति भंग हो जाती है, राजनीतिक अनास्था व अलगाव प्रभावी हो जाता है और व्यवस्था व अव्यवस्था के विविध संघटक एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित होकर जीवन-यापन करने लगते हैं। यह वह स्थिति है जो बड़े से बड़े 'निर्धारित मानव उच्चाधिकारी" को रास नहीं आ सकती। अतः शक्ति, सत्ता व औचित्य का समाकल (integral) निर्धारित करना अपरिहार्य है।

भारतीय दण्डनीति राज्य सम्प्रभुता का एक पश्चिमेत्तर परिप्रेक्ष्य

सम्प्रभुता सम्बन्धी हमारी यह चर्चा तब तक अपूर्ण रहेगी जब तक कि राज्य सम्प्रभुता के एक पश्चिमेत्तर परिप्रेक्ष्य के रूप में भारतीय दण्डनीति का उल्लेख न किया जाए। दण्डनीति सम्बन्धी चर्चा का समारम्भ इस परिचयात्मक कथन से किया जा सकता है कि दण्डनीति राज्य सम्प्रभुता की पश्चिमी धारणा का पर्याय नहीं है। वह ऐसा हो भी नहीं सकती क्योंकि पश्चिम व भारत की स्थितिजन्य भिन्नताएँ राज्य विषयक पृथक् यथार्थ सुलभ कराती हैं। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि पश्चिम में राज्य-सम्प्रभुता चर्च राज्य संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक राजनीतिक तनावों का परिणाम थी। वहाँ राज्य प्रभुता चर्च प्रभुता का दमन करके प्रतिष्ठित हुई थी जबकि भारत में इस प्रकार की संघर्षकारी स्थितियों का सर्वथा अभाव था। पश्चिम में सम्प्रभुता की कानूनी अवधारणा के माध्यम से 'राजनीतिक उच्चतम' निर्धारित करने की चेष्टा की गई थी और इस प्रयास के दौरान सर्वोच्च शक्ति के राज्येत्तर प्रतियोगी दावों का निरस्न किया गया था जबकि भारत में प्रतियोगी दावों के अनुपस्थित भाव ने राजा को राज-काज में स्वतः सर्वोच्चता दे रखी थी और यह उच्चतम स्थिति निर्द्वन्द्व थी। अतः यहाँ सम्प्रभुता की पश्चिम-

परक विचारधारा विकसित करना अनावश्यक और अप्रासगिक था। स्थितिजन्य विषमताओं की अभिव्यक्ति से हमारा अभिप्राय यह प्रस्तावित करना नहीं है कि भारत में सम्प्रभुता विद्यमान नहीं थी। वस्तुस्थिति तो यह है कि राज्यों के वास्तविक क्रियाकलापों में वह प्रकटत परिलक्षित होती थी और उसका यह यथार्थवादी अस्तित्व इतिहास समर्थित है। हमारा अभिप्राय सम्प्रभुता की विचारगत भिन्नता की ओर इगित करते हुए पश्चिमी व भारतीय सन्दर्भों की तुलनीयता प्रकट करना है। भारत में दण्डनीति एक वृहत विचार के रूप में राज्य सम्प्रभुता का एक ऐसा परिवेश प्रदान करती थी जो राज्य के कानूनी सत्य को तो उद्घाटित करता ही था, इसके साथ साथ (बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से) वह कानूनी सत्ता को कानूनेत्तर वास्तविकताओं से सयुक्त भी करता था। इस दृष्टि से दण्डनीति कानून प्रवर्तन और कानून औचित्य दोनो अपने क्रम में निर्धारित करती थी और ऐसा करके वह राज्य गतिविधियों का विस्तार और उद्देश्यपरकता एक साथ उपलब्ध कराती थी। यह स्वयं में एक विलक्षणता है जहा राज्य स्वाभाविकत शक्ति पाता है और इसी क्रम में उसे साधनात्मकता देता है, पश्चिम की भाँति वह स्थितिजन्य प्रतिक्रियावादी निरकुश व सर्वोच्च शक्ति को स्वीकार नहीं करता। पश्चिम के सन्दर्भ में सम्प्रभुता सम्प्रभुशासक को साध्य मानती थी जबकि भारत में शासक का शासन दण्डनीति से सचालित भी होता था और स्वत उसमें मर्यादित भी। स्वय दण्डनीति राजधर्म से अनुप्राणित व अभिप्रेरित होती थी और इन सबके योग से पूर्ण होता था—वृहत् धर्म में सरकारी कला, सरकारी कला से सरकारी कानून और व्यवस्थाओं का प्रवर्तन तथा उसकी अनुकृति और इनसे निर्मित सामाजिक सद्भाव व सद्भावकारी नियमन द्वारा वृहत् धर्म के प्रति आस्था और आदर की पुनराभिव्यक्ति।

भारतीय दण्डनीति की उत्पत्ति और विकास क्रम को लेकर विविध मान्यताएँ और सिद्धान्त क्रियाशील रहे है। इस दृष्टि से तीन विचार केन्द्र विशेष उल्लेखनीय हैं। पहले विचार केन्द्र का यह आग्रह है कि दण्डनीति का मूल उद्गम धर्मशास्त्र हैं। इसका भार-प्रवर्तन विन्टरनिट्ज व पी० वी० काणे द्वारा किया गया।[15] विन्टरनिट्ज की मान्यता का आधार यह है कि प्रारम्भ में अर्थशास्त्र में निहित दण्डनीति और धर्मशास्त्र एक साथ पढाये जाते थे और दोनो के प्रवर्तक मनीषी महाभारत व अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों में एक ही रहे हैं। काणे का यह मत है कि राजधर्म धर्मशास्त्र का एक प्रमुख विषय है और राजधर्म का व्यावहारिक भाव अर्थशास्त्र व उसमें निहित दण्डनीति में प्रत्यक्षत विद्यमान है इसलिए वैचारिक कथ्यात्मक सन्दर्भ में दोनो एक दूसरे से अत्यधिक समान हैं। दूसरे विचार के अनुसार दण्डनीति धर्मशास्त्र से सर्वथा पृथक् एक स्वतन्त्र विषय है जिसका अपना एक निजी विकास क्रम है जो धर्मशास्त्र से सर्वथा स्वतन्त्र है। इस

मत के प्रतिनिधि प्रतिपादक **नरेन्द्र नाथ लॉ व रंगस्वामी आयंगर** हैं।[16] इसके अनुसार जिस प्रकार धर्मशास्त्र का अपना एक विशिष्ट सूत्र काल रहा है उसी प्रकार अर्थशास्त्र विषयक 'वार्ता' और 'दण्डनीति' का भी अपना एक विशिष्ट सूत्र काल रहा है जो सम्भवतः धर्मशास्त्र के सूत्र काल का समानान्तर है। इसके अतिरिक्त इस विचार केन्द्र का यह भी मत है कि दण्डनीति समेत अर्थशास्त्र के विविध प्रसंगों व अपने स्वतन्त्र साहित्यिक स्रोत एवं साक्ष्य हैं जो उसे धर्मशास्त्र से पार्थक्य प्रदान करते हैं। आयंगर ने इसी के आधार पर यह तर्क विकसित किया कि धर्मशास्त्र एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में अर्थशास्त्र से प्राथमिक है जिसे याज्ञवल्क्य तथा कौटिल्य ने अपने अपने सन्दर्भ में सहज स्वीकार किया है। **तीसरे** विचार केन्द्र को प्रतिनिधित्व देते हुए **ए० बी० कीथ**[17] की यह मान्यता है कि धर्मशास्त्र व दण्डनीति परस्पर विरोधी हैं। धर्मशास्त्र से सर्वथा पृथक, अर्थशास्त्र व दण्डनीति विषयक विविध शास्त्र किन्हीं नैतिक आचार संहिताओं की स्थापना नहीं करते। वे केवल दैनंदिन जीवन से सम्बन्धित व्यावहारिक राजनीति के व्यवहार प्रमाण ही निर्धारित करते हैं। इन विचार केन्द्रों के सार को ग्रहण करते हुए तथा उनका सार्थक आकलन करते हुए **भास्कर आनन्द सेलेटोर** ने यह मत व्यक्त किया है कि दण्डनीति का धर्मशास्त्र से अधीनस्थ स्थान रहा है।[18]

इन समस्त मतभेदों व विचार वैविध्य के बावजूद दण्डनीति का महत्त्व सर्वमान्य रहा है। **महाभारत** में शान्तिपर्व के अन्तर्गत एक स्थल पर यह कहा गया है—

> "जब दण्डनीति निर्जीव हो जाती है तो त्रि वेद निमग्न हो जाते हैं (डूब जाते हैं), समस्त धर्म पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं चाहे वे कितने भी विकसित क्यों न हों। जब पारम्परिक राजधर्म विचलित होता है तो आश्रमों के समस्त विभाजन जर्जर हो जाते हैं। राजधर्म में ही संन्यास की समस्त विधाएँ उपलब्ध होती हैं राजधर्म में ही समस्त ज्ञान उद्घाटित होता है। राजधर्म में ही समस्त लोक, केन्द्रित हैं।"[19]

इस उद्धरण की व्याख्या करते हुए **विश्वनाथ प्रसाद वर्मा** ने यह मत प्रतिपादित किया है कि इसमें राजधर्म व दण्डनीति का विनिमेय (*inter-changeable*) प्रयोग हुआ है। उनके अनुसार दण्डनीति एक समन्वित विचार है जिस पर समस्त सामाजिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक साध्य आश्रित हैं। इस दृष्टि से दण्डनीति केवल सरकारी कार्य सम्पादन अथवा दण्ड-विधान की भौतिक अर्थ में व्याख्या ही नहीं करती वल्कि वह सामाजिक राजनीतिक अस्तित्व के समस्त सिद्धान्तों का नियमन भी करती है।[20]

दण्डनीति की विशिष्टताएँ

दण्डनीति के उपरोक्त भाव के आधार पर उसके निम्नलिखित लक्षण प्रकट किये जा सकते हैं—

1 दण्डनीति राज्य द्वारा सामाजिक स दभ मे अनुशासन-पवतन का एक प्रकट भाव है,

2 यह अनुशासन राज्य की व्यवस्थाकारी कायविधिया (कानून) व एजेंसियो जैस प्रशासनतन्त्र व सेना द्वारा प्रवर्तित किया जाता ह,

3 दण्डनीति की ये व्यवस्थाकारी कायविधिया एव एजेंसियां राजा द्वारा समन्वित व ससाधित की जाती है। राजा ही कानून निरूपित करता ह आर वही उसे अपने प्रशासनिक नेतत्व म अपनी अधीनस्थ इकाईया द्वारा क्रियान्वित करवाता है,

4 प्रशासनिक व्यवस्थाओ के नियमन स्वरूप स्वीकृत दण्डनीति न तो अत्यधिक बल-प्रधानता से उत्पीडक होनी चाहिए और न ही वह बल शिथिलता के फलस्वरूप निष्प्रभावी। वस्तुत दण्डनीति का प्रवतन पर्याप्तत तार्किक सोच विचार के उपरात अपराध की गम्भीरता का समानुपाती होना चाहिए,[1]

5 दण्डनीति राजा की राजसी शक्तियो की ही परिचायक नही होती वह अधिक महत्वपूण रूप से राजा के उस राजसी अनुशासन को प्रतिबिम्बित करती है जो उसके बौद्धिक प्रशिक्षण व नैतिक अभि-मुखीकरण पर अवलम्बित होता है,

6 दण्डनीति अपने व्यापकतम अथ मे समस्त मानव शक्तियो को परिचालित करती है अर्थात् उसमें सम्पूण भौतिक परिवेश (व्यक्तिया व वस्तुआ समेत) ससाधित होता है। इस दृष्टि से दण्डनीति समस्त सामाजिक-राजनीतिक सम्बन्धा का नियमन करती है। वह कवल प्रशासनिक अवहेलनाओ व अवचनाओ को दबाने के उपक्रम म दण्ड विधान ही नही प्रकट करती,

7 दण्डनीति के मानक मे ही राजा युगा की सृष्टि करता है। महाभारत म यह उल्लिखित है कि जब कोई राजा दण्डनीति के निर्धारित मानका व नियमा का पूणत पालन करता है तो स्वर्णिम युग (सतयुग) का प्रवतन होता है जब उसके द्वारा दण्डनीति के मानका का 3/4 भाग अनुपालित होता है तो उस स्थिति में त्रेता युग (रजत युग प्रकट होता है, जब वह दण्डनीति के आधे मानका को प्रस्तुत करता ह तो उस क्रम म द्वापर युग (पीतल युग) शुरू

होता है और जब वह दण्डनीति से पूर्ण विमुखता प्रदर्शित करता है तब लौह युग (कलियुग) चरितार्थ होता है।

दण्डनीति की इन विशेषताओं व व्यवहार क्रमों के व्यापक सन्दर्भ में उसका आकलन करते हुए **विनय कुमार सरकार**[22] का यह मत है कि दण्डनीति दोहरी धार वाला एक ऐसा अस्त्र है जो एक ओर जनता को भयातुर करते हुए तथा सामाजिक विकारों का उन्मूलन करते हुए व्यक्तियों को नैतिक, पवित्र व सभ्य बनाता है तो दूसरी ओर वह स्वयं राजा की राजसी मान्यताएँ भी निर्धारित करता है और इनकी अनुपस्थिति में राजाओं की सम्भावित दुर्दशाओं का संकेत देता है। इस दोहरे हथियार के फलस्वरूप ही समाज सभ्य व व्यवस्थित होता है और राज्य निरंकुशवाद के घेरे से बाहर रहते हुए सामाजिक नियमन कार्य सम्पादित करता है। विनय कुमार सरकार को उद्धृत करते हुए यह प्रसंग समाप्त किया जा सकता है कि दण्ड के इस दोहरे धार वाले हथियार में एक ओर स्टाटसराजन (राज्य हित) समाहित हैं तो दूसरी ओर सिटलिक्षकीट नैतिकता सद्गुण धर्म इत्यादि। सामाजिक अस्तित्व विषयक यह शाश्वत वैचारिक ध्रुवीकरण मानव चिन्तन के क्षेत्र में हिन्दू राजनीतिक दर्शन का एक गहरा योगदान प्रस्तुत करता है।[3]

सम्प्रभुता का समसामयिक भारतीय सन्दर्भ ऋत सम्प्रभुतावाद

सम्प्रभुता के समसामयिक भारतीय सन्दर्भ में ऋत सम्प्रभुतावाद का विचार **विश्वनाथ प्रसाद वर्मा** ने प्रतिपादित किया है।[24] अपने व्यापकतर ग्रंथ में ऋत उन व्यापक आदर्शों और नैतिक अभिव्यंजनाओं का सार है जो व्यक्तियों को संकीर्ण राष्ट्रीय परिवेश व उससे उत्पन्न अनुराग से ऊपर उठाते हुए उन्हें व्यापक मानवतावाद के घेरे में पहुँचाता है। इस अवस्था में पहुँचकर व्यक्ति 'अपने' और 'दूसरा' के विरोधाभास से बचते हैं और सर्वहितकारी भावों को प्रश्रय देते हैं। इसके (ऋत के) परिणाम के रूप में एक ऐसी दृष्टि प्राप्त होती है जो समस्त जड़ चेतन सत्ताओं में एक जीवनधारा, एक चैतन्य प्रवाह को स्पंदित (करती है) समस्त बुदबुदों में एक अव्यक्त महासागर (दर्शाती) आदमी जब इस रूप में देखता है तो एक मायने में तो वह छोटा हो जाता है क्योंकि उसका अहंकार टूट जाता है, पर दूसरे मायने में वह बड़ा हो जाता है क्योंकि सबका हित रखने वाला स्वयं 'सब' बन जाता है।[25] इसकी उपलब्धिस्वरूप, मानवता का समग्र रसायन होता है, व्यक्तियों के लिए सन्मार्ग प्रशस्त हो जाता है और मनुष्य व प्रकृति सहचर बन जाते हैं।

ऋत का यह व्यापक भाव सम्प्रभुता से जुड़कर उसका अभिभावी सांस्कृतिक नैतिक-परिवेश निर्मित करता है। ऋत-सम्प्रभुता का अभिप्राय यह है कि राज्य विशेष की जनता अपने आप को सम्प्रभुतासम्पन्न मानकर मानवता को उपेक्षा न

करे। [8] इस दृष्टि से ऋत-सम्प्रभुता व्यक्ति की नैतिक व मानवीय चेतना को नए ग्रायाम देती है और इस सब के माध्यम से व्यक्ति राज्य व सरकारें नैतिक सन्दर्भ म अपने-अपन काय करत हुए पारस्परिक विकास को सम्भव बनात हैं और मानवतावाद के बडे मूल्या से सम्बोधित हात हैं। सम्प्रभुता इस स्थिति म स्वय मे सिद्धि नही होती, वह सिद्धि के लिए साधना बन जाती है।

विशिष्ट राजनीतिक सन्दभ मे ऋत सम्प्रभुता, जन सम्प्रभुता और सविधान-सम्प्रभुता म काय-कारण सम्बन्ध (causal relationships) व्यक्त है।[2] ऋत सम्प्रभुता के नैतिक व एकीकरण भाव स जनसम्प्रभुता प्रबल चेतना प्राप्त करती है और नीतियुक्त एकताकारी जन चेतना सवैधानिक सम्प्रभुता का समुचित प्रभाव व प्रवाह देती है। इन तीनो में समन्वय से राज्य साधनपरकता पाते है और इस क्रम म वे मानवतावाद का साध्य उपलब्ध करन की सकल्पित चेष्टा करते है। इसी वैचारिक समग्रता मे विश्वव्यापी सभ्यता के सकट का प्रतिरोध किया जा सकता है विकासशील क्षेत्रो म जन सगठन हो सकता है और भौतिक बल पर सर्वात्म-वादी शक्तियाँ आधिपत्य स्थापित कर सकती हैं। विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने ऋत-सम्प्रभुता के दो प्रबल परिणाम इगित किए हैं—(1) यह आस्टिन और हेगल के उग्र राज्यशक्तिवाद से प्रभावी बचाव करा सकती है और (2) इससे बहुलवाद के वचारिक भ्रमजाल से भी परित्राण सभव है।[28]

उपसहार

प्रस्तुत अध्याय म वर्णित व विश्लेषित सम्प्रभुता के विविध प्रसग यह उद्-घाटित करते हैं कि सम्प्रभुता का भारतीय व पश्चिमी सन्दभ स्थितिजन्य व तत्परिणामी वैचारिक विभिन्नताओ का परिचय देता है। पश्चिमी सम्प्रभुतावाद मूलत राज्य की सर्वोच्च शक्ति के कानूनी सत्य को ही प्रतिष्ठित करता है और एक लम्बे समय तक यह राज्य शक्ति को एक अभीष्ट के रूप म प्रतिष्ठित करता है। इस शक्ति का स्थूल रूप ही आराध्य होना सा दिखाई देता है और विधिशास्त्री इसी स्थूल की प्रकृति का वणन विश्लेषण करते हैं जसकि यह शक्ति अदेय अवि-भाज्य अहरणीय इत्यादि है और इसके ही साथ से निश्चित मानव 'श्रेष्ठतर' (determinate human superior) सघटित होता है। शक्ति की सूक्ष्मताओ व कानूनतर वास्तविकताओ का समग्र भाव विशेषत व्यवहारवादी राजनीति के सन्दभ म प्रकट हाता है जिसके अन्तगत शक्ति सत्ता व औचित्य म क्रियाकारणत्व (causality) सम्बन्धी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इसके विपरीत भारत मे दण्डनीति पाश्चात्य आशिकता का बोध नही कराती, वह समग्र रूप स दण्डनीति का कायकारी भाव भी इगित करती है और उसका व्यापक वैचारिक कलेवर भी। दण्डनीति मे निहित सम्प्रभुता प्रजा और राजा दोनो को एक-दूसर मे बाँधती है

और इस सहकारी भाव से दोनों का समुन्नयन होता है। कानूनी शक्ति नैतिक सत्ता में परिणित होती है और नैतिक सत्ता से शासन की नैतिक स्वीकृति व अनुकृति स्थापित होती है। इस दृष्टि से भारतीय दण्डनीति अपने प्रारम्भिक क्रम में ही बीसवीं शताब्दी का 'व्यवहारवादी यथार्थ' पूर्वकल्पित करते हुए, सम्प्रभुता का नैतिक, सावयवात्मक व लोक औचित्यकारी आधारशिलाएँ परिलक्षित करती हैं।

उद्धरण व टिप्पणी

1 हेरॉल्ड लास्की ग्रामर आव पॉलिटिक्स पृ० 44
2 वही
3 एस० ई० फाइनर कम्पेरेटिव गवर्नमेन्ट पृ० 42 46
4 लास्की पूर्वोक्त, पृ० 52
5 अर्नेस्ट बार्कर प्रिंसिपल्स आव् सोशल ऐण्ड पॉलिटिकल थिअरी, पृ० 60
6 लार्ड ब्राइस का यह कथन गिलक्राइस्ट द्वारा उद्धत, प्रिंसिपल्स आव पॉलिटिकल साइंस, पृ० 112
7 भट्टाचार्य पॉलिटिकल थिअरी, पृ० 100
8 गिलक्राइस्ट पूर्वोक्त, पृ० 37
9 मेकाईवर दि मॉडर्न स्टेट, पृ० 160
10 गटेल का यह कथन ए० सी० कपूर द्वारा उद्धत, प्रिंसिपल्स आव पॉलिटिकल साइंस, पृ० 142 143
11 लास्की, पूर्वोक्त, (इस भाव की विस्तृत व्याख्या के लिए पुस्तक की प्रस्तावना विशेषत उल्लेखनीय है)।
12 कार्ल जे० फ्राइडरिच, एन इंट्रोडक्शन टु पॉलिटिकल थिअरी, पृ० 98
13 *वही पृ० 101*
14 रॉबर्ट डाहल माडर्न पॉलिटिकल एनालिसिस, पृ० 32 34
15 दण्डनीति के धर्मशास्त्र विषयक उद्गम में सम्बन्धित चर्चा के लिए देखें एम० विन्टरनिट्ज "कौटिलीय अर्थशास्त्र", कलकत्ता रिव्यू, अप्रैल 1924, तथा पी० वी० काणे, दि हिस्टरी आव दि धर्म शास्त्राज खण्ड I, पृ० म० 9, 87
16 दण्डनीति की धर्मशास्त्र-स्वतन्त्र व्याख्या के लिए देखें नरेन्द्रनाथ लॉ, स्टडीज इन इंडियन हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृ० 257 58 तथा रंगस्वामी आयंगर, सम आस्पेक्टस आव एंशियण्ट इंडियन पॉलिटी, पृ० 53-54

17 दण्डनीति न धमशास्त्र के विरोधाभासी पक्षा के विवेचन की दृष्टि म देखें ए० बी० कीथ, ए हिस्टरी आव् सस्कृत लिटरेचर, प० स० 45है, 243
18 भास्कर आनन्द सेलेटोर एन्शिएट इंडियन पॅलिटिक्ल थॉट ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स प० 21 23
19 शातिपव, Lxii 28 29
20 वी० पी० वर्मा स्टडीज इन हिन्दू पॅलिटिकल थाट ऐण्ड इटस मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स, पृ० 78
21 अर्थशास्त्र V, 1
22 विनय कुमार सरकार, 'सम वेसिक आइडियाज आव पलिटिकल थिंकिंग इन एन्शिएट इंडिया ' दि कल्चरल हेरिटेज आव् इंडिया, खण्ड II पृ० 513-514
23 वही ,
24 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा; "ऋत सम्प्रभुतावाद वेद का निराट राजनीतिक दशन" (परिशिष्ट 2), वदिक राजनीतिशास्त्र, प० स० 258 62
25 विद्यानिवास मिश्र, हिन्दू धर्म जीवन मे सनातन की खोज (विशेपत भूमिका)
26 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा एन० 24 पृ० 259
27 वही पृ० 261
28 वही।

उदारवाद के आमक आवरण म अनुदारवाद प्रवर्तित किया है, समर्थ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए असमर्थ व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का हनन किया है विज्ञान व प्रविधियों के साधनात्मक स दर्भो को विकृति प्रदान करते हुए उनके बल पर अन्तर्राष्ट्रीय आधिपत्य स्थापित किया है (उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद) और कुल मिलाकर 'सभ्य समाज के प्रसार को तरजीह देते हुए अपनी तथाकथित सभ्यता को अन्य समाजों की अर्द्ध-सभ्यता अथवा असभ्यता पर अध्यारोपित किया है। पश्चिमी राज्य-व्यवस्था की वैकल्पिक चित्र निर्मिति उदारवादी अध्यारोपणों का निषेध प्रस्तुत करती है, उसमें व्यक्तियों एव समाजों के पुनर्जागरण व पुनर्गठन का मन्त्र समाहित रहा है और इसकी अभिप्रेरक विचार धाराएँ इन व्यवस्थाओं को नए सिरे से तैयार करते हुए समय समय पर उनकी समाजगत व अन्तर्राष्ट्रीय भूमिकाएँ निरूपित करती रही हैं और इस दृष्टि स राज्य-व्यवस्था को प्रभिभावी सत्ता प्राप्त है। यह राज्य का दायित्व है कि वह व्यक्तियों व सम्पूर्ण समाज को नए अनुशासन म ढाले और उसे स्थायित्व देते हुए विश्व सन्दर्भ म अभिनव उपलब्धियाँ मापदण्ड अर्जित करे। ऐसा कई अर्थों और प्रसगो म हुआ भी है। इस सबके बावजूद तथ्य यह है कि पश्चिमी सन्दर्भ म राज्य की गतिविधियाँ आज भी इसी वैचारिक ध्रुवीकरण की पक्षधर है यद्यपि व्यावहारिक राजनीति इनकी स्पष्टता को खण्डित व धूमिल करते हुए एक ओर जहा उदारवादी व्यवस्थाओं मे दुर्दमनीय राज्य सत्ता का भाव प्रकट कराती है तो वही दूसरी ओर उदारेतर व्यवस्थाओं म व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व अधिकारों का असहमतिमूलक भाव मुखरित सा होता है। इन आभासित अन्तर्विरोधों का एक सभावित कारण तो यह है कि व्यक्तिवाद व समष्टिवाद मे तर्कसगत अन्त सम्बन्ध पर्याप्तत नही स्थापित किए जा सके है और उन्हे एक दूसरे की प्रतिरोधक शक्तियों के रूप मे ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इस स दर्भ म सभवत यह ध्यान पर्याप्त रूप म नही रखा गया है कि 'व्यक्तिवाद व समष्टिवाद व्यक्तियों के दो पृथक समूहों मे निर्मित दो विरोधी सेना सत्ताओं की पताकाएँ नहीं है। हम सभी इन दोनो पताकाओं को (एक साथ) फहराते है और हम सब उन दोनो के अधीन कार्य करते है।[1]

इसके अतिरिक्त, राज्य विषयक पश्चिमी स दर्भ अपनी मूल प्रकृति मे सामाजिक समन्वय का नही बल्कि, सामाजिक अध्यारोपण का भाव जगाता है। चर्च राज्य सघर्ष म चर्चसत्ता पर राज्य सत्ता का अध्यारोपण राज्य प्रभुता का का सामाजिक सन्दर्भ मे अभ्यर्थना व परवर्ती भत्सना राज्य सामाजिक सम्बन्धो के सन्दर्भ म प्रभुताशाली समाज द्वारा राज्य प्रभुता स्थगन (अहस्तक्षेप व उदारवादी राजनीतिक-सामाजिक स दर्भ) और प्रभुताशाली राज्य द्वारा—य सामाजिक प्रभुता की अवहेलना (उदारेत्तर व्यवस्थाओं का विशिष्ट स दर्भ) ये समस्त प्रकरण राज्य और समाज के बीच एक ऐसी प्रतियोगिता का भाव

अध्याय 8

राज्य गतिविधियों का सामाजिक सन्दर्भ

राजनीति विज्ञान मे, विशेषत उसके पश्चिमी सन्दर्भ में राज्य गतिविधियों की सीमाएँ निर्धारित करने का सकल्पित प्रयास किया जाता रहा है। इन समस्त बौद्धिक अभ्यासों एव क्रियाओं का नवसार यह है कि राज्य और समाज दो स्पष्टत भेद सन्दर्भों में अपनी अपनी क्रियाएँ सम्पादित करें और उनके परस्पर व्यापी क्षेत्र उनके वैशेषिक अन्तरों को धूमिल न करें बल्कि, उन्हें मुखरित करते हुए उनकी निजी सत्ताओं के प्रकट निरूपण में सहायक हो। सामान्यत यह तर्क विकसित किया जा रहा है कि राज्य गतिविधियाँ व क्रियाएँ इस प्रकार विकसित व विस्तरित होनी चाहिए कि उनके क्रम से वैयक्तिक स्वतन्त्रता को आघात न पहुँचे और न ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता इतनी अमर्यादित होनी चाहिए कि वह राज्य-सत्ता के प्रभाव को ही शिथिल कर दे। इस दृष्टि से उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व अधिकारों को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान करते हुए राज्य की सीमित नियमनकारी गतिविधियों पर बल देती है जबकि गैर उदारवादी व्यवस्थाएँ व्यक्ति व समाज के सचालनीकारण के उद्देश्य से व्यक्तिगत सामाजिक क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर उन्हें राजनीतिक सन्दर्भ प्रदान करती हैं और व्यवस्था के तन्त्र पर राजनीतिक सस्कार निर्मित करते हुए व्यक्तियों व समाज को उनमें प्रतिबद्ध करती है। व्यवस्थाओं सम्बन्धी यह अन्तर पश्चिम में व्यक्तिवाद व समष्टिवाद के दो ध्रुवीकरण निर्मित करता रहा है। दोनों ही प्रकार अपने अपने सन्दर्भ में औचित्य प्राप्त है और इस औचित्य की ऐतिहासिक सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक आदि अनेक व्यवस्थाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। आज के सन्दर्भ में ना यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट उपलब्ध कराता है क्योंकि व्यक्तिवादी भावना की तार्किक परिणति न ऐतिहासिक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर

उदारवाद के भ्रामक आवरण में अनुदारवाद प्रवर्तित किया है, समर्थ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए असमर्थ व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का हनन किया है, विज्ञान व प्राविधिकी के साधनात्मक सन्दर्भों का विकृति प्रदान करते हुए उनके बल पर अन्तर्राष्ट्रीय आधिपत्य स्थापित किया है (उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद) और कुल मिलाकर सभ्य समाज के प्रसार का तरजीह देते हुए अपनी तथाकथित सभ्यता को अन्य समाजों की अर्द्ध सभ्यता अथवा असभ्यता पर अध्यारोपित किया है। पश्चिमी राज्य-व्यवस्था की वैकल्पिक चित्र निर्मिति उदारवादी अध्यारोपणों का निषेध प्रस्तुत करती है उसमें व्यक्तियों एवं समाजों के पुनर्जागरण व पुनर्गठन का संदेश समाहित रहा है और इसकी अभिप्रेरक विचार धाराएँ इन व्यवस्थाओं को नए सिरे से तैयार करते हुए समय समय पर उनकी समाजगत व अन्तर्राष्ट्रीय भूमिकाएँ निरूपित करती रही है और इस दृष्टि से राज्य-व्यवस्था को अभिभावी सत्ता प्राप्त है। यह राज्य का दायित्व है कि वह व्यक्तियों व सम्पूर्ण समाज को नए अनुशासन में ढाले और उसे स्थायित्व देते हुए विश्व सन्दर्भ में अभिनव उपलब्धियों मापदण्ड अर्जित करे। ऐसा कई अर्थों और प्रसंगों में हुआ भी है। इस सबके बावजूद तथ्य यह है कि पश्चिमी सन्दर्भ में राज्य की गतिविधियाँ आज भी इसी वैचारिक ध्रुवीकरण की पक्षधर है यद्यपि व्यावहारिक राजनीति इनकी स्पष्टता को खण्डित व धूमिल करते हुए एक ओर जहाँ उदारवादी व्यवस्थाओं में दुर्दमनीय राज्य सत्ता का भाव प्रकट कराती है तो वहीं दूसरी ओर उदारेतर व्यवस्थाओं में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व अधिकारों का असहमतिमूलक भाव मुखरित सा होता है। इन आभासित अन्तर्विरोधों का एक सम्भावित कारण तो यह है कि व्यक्तिवाद व समष्टिवाद में तर्कसंगत अन्तःसम्बन्ध पर्याप्तता नहीं स्थापित किए जा सके है और उन्हें एक दूसरे की प्रतिरोधक शक्तियों के रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में सम्भवतः यह ध्यान पर्याप्त रूप से नहीं रखा गया है कि 'व्यक्तिवाद व समष्टिवाद व्यक्तियों के दो पृथक् समूहों से निर्मित दो विरोधी सेना सत्ताओं की पताकाएँ नहीं हैं। हम सभी इन दोनों पताकाओं को (एक साथ) फहराते हैं और हम सब उन दोनों के अधीन कार्य करते है। [1]

इसके अतिरिक्त राज्य विषयक पश्चिमी सन्दर्भ अपनी मूल प्रकृति में सामाजिक समन्वय का नहीं बल्कि, सामाजिक अध्यारोपण का भाव जगाता है। चर्च राज्य संघर्ष में चर्च सत्ता पर राज्य सत्ता का अध्यारोपण, राज्य प्रभुता का सामाजिक सन्दर्भ में अभ्यर्थना व परवर्ती भर्त्सना, राज्य सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में प्रभुताशाली समाज द्वारा राज्य प्रभुता स्थगन (अहस्तक्षेप व उदारवादी राजनीतिक-सामाजिक सन्दर्भ) और प्रभुताशाली राज्य द्वारा—य सामाजिक प्रभुता की अवहेलना (उदारेतर व्यवस्थाओं का विशिष्ट सन्दर्भ) ये समस्त प्रकरण राज्य और समाज के बीच एक ऐसी प्रतियोगिता का भाव

प्रस्तुत करते हैं जिसमें एक पक्ष का लाभ दूसरे पक्ष की अनिवार्य हानि के रूप में ही परिलक्षित होता है। यदि इन्हें समन्वित करके देखा-परखा जाए तो संभवतः यह तथ्य-प्रकाशन असंगत न होगा कि राज्य और समाज दोनों ही एक-दूसरे के अभीष्ट हैं, दोनों में एक-दूसरे का रूप व आकार प्रतिबिम्बित होता है और दोनों के समन्वित श्रम से ही दोनों अपनी रूप सज्जा को वास्तविकता प्रदान करते हैं। समाज से राज्य को अपनी गतिविधियों से सम्बन्धित अपरिहार्य 'सामाजिकता' मिलती है जबकि राज्य से समाज को परिवर्तन व विकास की आवश्यक ऊर्जा (energy) प्राप्त होती है। प्रस्तुत अध्याय में राज्य गतिविधियों की सामाजिकता के परिचायक दो प्रसंगों की वैचारिक समीक्षात्मक चर्चा की जा रही है। ये प्रसंग हैं राज्य गतिविधियों के परिचायक लोक कल्याणकारी (welfare) तथा धर्म निरपेक्ष (secular) भाव। इस क्रम में लोक कल्याणकारी राज्य व धर्म निरपेक्ष राज्य से सम्बन्धित भारतीय एवं पश्चिमी अवधारणाओं की व्याख्या की जा रही है और उनके स्थितिजन्य अन्तरों की वैशेषिक भाव प्रवाह व उनके विशिष्ट सामाजिक प्रभाव को भी निरूपित किया जा रहा है।

धर्म निरपेक्ष राज्य

धर्म निरपेक्षता : भारतीय सन्दर्भ—

इस चर्चा के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि भारत में धर्म निरपेक्षता विशेषतः पश्चिमी भाव में मूलतः अनुपस्थित रही है। यह स्थिति प्राचीन भारतीय सन्दर्भ में तो सर्वाधिक प्रभावी रही है जहाँ धर्म से निरपेक्षता का भाव नहीं बल्कि उसमें विशुद्ध आसक्ति का भाव ठोस रूप में विद्यमान रहा है। सन्दर्भ में धर्म न केवल प्राचीन भारतीय व्यक्तिगत आचरण को ही निर्धारित [illegible] शैली थी। सामाजिक स्तर पर धर्म जहाँ विविध विचारों तथा पक्षों में समन्वय प्रकट करता था बल्कि उसमें सम्पूर्ण समाज व राजनीति भी समाहित [illegible] और उससे उत्पन्न व्यापक बोध को परिभाषित करता था, [illegible] प्रतिबिम्ब [illegible] का सूत्रपात करता था। इसी विचार में [illegible] विविधताओं में [illegible] भावात्मक एकता स्थापित करने के और विचार [illegible] में व्यापक सहिष्णुता का समावेश करते थे। [illegible] स्तर पर [illegible] राजनीतिक, सामाजिक [illegible] स्तर पर [illegible] धर्म [illegible] था।

भारत में [illegible] [illegible] रहा है। [illegible] [illegible] है।

[illegible]

है 'बांधना'। इस अर्थ में 'रिलिजन' एक बाध्यकारी शक्ति के रूप से ऐसे वैचारिक व विश्वासपरक बंधन चरितार्थ करता है जो ईश्वर व व्यक्ति के बीच प्रभावी हो। सिसरो के शब्दों में यह एक 'निगरानी पूर्ण देखभाल' प्रतिपादित करता है जबकि काण्ट 'रिलिजन' को दैविक कानून पर आधारित (व्यक्तिपरक) कर्तव्यों के भाव' के रूप में परिभाषित करता है। श्लाइअरमेकर इसे 'व्यक्ति की पूर्ण निर्भरता की भाव' के रूप में प्रतिष्ठित करता है जबकि टाइलर इसे आध्यात्मिक अस्तित्व में विश्वास के रूप में निरूपित करता है।[2] इन समस्त वैचारिक अभिव्यंजनाओं में 'रिलिजन' एक सामुदायिक विश्वास के रूप में परिलक्षित होता है। इसके पूर्णतः विपरीत भारत में धर्म जीवन में सनातन की खोज में वैयक्तिक प्रयासों का प्रतिबिम्बित करता है। भारत में धर्म मूलतः सम्प्रदायगत जीवन और उसके बाह्य अनुशासन की बाध्यता के रूप में प्रकट नहीं होता बल्कि वह अधिक सटीक रूप से व्यक्ति के आंतरिक भाव बोध का विषय बनकर प्रकट होता है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन को चेतनता से समृद्ध करते हुए उच्चतर लक्ष्यों की ओर बढ़ता है, सभी अपने अपने धर्म का अनुसरण करते हुए सामाजिक साध्य को संशोधित करते है और इन सम्मिलित प्रयासों के प्रतिफल के रूप में धर्म वह सार निरूपित करता है जिस पर सम्पूर्ण समाज अवलम्बित होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद में धर्म की अवधारणा को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया

> ब्रह्मन् पर्याप्तत सशक्त नहीं था। अतः उसने और भी अधिक विकसित और सर्वोत्कृष्ट धर्म की सृष्टि की। धर्म बल का बल अथवा शक्ति की शक्ति है। धर्म से उच्चतर कुछ भी नहीं है इस क्रम से ही एक दुर्बल व्यक्ति अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति पर एवं राजा के रूप में धर्म की सहायता से शासन कर पाता है। यह धर्म सत्य का समानार्थक है। अतः यदि कोई व्यक्ति सत्य बोलता है तो लोग यह कहते है कि वह धर्म उच्चारित करता है और यदि वह धर्म को अभिव्यक्ति देता है तो वे कहते है कि वह वस्तुतः सत्य बोलता है।[3]

प्रारम्भ में धर्म (वैदिक काल में) कानून संहिता अथवा अध्यादेश का प्रतिरूप था। उपनिषदिक व ब्राह्मणिक युग में धर्म ने ऋत से सम्पृक्त होकर नैतिक भाव अर्जित किया और इस नैतिकता ने धर्म को भी व्यवस्थित किया व उसके क्रम में समाज और राज्य को भी। धर्म ने तदुपरान्त क्षत्र (राज शक्ति) से उच्चतर स्थान प्राप्त किया और इस उच्चतर सत्ता के रूप में वह क्षत्र को संचालित व निर्देशित करने लगा। बौद्ध धर्म ने विशुद्ध धार्मिक सन्दर्भ में धर्म चक्र प्रवर्तन को तरजीह दी और कौटिल्य ने इसी धर्म को व्यापकता देते हुए उसे नैतिक सत्य,

सामाजिक कर्त्तव्य पालन और नागरिक कानून के रूप में देखा जाता। राजधर्म इसी व्यापक धर्म भाव से व्युत्पन्न था और एक साधन के रूप में राजनीति व राजनीति से व्यापक समाजनीति का संचालित करता था। धर्म सम्बन्धी यह चर्चा पर्याप्त यह इंगित करती है कि धर्म से व्यक्ति, समाज व राज्य संचालित थे। धर्म इन्हें परस्पर जोड़ कर एक-दूसरे के सन्दर्भ में कार्यशील बनाता था और धर्म की यह व्यापकता भारतीय परिवेश में धर्म से विरक्ति नहीं घनघोर आसक्ति की परिचायक थी। धर्म अपने वस्तु क्रम में सब लोकों में अन्तर्व्याप्त था और ऐसा होते हुए यह सार्वलौकिकता का तत्त्व प्रस्तुत करता था (सब लोकों व लोक मान्यताओं का समाकलन)। वह धर्महीनता अथवा धर्म निस्सारता इंगित नहीं करता था।

ऐसी स्थिति में धर्म निरपेक्षता का कौन-सा भाव भारत में विद्यमान हो सकता था? सम्भवतः एक अर्थ में भारत में धर्म निरपेक्षता थी जो राजधर्म को निर्देशित करती थी और वह यह कि राज्य अपने शासन क्रम में किसी एक धर्म सम्प्रदाय अथवा विश्वास का संस्थागत आधार नहीं देगा और इस दृष्टि से वह अपने वास्तविक कार्य-सम्बन्ध द्वारा वे अपरिहार्य स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध कराएगा जो व्यक्ति व समाज के नैतिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक भावों में अभिवृद्धि करते हुए उन्हें वैयक्तिक व सामाजिक जीवन का परिशुद्धता सुलभ कराएगी। प्राचीन भारत में राज्य इन स्वतन्त्रताओं का अनुरक्षण करते हुए व्यक्तियों को इनसे अन्तरंग होने का अवसर प्रदान करता था और उसकी पूर्व आवश्यकता यह थी कि वह स्वयं को सकारात्मक भावों से जोड़े और योग्य/कुशल शासक आधार अर्जित करे। इन भावों से युक्त होकर ही वह विविध सामाजिक संस्थाओं को सामान्य व भेदरहित समर्थन प्रदान करने की कल्पना कर सकता था।[4] कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि पारस्परिक धर्म निरपेक्षता का मूल आग्रह यह रहा है कि राज्य की शक्ति व उसका क्षेत्र प्रकटतः परिसीमित हो और यह भी कि राजनीतिक निरंकुशतावाद का कोई भी प्रकार (चाहे वह आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी अथवा धर्मशास्त्रीय भी) राज्य क्रियाओं के धर्म निरपेक्ष सन्दर्भ में अनिवार्यतः बेमेल होता है।[5]

धर्म निरपेक्षता व धर्म निरपेक्ष राज्य की यह अवधारणा परवर्ती काल में उस स्थिति में विलुप्त सी हो गई जबकि भारतीय राज्य से उसकी वैशयिक दण्डनीति व उसका नियामक राजधर्म छिन गया और राजनीतिक साधनात्मकता का आधार इस स्थिति में उसकी पहुँच से बाहर हो गया। यह एक ऐसा ऐतिहासिक तथ्य था जिसके दूरगामी महत्व के परिणाम प्रकट हुए। राजव्यवस्था के बाहर रहते हुए भारतीयों ने पहले धर्म को प्रवर्तनकारी साधनात्मक अस्त्र बनाया और फिर परवर्ती शताब्दियों में बाह्य प्रभावों व आन्तरिक अभावों से युक्त होकर धर्म

का युगान्तकारी भाव भी क्रमश विस्मृत कर दिया। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि धर्म की जिस साध्य-साधन सम्बन्धात्मकता का गौरवशाली वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व में किया गया था (और जिसे हमने दण्डनीति के सन्दर्भ में पिछले अध्याय में उद्धृत किया है) उसकी अनुपस्थिति में साध्य और साधन का पारस्परिक वियोग वस्तुत एक तार्किक परिणति ही थी।

इसके बावजूद, आधुनिक समय में भी भारतीयों ने सार्वलौकिकता व विविध विश्वासों में अतीन्द्रिय एकता के भाव को विस्मृत नहीं किया। वस्तुत भारतीय पुनर्जागरण में यह भाव नए सामाजिक आग्रहों व भाव विन्यासों के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि आधुनिक औपनिवेशिक व्यवस्था के आघातों व उससे उत्पन्न सामाजिक संघर्षकारी स्थितियों ने धर्म निरपेक्षता के पश्चिमी भाव को उपस्थित करके भारतीय व पश्चिमपरक भाव में एक अन्तर्निहित विरोधाभासी तथ्यात्मकता को अवश्य आधार दिया। यह धर्म निरपेक्षी द्वैधता वस्तुत भारतीय समाज का सकारात्मक व नकारात्मक प्रतिकार के सामाजिक वैचारिक अस्त्र उपलब्ध कराती थी। पश्चिम सदृश वैचारिक संघर्षकारी का स्थितियों के निरूपण द्वारा ही पश्चिमी सभ्यता, धर्म व आधिपत्यकारी विकृतियों की तुलना में अपने (मूल भारतीय) वैचारिक प्रासाद का जीर्णोद्धार किया जा सकता था और ऐसा करते हुए 'आत्म अभिमान' सम्बन्धी लक्ष्य की उपलब्धि के लिए भारतीय धर्म संस्कृति व विचार तत्त्वों के बिखरे सूत्र संकलित किए जा सकते थे। इस नकारात्मक क्रिया की सकारात्मक परिणति को प्रोत्साहित करते हुए मूल सामाजिक धार्मिक संस्कारों के आधार पर भारतीय सामाजिक बहुलता व वविध्य को संगठित किया जा सकता था यह हुआ भी। अरविन्द की कृति दि फाउन्डेशन्स आव इण्डियन कल्चर पश्चिमी धर्म संस्कृति व सभ्यता की श्रेष्ठतरता को खण्डित भी करती है और भारतीय धर्म संस्कृति व सभ्यता की विस्मृत कड़ियों को जोड़ कर उनका एक अभिनव आधार भी निर्मित प्रतिष्ठित करती है। विविध सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों (ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि) ने भी अपने वास्तविक अर्थ में धर्म की आधुनिक व्याख्याएँ कीं समाज सुधारों को धर्म सम्मतता प्रदान की और ऐसा करके भारतीयता की वह देशी भावभूमि निर्मित की जो पश्चिम के सम्मुख उदीयमान भारत का एक वैकल्पित प्रतिमान प्रस्तावित करती थी। इसी धार्मिक चेतना को तरजीह देते हुए आधुनिक काल में तिलक ने 'गीता रहस्य' रचकर उसकी सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की। गांधी ने भी गीता पर भाष्य लिखा और धर्म व राजनीति के परस्पर व्यापी सूत्र भारतीय सन्दर्भ का पुनप्रभावी बनाया। इन्हीं संयुक्त भावों से बिखरी भारतीयता का संकलित किया जा सकता था और उसे राष्ट्रोन्मुखता दी जा सकती थी।

स्वतन्त्र भारत में भी धर्म निरपेक्षता का द्वैधाभासी आधार बना पाता रहा

है। भारतीय संविधान अल्पसंख्यकों की सुरक्षाओं को प्रतिपादित करके वस्तुतः सर्वधर्म समभाव ही समुन्नत करने की चेष्टा करता है। भारतीय राज्य आज किसी धर्म विशेष को संस्थागत समर्थन नहीं देता। वह सभी धर्मों व विश्वासों को सामान्य संरक्षण देता है। आधुनिक संदर्भ की आमक समझ अक्सर धर्म निरपेक्षता के नकारात्मक पक्षों को तरजीह देती प्रकट होती है लेकिन तत्काल उसकी समानुपाती अवरोधक प्रतिशक्ति जोर मारती है और यह भाव बारम्बार प्रकट होता है कि भारत में धर्मनिरपेक्षता प्रजातंत्र सार्वलौकिकता की स्थापना करती है और स्वतन्त्र धर्म निरपेक्षता भारतीय राज्य धर्म से केवल इतना ही निरपेक्ष है कि वह किसी एक धर्म का होकर नहीं रह जाता। वह समस्त धर्मों को फलने फूलने का अवसर देता है। धर्म और राजनीति में पार्थक्य राजनीति की नैतिक अभिव्यंजनाओं के परित्याग का संकेत नहीं देता। वास्तव में राजनीति नैतिक श्रेणियों को अंगीकार करके ही सोद्देश्यात्मकता अर्जित करती है। यह नैतिक मापदण्ड इस सामाजिक राजनीतिक प्रतिबद्धता को प्रतिष्ठित करता है कि धर्म का कोई भी स्वरूप सामाजिक सन्दर्भ में असमानता का बीजारोपण नहीं कर सकता। व्यावहारिक राजनीति में अक्सर यह सन्तुलन डगमगाता-सा है और स्वतव्यापार राजनीति राजनीतिक तात्कालिकताओं को प्रश्रय देने की दृष्टि से अक्सर अल्पसंख्यकों के भावों को अनुचित तरजीह भी देती है लेकिन यह मौलिक वैचारिक व्यवस्था का दोष नहीं वरिक हमारी अपनी व्यवहारजन्य व प्रवृत्तिपरक अपूर्णताओं का दोष है।

धर्म निरपेक्षता का पश्चिमी सन्दर्भ

धर्म निरपेक्षता का पश्चिमी सन्दर्भ भारतीय सन्दर्भ से पूर्णतः विपरीत धर्म से राज्य का संकल्पित रूप से पृथक् करता है और ऐसा करते हुए वह धार्मिक सत्ता पर राज्य-सत्ता को अध्यारोपित करता है। पश्चिम का वस्तुक्रम धर्म के रूप में व्यक्तियों के विश्वास, समर्पण व लोकेत्तर सत्ता की प्रधानता का भाव प्रकाशित करता है जबकि धर्म से उन्मुक्ति व्यक्ति की बुद्धि विवेक व इहलौकिक सत्ता की प्रकट स्थितियाँ मुखरित करती हैं। इस दृष्टि से धार्मिक सत्ता मानवेत्तर सत्ता का भाव जगाती है जबकि राज्य सत्ता मानव सत्ता के पर्याय का उद्घोष करती है। आधुनिक काल के अधिकांश राजनीतिक विचारकों ने मानवीय सम्भावनाओं के प्रकाशन की दृष्टि से धर्म का प्रतिकार किया है। मध्यकाल में आधुनिक राज्य की स्थापना से पूर्व ही मार्सिलियो आव पडुआ ने धर्म निरपेक्षता का भाव प्रकट करते हुए आध्यात्मिक सत्ता के मिथ्याभिमान को परिभाषित व परिसीमित किया और प्रथमतः अथवा अप्रत्यक्षतः धर्म निरपेक्ष सरकार के कार्य क्षेत्र को निर्धारित किया। सेबाइन उसके इसी योगदान के कारण उसे प्रथम

इरेस्शियन (Erastian) सम्बोधित करता है।[6] मार्सिलिओ का यह मत था कि आत्मावलम्बन के गुण से युक्त समाज अपनी भौतिक व नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वय कर सकता है। उसकी दृष्टि मे धर्म का पारलौकिक भाव तार्किक दृष्टि से अप्रासगिक है जबकि उसका सामाजिक प्रासगिकता का पक्ष सामाजिक सत्ता के अधीनस्थ रूप मे ही ग्राह्य हो सकता है। सबाइन ने मार्सिलिओ पर लेटिन एवेरोवाद का प्रभाव स्वीकार करते हुए उसकी धर्मनिरपेक्ष मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार मार्सिलिओ का यह मत था कि धर्म-विज्ञान तार्किक ज्ञान को समृद्ध नही करता, व्यक्ति बिना ईश्वर की अनुकम्पा के इहलोक म सुख अर्जित कर सकता है तथा अरस्तु का नीतिशास्त्र (Ethics) बस मोक्षदायक ही हो सकता है।" मार्सिलिओ के बाद आधुनिक युग के ब्राह्म मुहूर्त म मैक्यावेली ने भी धर्मनिरपेक्षता का अपना विशिष्ट प्रतिमान निर्मित किया। मक्यावेलि राज्य सदर्भ मे शक्ति की उपादेयता का आग्रह करते हुए शक्तिशाली राज्य से यह अपेक्षा करता है कि वह धार्मिक सत्ता को निरस्त करते हुए राज्य-प्रभुता का सवर्द्धन करे। ऐसा इसलिए क्योकि उसकी दृष्टि मे धर्म ही इटली की तत्कालीन दुर्दशा व अव्यवस्था का प्रेरक था। उसकी दृष्टि मे धर्म विषयक "इन सिद्धान्तो ने व्यक्ति को दुर्बल बनाया है और उन्हें ऐसे दुराशायी व्यक्तियो के जाल मे सहज फँसाया है जो उन्ह (व्यक्तियो को) अधिक निरापद रूप से नियन्त्रित कर सकते हैं यह देखते हुए कि अधिकाश व्यक्ति स्वर्ग पाने की लालसा मे कष्ट व वेदना सहन करने को अधिक प्रेरित होते हैं बनिस्पत उनका प्रतिरोध करने के।"[8] धर्म की खण्डनकारी वृत्तियो के परिचायक ऐसे अनेक उदाहरण व उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो धार्मिक विकृति का मानव प्रतिभा की सम्भावनाओ से दूर करने का आग्रह करते है। धर्म व धार्मिक सत्ता पश्चिम मे मूलत एक ऐसी वास्त-विकता के रूप म प्रकट होती है जिसका अपना सस्थागत ढाचा रहा है और विकासक्रम मे वह ढाँचा धर्मेतर सस्थाओ पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है बल्कि, वचस्व स्थापित करता है। इस वचस्व का विद्रोह धर्मनिरपेक्ष व भारतीय तत्वो से पूर्ण राज्य-व्यवस्था करती है। इस क्रम म यह सर्वथा तर्कसगत है कि राज्य धर्म व धार्मिक सत्ता का निषेध करे और धर्मनिरपेक्षी भाव से शासनकाय चलाने का उपक्रम करे। परेशानी तब उपस्थित होती है जब धर्म की नकारात्म-कता को राज्य सत्ता निष्प्रभावी बनाती है और कालातर मे विकसित राज्य-नकारात्मकता का प्रतिरोध जनता की विवेक शक्ति करती है और इस क्रम मे विकसित व्यक्तिवादी नकारात्मकता 'व्यवस्था का सकट' उपस्थित करते हुए राज्य के उस वर्ग शोषक रूप को प्रतिपादित करती है जिसका समाजवाद का सामाजिक भाव शमन करने की चेष्टा करता है। कुल मिलाकर पश्चिमी सदर्भ राहत की ऐसी मरीचिका दिखाता है जहाँ प्यासे व्यक्ति प्यास नही बुझा सकते और प्यास

की व्याकुलता के साथ रेगिस्तानी तपन में अविरल यात्रा करते रहते हैं स्वतन्त्रता व समानता के ध्रुवीय आदर्श उन्हें सतत् एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करते हैं और इस ध्रुवीय स्थितियों में व्यवस्थाओं के नित नए समीकरण प्रकट होते हैं। क्या इस दिक्‌भ्रम का मूल उद्गम वह धर्म निरपेक्षी भाव तो नहीं है जो धर्म के सम्प्रदायगत अथवा मठाधीशी आवरण के परे देखने-परखने की वृत्ति पैदा नहीं करता और प्रकार की विकृति में अभीष्ट की सम्भावनाओं का प्रतिकार कर देता है?

इसकी एक व्याख्या और सम्भावित रूप से प्रस्तुत की जा सकती है—पश्चिमी राजनीतिक सामाजिक सन्दर्भ ने एक समय में व्यक्ति व समाज की कुछ सम्बन्धित वृत्तियों को ही प्रतिनिधित्व दिया है—जैसे धार्मिक सत्ता के सन्दर्भ में विश्वास व समर्पण भाव की प्रधानता, राज्य स्थापना के उपरान्त मानव विवेक, बुद्धि और तर्क के गुणों की प्रभुता व्यक्तिवादी सन्दर्भ में व्यक्ति की सत्ता की स्तुति व अभ्यर्थना समाजवादी सन्दर्भ में व्यक्ति पर समष्टि का प्राधान्य, आदि। बौद्धिकता का यह आग्रह विज्ञान के बल पर और अधिक बलवान हुआ, वैज्ञानिक क्रान्तियों ने इस और अधिक निखारा सजाया तथा इनकी व्यापक समाजगत परिलक्षिति ने व्यक्ति की सत्ता को अनन्तिम व अपरिमित बना दिया। व्यक्ति की सम्भावनाओं पर सामाजिकता का अंकुश लगाने का भाव भी स्थिति का दूसरा सिरा ही बना सका। इन समस्त विकास क्रमों व प्रवृत्तियों को मर्यादित करने वाला कोई बड़ा भाव धर्म के रूप में नैतिकता के रूप में प्रतिष्ठित न हो सका। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्षता ने धर्म से मुक्ति तो दिला दी लेकिन उस मुक्ति के बाद की स्थितियों की सकारात्मकता वह निर्धारित न कर सकी। परिणामत राज्य-व्यवस्थाएँ आंखों पर पट्टी बांधे या जन्मान्धता के धृतराष्ट्री परिवेश में शासन-कार्य संचालित करती रही (यह भी सम्भव है कि सामाजिक प्रतिशक्ति ने मौका पाकर उसकी आंख पर पट्टी कस दी हो)। राजनीतिक सन्दर्भ में यह भाव वहाँ परिवर्तित न हो सका कि शस्त्रास्त्र तो अर्जुन के पास हों लेकिन रथ-संचालक सम्बन्धी सारथी भूमिका कृष्ण पूरी करें। धर्म निरपेक्षता ने राज्य-व्यवस्थापकों को एक हाथ में हथियार लेकर दूसरे हाथ से रथ चलाने को प्रेरित किया। इस क्रम में कभी केवल रथ ही चलता रहा और हथियार इस्तेमाल नहीं हुए और कभी हथियार चलाने के जोश में रथ संचालन छोड़ दिया गया, परिणामत रथ दिक्‌भ्रमित हो गया।

धर्म निरपेक्ष राज्य भारतीय व पश्चिमी सन्दर्भों की तुलना

धर्म निरपेक्ष राज्य से सम्बन्धित भारतीय व पश्चिमी सन्दर्भों की तुलनीय विशेषताएँ इस प्रकार प्रकट की जा सकती हैं—

1 भारत में प्रारम्भिक अवस्था में धर्म निरपेक्षता विद्यमान नहीं थी

बल्कि, धम से प्रेरणाधायक लगाव व्याप्त था। पश्चिम मे इसके विपरीत धम निरपेक्षता के अ तगत धम से पूण मुक्ति का आग्रह किया गया था और धम शक्ति पर राज्य शक्ति की प्रधानता स्थापित की गई थी,

2 प्राचीन भारत म प्रतीकात्मक धम निरपेक्षता का अथ यह था कि राज्य किसी एक धम अथवा मत को प्रश्रय न दे बल्कि समस्त धर्मों व मत विश्वासो के विकास को सम्भव बनाए। पश्चिम म धम के खण्डन से राज्य शक्ति के विस्तार का व्यावहारिक आधार देने का प्रयास किया गया और धर्म म निहित व्यक्ति, के विश्वास व समपण की अपेक्षा उसमे बुद्धि विवेक व निजी स्वत त्रता के भाव का प्रतिष्ठित करने का राज्य म आग्रह किया गया,

3 आधुनिक भारत ने खोए धम भाव का फिर स प्राप्त करने का प्रयास किया और पश्चिमी सम्पक से मिले पश्चिमी धम-निरपेक्ष भाव का अपने मूल भाव से सम वय करते हुए राजनीति और धम म सम्ब ध स्थापित किया। गाधीजी ने ऐसी सम्मिलित भाव म नतिक राजनीति का सूत्रपात किया और स्वत त्रता आ दोलन को व्यावहारिक नेतृत्व दिया। पश्चिम ने इसके विपरीत, एक बार धम स मुह मोडने पर दुबारा उसकी ओर नही देखना चाहा और उसस अलग मानव की अपनी एक ऐसी सत्ता निर्मित करने की चेष्टा की जो धार्मिक सत्ता से पूणत भि न थी,

4 स्वाधीन भारत आज भी सव धम सम-भाव (सब धर्मों की समानता का भाव) विकसित करते हुए अल्प स ख्यक समुदायो के धार्मिक हितो व स्वतत्रताओ की रक्षा करने का सरकारी प्रयास कर रहा है जबकि पश्चिम मे अब गैर-सरकारी स दभ मे आध्यात्मिक मूल्यो के प्रति समथन बढना शुरू हुआ है। यह स्थिति अपनी शैशव अवस्था म ही है लेकिन विनाश की अधिकता से प्रकट परेशानी के निराकरण के लिए धम व आध्यात्मिकता के गैर पश्चिमी प्रकट भाव के लिए पश्चिम मे आज सहज कौतूहल जाग रहा है।

धम निरपेक्ष राज्य परिभाषा व सामा य विशेषताएँ

अब तक के विश्लेषण के आधार पर धम निरपेक्ष राज्य को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

धम निरपेक्ष राज्य वह है जो किसी भी धम को सरकारी नीतियों

की दृष्टि से सरकारी सरक्षण न देते हुए अपने राज्य के समस्त हितो विश्वासो व मान्यताओ को समान महत्त्व देता है और राजनीतिक समाज के अल्पसख्यक व बहुसख्यक सदस्यो मे इस दृष्टि से कोई भेद भाव नही करता। ऐसा राज्य धर्म मे निरकुशता तो नही ग्रहण करता लेकिन साथ ही धर्म सम्मत न्याय, स्वतन्त्रता व अधिकारो का अपने कार्य कर्मों द्वारा अबाधित प्रवर्तन अवश्य करता है।

इस राज्य की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएँ प्रकट की जा सकती हैं—

1 धर्म निरपेक्ष राज्य अपने समस्त नागरिको को धार्मिक आचार-विचार की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है,
2 ऐसे राज्य मे अधिकृत रूप स कोई धर्म स्वीकार नही किया जाता अर्थात राज्य का कोई अपना धर्म नही होता,
3 इसमें सामाजिक सहिष्णुता का भाव विद्यमान होता है। इसी सहिष्णुता से सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भ मे वह आम-सहमति निर्मित होती है जो सरकारी नीतियो व कार्य क्रमो को जन-समर्थन का आधार देती है,
4 इसम समाज मे निहित बहुसख्यको व अल्पसख्यको मे उनकी सख्या के अथवा किसी अन्य आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाता,
5 धर्म निरपेक्ष राज्य किसी भी प्रकार की राजनीतिक निरकुशता का पक्षधर नही है। वह मर्यादित राज्य व आत्म सयमी समाज व नागरिको की पूर्वापेक्षा करता है।
6 इस राज्य मे धर्म का कोई सकीर्ण मत अथवा सम्प्रदाय राजनीति को प्रेरित व निर्देशित नही करता। धर्म का ऐसा पक्ष व राजनीति आपस मे पृथक होते है। राजनीति किन्ही धार्मिक विशेषाधिकारो को मान्यता देकर सामाजिक सन्तुलन अस्त-व्यस्त नही करता, तथा
7 इस सब के बावजूद, धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी नही होता, वह केवल धार्मिक पूर्वाग्रहो का ही विरोधी होता है। यह राज्य सब धर्मों के सम्मिलित आदर्शों को स्वीकारते हुए व्यक्ति व समाज को न्याय, स्वतन्त्रता अधिकार व समता उपलब्ध कराने का सकल्पित प्रयास करता है। इस दृष्टि स धर्म निरपेक्ष राज्य किसी विशिष्ट धर्म को न अपनाते हुए भी एक धर्म-परायण राज्य बनने का अभीष्ट स्वीकार करता है और निर्दिष्ट दिशा म चेतनशील रूप से बढ़ने की चेष्टा करता है।

लोक कल्याणकारी राज्य

लोक कल्याणकारी राज्य लोक भावना से प्रेरित एक ऐसा राज्य है जो राज्य समाज सम्बन्धो के सौहार्द का दूसरा विशिष्ट प्रतिमान स्थापित करता है (पहिले, धर्म निरपेक्ष राज्य प्रतिमान की सविस्तार चर्चा की जा चुकी है)।

भारतीय सन्दर्भ

भारतीय सन्दर्भ मे दण्डनीति धर्म व राजधर्म की सविस्तार चर्चा के उपरान्त यह कल्पना करना उपयुक्त ही होगा कि यहाँ लोक कल्याणकारी राज्य राजधर्म के प्रेरक तत्त्वो पर अवलम्बित था वह किन्ही राजनीतिक तात्कालिकताओ का परिणाम नही था। राजधर्म के प्रवर्तन का मूल आशय ही यह था कि राज्य का केवल नकारात्मक रूप से ही कार्यशील न होते हुए (जिसके अन्तर्गत वह राज्य तन्त्र के बल पर आदेश व उनकी अनुपालना स्थिर करता था) सकारात्मक कार्य विधा का भी परिचय दे और इस दृष्टि से जनता को विकास की स्थितियाँ उपलब्ध कराए। मूल भाव यह है कि शासन कार्य मे जनता पर नियन्त्रण व जन सुविधाओ को प्रोत्साहन व्याप्त हो। राज्य हस्तक्षेप भी करें और जन सरक्षण भी प्रदान करे। इस दृष्टि से राज्य की गतिविधियाँ पर्याप्तत निरूपित की गई थी।

मनुस्मृति मे राजा की विस्तृत शक्तियो का उल्लेख मिलता है। राजा की कार्यकारी शक्तियो के अन्तर्गत दो विशिष्ट पक्ष समाहित थे— सरक्षण व दण्ड। सरक्षण के अन्तर्गत नीतियो के समाजगत व्यवहारो से उत्पन्न भ्रान्तियो से बचाव व सबल से निर्बल की रक्षा का भाव निहित था। दण्ड राज्य की कार्यकारी शक्ति का एक ऐसा सार रूप था जो व्यवस्था का सृजन करता था और राज्य व्यवस्था का उल्लघन करने वालो को सजा देने की कानूनी सामर्थ्य सुलभ कराता था। न्यायिक शक्तियो के अन्तर्गत राजा सर्वोच्च न्यायाधिपति के रूप मे न्याय प्रवर्तन करता था। राजा इस दृष्टि से राज्य कानून के मूल भाव को प्रकट करता था और विविध प्रथागत कानूनो का विशद अध्ययन करके इस भाव को तरजीह देता था। कानून निर्माण के सन्दर्भ मे राजा धर्म शास्त्रो व प्रथागत कानूनो को आधार मानकर शासन विधियाँ निर्धारित करता था। प्रशासनिक दृष्टि से राजा कार्मिको की नियुक्ति व उनकी प्रशासनिक गतिविधियो की समीक्षा करता था। राजा प्रशासनिक सन्दर्भ मे सम्पत्ति विषयक प्रश्नो व समस्याओ पर भी ध्यान केन्द्रित करता था। राजा पुरोहितो व ऋत्विकों की भी नियुक्तियाँ करता था। राजस्व क्रियाओ के अन्तर्गत राजा से यह अपेक्षा थी कि वह कर (tax) आरोपित करे और इस आधार पर राज्य कोष सर्वर्द्धित करे। उसे निर्देश यह था कि जिस पर मधुमक्खी बछड़ा और जोंक अपना आहार धीरे धीरे ग्रहण करते हैं उसी प्रकार राजा को आर्थिक रूप मे हल्का कर आरोपित करना चाहिए। रक्षा

व्यवस्था की सुदृढता के लिए राजा का सैनिक संगठन, समन्वय एवं समीक्षा की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त थीं। इन सब के अतिरिक्त राजा को कला व संस्कृति के समुन्नयन सम्बन्धी अधिकार आदि भी दिए गए थे। विद्वानों का सम्मान, उनकी विविध करों से मुक्ति आदि ऐसे कार्य थे जिनकी राजा से अपेक्षा की जाती थी।

कौटिल्य ने भी लगभग इन्हीं क्रमों में राज्य व राजा की गतिविधियों का वर्णन विश्लेषण किया है। कार्यकारी शक्तियों के अन्तर्गत संरक्षण व दण्ड का प्रावधान यथावत स्वीकार किया गया लेकिन संरक्षण के क्षेत्र को अधिक व्यापक बना देते हुए कौटिल्य ने प्राकृतिक विपदाओं से बचाव का कार्य राज्य को सौंपा। इसके अतिरिक्त, कौटिल्य ने अपराधियों के भरक्षण का भी संस्थागत उपाय किया और अपराधियों से बचाव व उन पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए कलेक्टर-जनरल का एक नया पद सृजित किया। न्यायिक सन्दर्भ में राजा न्यायपालिका का *अध्यक्ष तो था लेकिन कानून का स्रोत नहीं था। कानून सामूहिक बुद्धिमता से* संस्थात्मक ढांचे में विशिष्ट परिषदों द्वारा निर्मित होता था जिसमें अन्य लोगों के अतिरिक्त राजा भी भाग लेता था। राजा के प्रशासनिक दायित्व मनुस्मृति की अपेक्षा कहीं अधिक सघन व श्रमसाध्य थे यद्यपि संस्थात्मक प्रशासन को कौटिल्य ने पहले की अपेक्षा अधिक ठोस आधार प्रदान किया। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा को राजस्व, धार्मिक मामलों, रक्षा विषयों तथा लोकजीवन से सम्बन्धित प्रश्नों का निपटान की दृष्टि से महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्रदान की।

लोक कल्याणकारी राज्य की मूल आत्मा भारतीय सन्दर्भ में अशोक के शासन काल में प्रकट होती है। मौर्य साम्राज्य की गौरवशाली परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए अशोक ने उसे एक नया आयाम दिया। वह आयाम था सहिष्णुता करुणा व धर्मस्थापना का जो कि सैन्य बल व शौर्य की पूर्ववर्ती परम्पराओं से बिलकुल अलग था। अशोक आरम्भ में किसी भी अन्य भारतीय राजा की भांति सैन्य बल का पुजारी था और क्षत्रिय धर्म को राजधर्म का प्रकट रूप मानता था। कलिंग विजय ने उसके व्यक्तित्व को पूर्णतः अलग रंग में ढाल दिया। उस युद्ध की निस्सारता हिंसा व द्वेष की निरर्थकता का आभास हुआ और बौद्ध धर्म के विचार तत्वों ने उसे उसकी इन भावनाओं को प्रकट करने का सम्बल प्रदान किया। यहीं से 'धर्म स्थापना' उसका आदर्श बन गया और इसकी प्राप्ति के लिए धर्म-यात्राएँ व अन्य धार्मिक उपकरण उसका साधन। इन धर्म यात्राओं में उसने लोक कल्याण की भावना से बौद्ध धर्म के उपदेशों की व्याख्या की और जनता को उनसे परिचित कराया। उसने उन्हें यह समझाया कि स्वर्ग प्राप्ति केवल महान् आत्माओं का ही एकाधिकार नहीं है ग्राम लोग भी नैतिकता के प्राचीन नियमों को अपने आचरणों में ढाल कर इस लक्ष्य को पा सकते हैं। यह संभवतः वह विरल क्षण था जब कोई सम्प्रभुशासक केवल अपराधियों, पुरोहितों, सिपाहियों व शिकारियों की संगत में

समय न बिताकर ग्राम लोगो के बीच जी रहा था और उनके मध्य धम सम्बन्धी चर्चाएँ करक धम के प्रति लोक भाव जगा रहा था।[9] इन यात्राग्रो का काफी अनुकूल प्रभाव पडा। अशोक ने धम स्थापना के व्यक्तिगत काय को व्यापकता प्रदान करते हुए धमसघा की स्थापना की। उसन धम प्रवतन के लिए अपने राज्य मे जगह-जगह धमस्तम्भ' गडवा कर भी धम प्रचार का अपना काय किया। य धम स्तम्भ बौद्ध धम व धमशासन सम्बन्धी अशोक के विचारो का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करत थे। राज्य के अन्दर धम प्रचार के लिए उसने राज्य-कमचारियो के एक नियमित वग का उत्पन्न किया और राज्य के बाहर भी उसने धम प्रचार के लिए अपन विशेष दूत भेजे। अशोक न धम का शांति-स्थापना के रूप म भी प्रस्तुत किया और इस दष्टि से 'भेरी घोष' (युद्ध की बिगुल घोषणा) को 'धम्म घोष' (धम प्रवतन की घाषणा) म परिणित किया।[10] बौद्ध धम स जुडे होने के बावजूद अशोक अन्य धर्मों क प्रति पूणत सहनशील था। वह सब धर्मो का विकास करके धम स्थापना का काय करना चाहता था। उसन हिंसा का निषेध करते हुए पशु हत्या पर प्रतिबन्ध लगाया। यज्ञ म आहुति दने के लिए की जाने वाली पशु हत्या पर भी उसने रोक लगाई। उसने व्यक्तिया व पशुग्रा के इलाज के लिए चिकित्सा-लय बनवाए। इसके अतिरिक्त यात्रियो की सुविधा के लिए उसने स्थान-स्थान पर जल व्यवस्था की पेड लगवाए तथा धमशालाग्रो का निर्माण करवाया। उसने ब्राह्मणो व श्रमणो को उदारतापूवक दान दक्षिणा दने की भी व्यवस्था की और राज परिवार के सदस्या को इन कार्यो स जुडने को प्रेरित किया। अशोक न अपने कमचारिया का स्पष्ट निर्देश दे रखे थे कि वे समय समय पर विभिन्न स्थाना पर जाकर वहाँ धम-प्रवतन की प्रगति का जायजा ले। य समस्त गतिविधियाँ इस बात का सकेत देती हैं कि अशोक वैचारिक स्तर पर व्यक्तियो को धम से दीक्षित करके लोक कल्याण भाव विकसित करना चाहता था और उसे प्रोत्साहन दने के लिए राज्य-साधनो द्वारा लोक कल्याणकारी कायक्रम क्रियान्वित किए जान का समथक था।

भारत मे मौयशासन के अन्तगत लोककल्याणकारी राज्य क्रियाग्रो का सूत्र रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता ह[11]—

1 भवन निर्माण के अत्यधिक व्यापक नियमो व आवश्यकताग्रा का क्रियान्वयन,
2 वस्तियो म उपद्रवा और विविध जन असुविधाग्रा पर कानूनी पाबन्दी,
3 किराएदारी कानूनो की स्पष्ट व्याख्या व राज्य द्वारा उनका प्रभावी प्रवतन

4 निजी भवनो मे भी सामुदायिक सभागारो, उनके प्रयोग तथा इस आधार पर सामुदायिकता की व्यवस्था,
5 नागरिको के निजी भवन व सम्पत्ति के अतिक्रमण व अधिग्रहण पर रोक,
6 सावजनिक नैतिकता की स्थापना के लिए जुए पर नियन्त्रण, वेश्यावृत्ति पर प्रतिबन्ध व अन्य अनैतिक कार्यो का राज्य द्वारा निषेध,
7 अनाथ (लावारिस) सन्तानो की राज्य द्वारा देखभाल,
8 सावजनिक स्वास्थ्य की अनुकूलता के लिए राज्य द्वारा चिकित्सको पर प्रभावी नियन्त्रण,
9 अन्न भण्डारो का नियमित जायजा व खाद्यान्न मिलावट का कानूनी निषेध,
10 सिचाई कार्यों एव योजनाओ का राज्य निर्देशन मे प्रवतन
11 श्रमिको का राज्य नियन्त्रण एव नियमन व उनके जीवन के विविध पक्षो मे सहकारी भाव की उत्पत्ति
12 यातायात की दृष्टि से राज माग सामान्य माग आदि की व्यवस्था व विविध मार्गों पर पूण चौकसी,
13 प्राकृतिक विपदाओं जैसे आग, बाढ इत्यादि से बचाव, तथा
14 वातावरण-प्रदूषण (Pollution) पर रोक व इसके अपराधियो को सख्त सजा

इन विविध कल्याणकारी कार्यों को पूरा करने की दृष्टि से मौय साम्राज्य न प्रशासन के एक ऐसे सर्मा वत सिद्धान्त को अपनाया जिसम राज्य के विविध स्तर प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से एक दूसरे से व्यावहारिक स्तर पर जुडे हुए थे। आवश्यकतानुसार प्रशासन विकेन्द्रीकरण व केन्द्रीकरण का भाव प्रकट करता था।

स्वतन्त्र भारत भी अपनी मूल प्रकृति मे लोककल्याणकारी राज्य है। स्वतन्त्रता के उपरान्त ही, (1) राजनीतिक दलो की ससदीय प्रतियोगिता क आधार पर सरकार का गठन, (2) जन-सम्प्रभुता का मूल भाव (3) समन्वित प्रशासनिक व्यवस्था, (4) सघवाद व राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण (5) सामुदायिक विकास कायक्रम व पचायती राज, (6) औपनिवेशिक शिक्षा क स्थान पर स्वतन्त्रता-अभिमुखी शिक्षा, (7) विज्ञान व तकनीकी की साधनात्मक भूमिका, (8) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (9) सवधम समभाव व साम्प्रदायिकता निषेध (10) सुदृढ रक्षा-व्यवस्था, (11) सामाजिक न्याय की दृष्टि स सावैधानिक क्रम मे स्वतन्त्रता व समानता का समायोजन, (12) नियोजित अर्थव्यवस्था आदि विशिष्ट लक्षणो द्वारा लोककल्याणकारी राज्य की अभिव्यजनाओं का मुखरित

करने का सकल्पित प्रयास प्रारम्भ किया गया। इस भाव को चरितार्थ करने मे यद्यपि राजनीतिक इच्छा का अभाव अक्सर अपनी नकारात्मक भूमिका निभाता है, पश्चिम परक राज्य की वास्तविकता स्वतन्त्र भारतीय राज्य को उसकी पूर्ववर्ती राज्य व्यवस्था से भिन्नता प्रदान करती है और धर्मपरायणता राजनीतिक प्रभुता के आगे घुटने टकती सी प्रतीत होती है, फिर भी एक नैतिक मूल्य के रूप मे लोककल्याण का भाव अभी भी प्रतिष्ठित है।

पश्चिमी सन्दर्भ

लोककल्याणकारी राज्य का विकास पश्चिम मे राज्य प्रकृति का मूल तत्त्व नही रहा है बल्कि, उसकी उपस्थिति बीसवी शताब्दी के दौरान चरितार्थ हुई है। इसका अर्थ यह है कि पश्चिम म लोककल्याणकारी राज्य का विचार अनेक राजनीतिक उतार चढावो का प्रकट परिणाम है। इन स्थितियो के दौरान पश्चिमी राज व्यवस्था का अनेक दुलध्य वैचारिक जटिलताओ का सामना करना पडा और उनके क्रम मे उसे अपन आपको पुन स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जिस प्रकार राज्य ने अपनी पूर्ववर्ती सत्ता (धार्मिक सत्ता) का दमन करके अपन आपको स्थापित किया उसी प्रकार उसे समय-समय पर सामाजिक सत्ता के बडे यथार्थ से भी टकराना पडा। कभी राज्य शक्ति निर्णायक विजय पा सकी और कभी सामाजिक शक्ति ने स्थापित राज्य-व्यवस्था की पावनता का भग कर दिया। लोककल्याणकारी राज्य का विचार प्रकटत दो प्रवृत्तियो का निषेध करता है—(1) व्यक्तिवाद व उसके वैचारिक सन्दर्भ मे राज्य के अहस्तक्षेपी रूप की कल्पना और (2) समाजवादी राज्य सरचना से उत्पन्न राजनीतिक चुनौतियाँ। इन प्रवृत्तियो का विरोध करके पश्चिमी लोककल्याणकारी राज्य वास्तव म किसी-न किसी प्रकार अपना कार्य-क्षेत्र विस्तृत करना चाहता था बिना अपने मूल रूप मे किसी परिवर्तन का स्थान दिए हुए। वह न तो व्यक्तिवाद के सीमित राज्य-क्षेत्र का नुस्खा स्वीकारने को तैयार था और न ही समाजवादी व्यवस्थाओ के विचार-धाराई प्रस्तावो द्वारा अपने में बुनियादी अन्तर ही लाने का इच्छुक। उसने वास्तव में व्यक्तिवाद को राज्य-व्यक्तित्व म उतार लिया है और स्वय वह कुछ करना चाहता है जो 18वी 19वी शताब्दी मे व्यक्ति करने के इच्छुक थे। इस दृष्टि से अभीष्ट विस्तार को लोकमान्यता तभी मिल सकती थी जब किसी लोकभाव को इन प्रयासो के आवरण के रूप मे ग्रहण किया जाता। पश्चिमी राज्य न लोक-कल्याण के भाव को इस सन्दर्भ मे लिया और इससे उत्पन्न औचित्य द्वारा अपने क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार करने म वह सफल रहा। इस दृष्टि से यह स्वीकारना असगत न होगा कि पश्चिमी राज्य का लोककल्याणकारी भाव मूलत एक रणनीति-कौशल का परिचायक है न कि वह अपन आप म कोई स्थायी भाव—एक

ऐसा रण कौशल जिसमें व्यक्ति को भी दबाया जा सकता है और समाजवादी आग्रहों का भी प्रतिरोध किया जा सकता है। इस क्रम में सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य के विस्तृत क्षेत्र को नया बल मिला और व्यावहारिक दृष्टि से राज्य फिर एक सर्वोच्च कानूनी-राजनीतिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रतिष्ठा के पक्ष का पुनः पालन में उसने उदारवादी लोकतन्त्र और समाजवादी नियोजन (planning) व समतावाद (egalitarianism) का ऐसा विचित्र सम्मिश्रण बनाया जो न तो पुरानी विचारधारा के समान है और न ही क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधारा से मेल खाता है। यह तो केवल पश्चिमी राज्य सत्ता के पुनरुद्भव का ही समर्थन करता है। अभीष्ट भी यही था।

अन्तगत शिक्षा का प्रचार एव प्रसार हुआ, श्रमिक कल्याण से सम्बन्धित राज्य-व्यवस्थापन चरितार्थ हुए, रोजगार के अवसर बढे, वृद्धावस्था व विकलागता की स्थितियो मे राहत मिली लकिन इन सबका मूल्य प्राप्त लाभों की अपेक्षा कहीं अधिक साबित हुआ। एव मूलत दमनकारी राज्य न नई स्थितिया व अवसरो का लाभ उठाकर सामाजिक जीवन के प्रत्यक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मे हस्तक्षेप का अधिकार पा लिया। राज्य व्यवस्था और अधिक केन्द्रित (centralized) हो गई, राज्य पर व्यक्तियो का आश्रय अत्यधिक दयनीय स्थिति तक पहुच गया। इस स्थिति के परिणामस्वरूप जब राज्य को अपनी अपरिहार्यता (indispensibility) का आभास हुआ तो उसने 'आत्म-महत्त्व' का भ्रार अधिक बढाते हुए व्यक्तिया के कल्याण भाव को तिलाजलि द दी। पश्चिम मे व्यवस्थाओ का सकट सभ्यता का सकट, अवस्था से वितष्णा व अलगाव मूलत एव दुदमनीय राज्य व्यवस्था स उकताए हुए व्यक्तिया व समाजा की दमित भावनाओ का सकेत है। लोक कल्याण-भाव का साधन पाकर पश्चिमी राज्य ने सफलता की मजिल पाई और फिर ऊपर चढकर इस्तेमाल की गई साधन रूपी सीढी का खीचकर अपने पास ही रख लिया कि कही कोई और सत्ता इस सीढी का प्रयाग करके उसके पास तक न पहुँच जाए। स्वतन्त्र भारत की उदीयमान प्रवृत्तिया भी अपन मूल रूप मे इस स्थिति का अपवाद नही हैं।

लोक-कल्याणकारी राज्य का वास्तविक सन्दर्भ

भारतीय व पश्चिमी सन्दभ के प्रकाश मे लोक कल्याणकारी राज्य का आधुनिक विचार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि अपेक्षित धमसम्मता व उससे प्रकट पैतृक सरक्षण की राज्य व्यवस्था के विचार से हटकर आधुनिक लोककल्याणकारी राज्य लोकहित व कल्याण का एव साध्य नही बल्कि, साधन मानकर प्रकट हुआ, साध्य राज्य-वचस्व रहा और लोक कल्याण सिफ मुहावरा बनकर रह गया। यह एक ऐसा विचार है जो लाक कल्याण की वैचारिक तामभाम का सकलित करता है लेकिन उसे ग्रहण करत हुए और सगठित करते हुए वस्तुत वह राज्य प्रभुता की वास्तविकता ही सुलभ कराता है। पश्चिमी लोकतन्त्र न स्वतन्त्रता के मूल आदश का तोडकर समता का भाव आयातित किया लेकिन दूसर को चरितार्थ करने की उसकी इच्छा ही नही थी और पहले के सन्दर्भ मे उसकी नियत बदल गई। ऐसी स्थिति मे लाक-कल्याणकारी राज्य की निम्नलिखित वास्तविक प्रवृत्तियाँ निर्दिष्ट की जा सकती है—

1 राज्य का अति केन्द्रित रूप जिसके द्वारा वह राजनीतिक सामाजिक महत्त्व के लगभग सभी पक्षो मे शक्तिपरक हस्तक्षेप करता है

2 सामाजिक स्थितिया म अभूतपूव विषमता जिसके कारण समाज

अपने ही बुने जाल में अटक सा गया है और 'सामाजिकता' का भाव लगभग विलुप्त सा हो है,

3 व्यक्ति की स्वतन्त्रताएँ, अधिकार व सामर्थ्य राज्य-व्यवस्था के पास गिरवी रखी हुई हैं। राज्य इच्छानुसार उनके बदले उसे सामाजिक सुविधाएँ देता है और इस लेन देन में वह व्यक्ति को बरबस यह आभास दिलाता है कि वह राज्य पर पूर्णत आश्रित है और उसके सम्मुख क्षुद्र व बौना है,

4 लोकतन्त्र केवल सरकारी तन्त्र बनकर रह गया है। जब लोक प्रभुता ही न हो तो भावभाव मुखरित भी कैसे हो सकता है ? यह सरकारी तन्त्र व्यक्तियों की आस्था व समर्थन से नहीं बल्कि, अपने सरकारी बलबूते पर चलता है। इसीलिए व्यवस्थाओं से व्यक्ति पार्थक्य (अलगाव) महसूस करता है, व्यवस्था उसके लिए उसकी अपनी नहीं हैं बल्कि उससे पूर्णत जुदा एक वास्तविकता है,

5 लोकतन्त्र की लोक कल्याणकारी प्रवृत्ति ने राज्य प्रशासन क्षेत्र का विस्तारित करते हुए राज्य व्यवस्थापकों के इर्द गिर्द कुछ ऐसे निहित स्वार्थों को जन्म दिया है जो जनता व व्यवस्थापकों के बीच दलाल का काम करते है और इस क्रम में जनता से अपर्याप्त विकास लाभों पर भारी कमीशन और राज्य-व्यवस्थापक वर्ग से अपनी दलाली के लिए उदार बख्शीश पाते हैं। ऐसी स्थिति में यह मध्यस्थ वर्ग स्वयं एक विशिष्ट वर्ग बन गया है जो उठा तो आम जनता से है लेकिन जिसका आचार व्यवहार 'बड़े लोगों' या साहिब लोगों का सा है।

6 सरकार का राज्य की अन्य संस्थाओं की तुलना में प्रभाव इतना बढ़ा चढ़ा है कि अन्य संस्थाएँ अपना मूल्य खोती जा रही है। आज यह कहा जाता है कि संसद अपना अवमूल्यन देख रही है न्याय पालिकाओं पर सरकारी दबाव बढ़ रहा है और अखबार रेडियो आदि सरकारी हस्तक्षेप का शिकार है। राज्य के मूर्त रूप में सरकार आज सर्वशक्तिमान है।

ये समस्त प्रवृत्तियां लोक कल्याण की परिचायक रही है बल्कि, इनसे राज्य के पूर्णतावादी नियन्त्रण की पुष्टि होती है।

उपसंहार

राज्य गतिविधियों का सामाजिक सन्दर्भ यह इंगित करता है कि हर अवस्था में राज्य गतिविधियां सामाजिक प्रवृत्तियों के सदर्भ में नियोजित की गई हैं। समाज

की व्यापक नकारात्मक शक्तियों ने राज्य को एक सीमित सन्दर्भ प्रदान किया और राज्य की व्यापकता सम्बन्धी भाव प्रतिष्ठित हुआ जबकि उसकी (समाज की) नकारात्मक प्रवृत्ति ने राज्य को निषेधी रूप प्रदान किया। इस स्थिति में राज्य स्वयं समाज में प्रकट होकर भी उसके निषेध को तत्पर हो गया—लोक-कल्याण का स्थान लोक प्रभुत्व ने ले लिया और यह स्थिति स्वयं एक सामाजिक वास्तविकता बन गई—राज्य ने समाज से ऊपर उठते हुए सामाजिक प्रभाव को सुधारने का बीड़ा उठाया लेकिन अपने आप को अंतिम व अपरिहार्य दर्शाकर उसने यह उद्देश्य ताक पर रख दिया और अपने आप को ही निखारना सँवारना आदि शुरू कर दिया। चाहे राज्य गतिविधियों का कोई भी सन्दर्भ क्यों न हो यह समाज से पृथक् नहीं हो सकता। इस दृष्टि से राज्य की समस्त गतिविधियाँ समाज व सामाजिक स्थितियों / प्रवृत्तियों से ही निर्धारित व विकसित होती हैं।

आज राज्य एक अकाट्य प्रभुता का संकेत देता है। राज्य-हस्तक्षेप समाज के हर पक्ष को प्रभावित करता है। बार्कर द्वारा व्यक्त राज्य की भ्रमर स्वचलता (humming automatism) से प्रकट भाव को ग्रहण करते हुए के० भट्टाचार्य का यह कथन है कि राज्य गतिविधियों के उपयुक्त क्षेत्र का निर्धारण व उसका सीमांकन एक मुश्किल कार्य है। यह प्रश्न अमूर्त सिद्धान्तों के निर्माण द्वारा नहीं बल्कि, परिस्थितियों के विकास तथा राजनीतिक सत्ता के सामुदायिक दृष्टिकोण द्वारा सुलझाया जा सकता है।[12]

टिप्पणी व उद्धरण

1 अर्नेस्ट बार्कर, प्रिंसिपल्स ऑव् सोशल एण्ड पॉलिटिकल थियरी, पृ० 273
2 विस्तृत चर्चा के लिए देखें विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, स्टडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट ऐण्ड इट्स मैटाफिजिकल फाउन्डेशन्स, विशेषत अध्याय 3, "नेचर ऑव दि कॉन्सेप्ट ऑव् धर्म ऐण्ड इट्स इन्फ्लुएन्स ऑन हिन्दू पॉलिटिकल फिलॉसफी" पृ० स० 88-138
3 बृहदारण्यक उपनिषद, 1, 4 14
4 गोविन्द चन्द्र पाण्डे, 'शिक्षानीति और धर्मनिरपेक्षीकरण," राज्य-शास्त्र समीक्षा, वर्ष 3, अंक 2, जनवरी 1973, पृ० 2
5 वही,
6 जॉर्ज एच० सेबाइन, ए हिस्टरी ऑव पॉलिटिकल थियरी, पृ० 274
7 वही,
8 वही, पृ० 319

अपने ही बुन जाल में अटक सा गया है और 'सामा
भाव लगभग विलुप्त सा ही है,

3 व्यक्ति की स्वतन्त्रताएँ अधिकार व सामर्थ्य राज्य-व्य
गिरवी रखी हुई हैं। राज्य इच्छानुसार उनके बदले
सुविधाएँ देता है और इस लेन देन में वह व्यक्ति
आभास दिलाता है कि वह राज्य पर पूर्णत आश्रि
सम्मुख क्षुद्र व बौना है,

4 लोकतन्त्र केवल सरकारी तन्त्र बनकर रह गया
प्रभुता ही न हो तो लोकभाव मुखरित भी कैसे
सरकारी तन्त्र व्यक्तियों की आस्था व समर्थन
सरकारी बलबूते पर चलता है। इसीलिए
पार्थक्य (अलगाव) महसूस करता है, व्यवस्
अपनी नहीं हैं बल्कि उससे पूर्णत जुदा एक

5 लोकतन्त्र की नाव कल्याणकारी प्रवृत्ति ने
विस्तारित करते हुए राज्य व्यवस्थापक
निहित स्वार्थों को जन्म दिया है जो जन
दलाल का काम करते हैं और इस
विकास नामों पर भारी कमीशन प्रा
अपनी दलाली के लिए उदार
यह मध्यस्थ वर्ग स्वयं एक विशिष्ट
आम जनता से है लेकिन
साहिब लोगों' का सा है।

6 सरकार का राज्य की अन्य
बढ़ा चढ़ा है कि अन्य संस्थाएँ
यह कहा जाता है कि संसद अपना
पालिकाओं पर सरकारी
आदि सरकारी हस्तक्षेप का
सरकार आज सर्वशक्तिमान है।

ये समस्त प्रवृत्तियाँ लोक कल्याण की परिचायक
के पूर्णतावादी नियन्त्रण की पुष्टि होती है।

उपसंहार

राज्य गतिविधियों का सामाजिक सन्दर्भ यह इंगित करता है।
में राज्य गतिविधियाँ सामाजिक प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में नियोजित की गई

राज्य-प्रकृति के विविध सिद्धान्त
समकालीन वास्तविक

राज्य की प्रकृति को किसी एक सिद्धान्त की सहायता से नही समभा
जा सकता। वास्तव म राज्य-प्रकृति की सम्पूणता विविध प्रकृति सिद्धान्तो
प्राप्त की जा सकती है। मूलत राज्य-प्रकृति के परिचायक तीन सिद्धान्त हैं जि
स दभ म राजनीतिक चि तन व अध्ययन विश्लेषण होता रहा है। ये तीन सिद्धा
इस प्रकार हैं—

(i) राज्य प्रकृति का न्यायिक सिद्धान्त
(ii) राज्य प्रकृति का आगिक एकता सिद्धान्त तथा
(iii) राज्य प्रकृति का मार्क्सवादी सिद्धान्त।

न्यायिक सिद्धान्त

राज्य प्रकृति का यह सिद्धान्त कानूनी यथाथ को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करते हुए राज्य को एक विशिष्ट "व्यक्तित्व" की कल्पना करता है—एक ऐसा व्यक्तित्व जो कानून समर्पित है और जिसको विविध व्यक्तिपरक वत्तियो की कानून अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। इस कानूनी यथाथ स राज्य के न्यायिक भाव व तत्सम्बन्धी विशेषताओ का आभास मिलता है। इस सिद्धान्त के प्रतिनिधि विचारक हॉब्स, बोदा, आस्टिन आदि हैं। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1 राज्य एक विशिष्ट कानूनी व्यक्ति है जिसका एक अभिनेय व्यक्तित्व है,
2 एक व्यक्तित्व के रूप म राज्य की अपनी विशिष्ट इच्छा है जो सम्पूण समाज की इच्छा से स्वत त्र व भिन्न है,

9 आर० सी मजूमदार, एच० सी० रायचौधरी, कालीकिंकर दत्ता एन एडवान्स्ड हिस्टरी ऑव् इण्डिया, पृ० 105
10 वही, पृ० 106
11 मूलत भास्कर आनन्द सैलेटार के खण्ड V अध्याय IV पर आधारित, देखें सैलेटार एन्शियण्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० 361 377
12 रे व भट्टाचार्य, पॉलिटिक्स थियरी, पृ० 417

(मशीनी) रूप का भी समर्थन नहीं करता। उसके मत में राज्य किसी औपचारिक व बनावटी निर्माण को चरितार्थ नहीं करता बल्कि, उसके क्रम से राज्य के विविध अंगों की सहयोगपरक अन्तर्निर्भरता व उससे उत्पन्न एकता परिलक्षित होती है।

आंगिक एकता का भाव राजनीतिक विचारों में सर्वप्रथम प्लेटो द्वारा अभिव्यक्त हुआ। प्लेटो ने समाज व राज्य के सन्दर्भ में आंगिक सहयोग को प्रकट करते हुए विवेक को समाज रूपी शरीर का सिर, शौर्य को उसके हाथ व क्षुधा को उसके पेट के रूप में निरूपित किया और शरीर रूपी उच्चता के क्रम में इन गुणों से युक्त अंगों को क्रमशः उच्चतर स्थान दिया। इस क्रम में विवेक (सिर) सर्वोच्च, शौर्य (हाथ) मध्यवर्ती तथा क्षुधा (पेट) निम्न स्थानों पर निर्धारित हुए। सिसरो ने भी राज्य की कल्पना एक समन्वित शरीर से की और राज्य सदस्यता को समान हितों पर आधारित एवं समान अधिग्रहण के रूप में पाया। उसकी दृष्टि में राज्य एक ऐसा नैतिक समाज है जिसमें व्यक्ति नैतिक परिवेश में ही नैतिक बन्धनों से बँधे हुए नैतिक व्यापार चलाते हैं और इस आधार पर नैतिकता का सवर्द्धन करते हैं। सिसरो की ही भाँति जान ग्राफ सेलिसबरी ने भी आंगिक एकता के सन्दर्भ में अपने राज्य विषयक विचार प्रतिपादित किए। इसी क्रम में मार्सिलिओ व एल्यूसियस ने भी अपने विचार प्रकट किए। मध्यकाल में यह भाव पर्याप्त स्थापित था। आधुनिक समय में आदर्शवादी अथवा दार्शनिक सिद्धान्त के सन्दर्भ में आंगिक एकता सिद्धान्त ने एक नया आधार पाया। कुछ अंशों में यह भाव हॉब्स व रूसो में विद्यमान था। हेगल ने भी इसे अपने राजनीतिक विचारों में प्रतिबिम्बित किया। जब हेगल ने यह भाव अभिव्यक्त किया कि संस्कृति के समस्त तत्व परस्पर जुड़कर एक ऐसी व्यवहार्य इकाई निर्मित करते हैं जिनमें धर्म, दर्शन, कला व नैतिकता एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करते हैं तो वह प्रकारान्तर से संघटकों की एकता को आंगिक एकता के रूप में ही प्रकट कर रहा था। ब्लुशली ने आंगिक एकता से सम्बन्धित अपने सम्मोहन को इस प्रकार प्रकट किया—जिस प्रकार एक तैल चित्र तेल की बूंदों के मात्र समूहन से कुछ अधिक होता है जिस प्रकार एक मूर्ति संगमरमर के कण संयोजन से कुछ अधिक होती है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति केवल कोशिकाओं व रक्त-अणुओं की संख्या से कुछ अधिक होता है उसी प्रकार कोई राष्ट्र नागरिकों के केवल समूहन से कुछ अधिक होता है और राज्य वाह्य नियमनों के संकलन मात्र से बढ़कर कुछ होता है।[1]

इंग्लैण्ड में हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त को विकसित किया। उसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि प्रारम्भ में उसने सार्वभौमिक विकास की कल्पना की और उसके बाद उस क्रम में जैविक विकास की।[2] स्पेन्सर ने राज्य व जैविक आंगिकताओं में समानता दिखाते हुए यह मत व्यक्त किया कि जैविक शरीर में पहले स्तर पर तो (मुँह व पेट के रूप में) कुछ भोजन नलियाँ होती हैं जिनका

3 एक कानूनी अस्तित्व के रूप मे राज्य की एक निश्चित कानूनी इच्छा भी है जिसके अनुरूप ही कानून निर्माण, कानून प्रवर्तन व कानन अधिनिर्णय हो पाता है,

4 राज्य का यह व्यक्तित्व कृत्रिम नही है बल्कि, पूर्णत यथार्थवादी है। वास्तव मे एक स्थायी परिषद् के रूप म उसका व्यक्तित्व अमर है जबकि उसमे व्याप्त व्यक्तियो का व्यक्तित्व मत्य है और इस दृष्टि से अल्पकालिक अथवा सीमित,

5 राज्य के विशिष्ट व्यक्तित्व, कानूनी इच्छा व स्थायित्व के सयुक्त भावो के प्रतिफल के रूप म राज्य के कुछ विशिष्ट हित भी हैं जो समय व सन्दभगत व्यक्तियो व समूहो के हितो से बडे हैं और स्थायी भी,

6 स्थायी हितो को बल देने के क्रम मे यह स्थायी कानूनी व्यक्तित्व (राज्य) जनहितो की औचित्यपूर्ण अवज्ञा कर सकता है, तथा

7 एक अनुभव-जन्य व्यक्तित्व के रूप मे राज्य धन व सम्पत्ति का स्वामी होता है। इसी विशेषाधिकारी स्थिति से सचालित होते हुए वह व्यापार वाणिज्य आदि का नियमन करता है और सम्पूर्ण समाज को सुरक्षा प्रदान करता है।

इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसके द्वारा निरूपित राज्य प्रकृति प्रत्यक्ष यथार्थ की समस्त विधाओ से परे है। इसके आलोचको मे डुगुइट प्रधान रूप से उल्लेखनीय है।

आगिक एकता का राज्य-प्रकृति सिद्धान्त

आगिक एकता का सिद्धान्त राज्य को जीव शास्त्रीय दृष्टि से देखते हुए उसकी तुलना मानव शरीर से करता है। इसकी यह मान्यता है कि जिस प्रकार मानव शरीर के विविध अग क्रियाशील होकर मानव शरीर चलाते हैं उसी प्रकार राज्य के विविध अग राज्य-व्यवस्था को सचालित करते हैं। लीवॉक ने आगिक सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह लिखा कि जिस प्रकार हाथ का शरीर से और पत्ते का पेड से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार मनुष्य का समाज व राज्य से सम्बन्ध है। राज्य प्रकृति का आगिक एकता सिद्धान्त राज्य प्रकृति के न्यायिक सिद्धान्त का इस दृष्टि से आलोचक है कि न्यायिक सिद्धान्त नियतिवादी क्रम मे राज्य का कानूनी व्यक्तित्व निर्धारित करता है। आगिक एकता सिद्धान्त, इसके विपरीत राज्य के स्वाभाविक क्रम मे विकसित अगो के तथ्य को स्वीकार करता है और उनकी पारस्परिकता के परिणाम रूपी राज्य के स्पन्दशील, जीवित रूप पर बल देता है। इसके अतिरिक्त, वह सामाजिक समझौता सिद्धान्त के यान्त्रिक

राज्य-प्रकृति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य प्रकृति की मार्क्सवादी व्याख्या ने राज्य की उत्पत्ति विकास व गन्तव्य सम्बन्धी विशेषताएँ प्रकट की हैं जो इसकी पूर्ववर्ती व्याख्याओं से गुणात्मक आधार पर भिन्न हैं—

1 राज्य सदैव स्थापित रहा हो ऐसा नहीं है। वस्तुत अनेक राज्य विहीन समाज प्रारम्भिक अवस्था म विद्यमान रहे हैं। राज्य एक निश्चित सामाजिक आर्थिक विकास की अवस्था मे उस समय प्रकट हुआ जब समाज वर्गों मे विभक्त हुआ और इन विभाजक वृत्तियो के फलस्वरूप राज्य की विशिष्ट आवश्यकता प्रतीत हुई।[4]

2 विभाजक-वृत्तियो को और पैना करने के कारण राज्य एक पक्ष पाती संस्था के रूप म प्रकट होती है—एक ऐसी संस्था जो पूँजी पतियो के हाथो म केन्द्रित होकर सामाजिक-आर्थिक शोषण को आधार देती है। इस दृष्टि से राज्य की कोई नैसर्गिक अथवा स्थितिजन्य नैतिकता नहीं है। वह तो पूँजीपतियो के हाथो मे शोषण का एक प्रवतनकारी माध्यम है और इस कारण एक अवाछनीय वास्तविकता, इस स्थिति की व्याख्या इस उद्धरण से की जा सकती है कि राज्य के जन्म न कानून के जन्म को चरि तार्थ किया, न्यायिक मानकों व नुस्खों की एक व्यवस्था सुलभ कराई जिसने केवल शासक वर्ग की इच्छा की ही अभिव्यक्ति की और उसे राज्य की दमनकारी शक्ति से सरक्षित किया,

3 वर्ग विभाजनो को मिटाने के लिए सर्वहारा वर्ग का सगठन तथा उसके सगठन द्वारा वर्ग सघर्ष की चेतनशील अवस्था का निरूपण अपरिहार्य है। वर्ग सघर्ष की सफल परिणिति 'बुर्जुआ राज्य की प्रवतनकारी शक्ति का दमन करेगी और प्रबलतर शक्ति सयो जित करते हुए उसके वर्गीय स्वरूप को व्यापक सामाजिकता से परिशुद्ध करेगी, तथा

4 उत्पादन के सामाजिक साधनो व उनकी सामाजिक मिल्कियत के नए सन्दर्भ म उत्पादन सम्बन्ध अपना पूर्ववर्ती शोषण छोड़ेंगे और उनमे क्रान्तिकारी अन्तर उपस्थित होगे। सर्वहारा वर्ग का सक्रमणकालिक अधिनायकत्व अन्तत वर्गों को समाप्त करेंगे और उनके साथ राज्य भी अन्त्य हो जाएगा। एञ्जिल्स के शब्दो म उत्पादको की उन्मुक्त व समान भागीदारी के आधार पर समाज राज्य को उनके उपयुक्त ठिकाने पर लगा देगा और वह चर्खे

समान रूप राज्य मे उत्पादन केन्द्रो के रूप मे प्रकट होता है, दूसरे स्तर पर शरीर जहाँ सचरण उपकरणो (circulatory appratuses) के रूप मे धमनियों व नसो को प्रकट करता है वहीं राज्य मे ये यातायात व्यवस्था के रूप मे परिलक्षित होती हैं, तीसरे स्तर पर शरीर प्रेरक-सक्रिया (nerve moter) व्यवस्थाओ के रूप मे (मस्तिष्क तत्रिका) को प्रस्तुत करता है। जबकि राज्य इस सन्दर्भ मे सरकार को उपलब्ध कराता है। इन प्रतीकात्मक समानताओ के बावजूद स्पेन्सर दोनो मे पर्याप्त अन्तर भी प्रस्तुत करता है—(1) उसके अनुसार शरीर 'असतत' है क्योंकि उसके भाग एक-दूसरे से जुड़कर भी स्वतन्त्र हैं जबकि राज्य एक सतत् इकाई है जिसके विविध भाग एक दूसरे से घनिष्ठत सम्बन्धित हैं, (2) इसके अतिरिक्त स्पेन्सर की दृष्टि मे शरीर मे चेतना उसके बहुत ही छोटे भाग (दिमाग) मे निहित होती है जबकि राज्य मे वह व्यापक रूप से फैली होती है। राज्य का प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने सन्दर्भ मे इस चेतना को प्रतिनिधित्व देता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति चेतनाशील है और राज्य की चेतना की वैयक्तिक परिलक्षिति उसके द्वारा होती है इसलिए व्यक्ति से राज्य को लाभ मिलता है न कि राज्य से व्यक्ति का। स्पेन्सर का यह व्यक्तिवादी आग्रह उसे अन्य आंगिक सिद्धान्त शास्त्रियो से पृथक् करता है।

राज्य प्रकृति की आंगिक एकता के सिद्धान्त की इन नियामक व्याख्याओ की इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि—(1) समस्त व्याख्याएं केवल आंशिक यथार्थ का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। इनसे राज्य प्रकृति के पूर्ण प्रकार का सकेत भी नहीं मिलता, (2) इनके एक मूल रूप से दो सामाजिक राजनीतिक विकृतियां उत्पन्न होती है—व्यक्तिवाद व समष्टिवाद (collectivism) और ये दोनो ही अपने विशुद्ध रूप मे स्वीकार्य नहीं हैं। व्यक्तिवाद को अतिवादी आग्रह सबके कल्याण का भाव नहीं प्रकट करता और अन्तर्निर्भरता व सहयोग का आंगिक मूलाधार भी उससे सगत नहीं बैठता जबकि समष्टिवाद सबकी भलाई से प्रतिबद्धता स्वरूप व्यक्तिवादी आग्रहो का बलिदान कर देता है। स्पष्ट है कि जब कोई वैयक्तिक अंग सब अंगो की प्रधानता के कारण काट दिया गया तो मौलिक आंगिक एकता कैसे स्थापित हो सकती है, अविश्वास, सशय व असहयोग तो ऐसी स्थिति मे घर करेंगे ही (3) ये व्याख्याएँ वैचारिक हवाई उड़ान भरते हुए अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण ढग से जैविक-व्यवस्था व राज व्यवस्था मे साम्य प्रकट करती हैं। इस दृष्टि से वाकर का यह कथन स्मरणीय है कि राज्य एक जैविक व्यवस्था नहीं है लेकिन यह उससे मिलती जुलती सी व्यवस्था है।[3]

इन समस्त आलोचनाओ के बावजूद आंगिक एकता सिद्धान्त इस दृष्टि से अपूर्व योगदानकारी है कि उसने अपने क्रम मे राज्य की एकता व अन्तर्निर्भरता के उस तथ्य को प्रस्तुत किया जो आज भी पर्याप्त प्रासगिक है।

राज्य-प्रकृति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य प्रकृति की मार्क्सवादी व्याख्या न राज्य की उत्पत्ति विकास व गन्तव्य सम्बन्धी विशेषताएँ प्रकट की हैं जो इसकी पूर्ववर्ती व्याख्याओं से गुणात्मक आधार पर भिन्न हैं—

1 राज्य सदैव स्थापित रहा हो ऐसा नहीं है। वस्तुत अनेक राज्य विहीन समाज प्रारम्भिक अवस्था म विद्यमान रहे हैं। राज्य एक निश्चित सामाजिक आर्थिक विकास की अवस्था मे उस समय प्रकट हुआ जब समाज वर्गों में विभक्त हुआ और इन विभाजक वत्तियो के फलस्वरूप राज्य की विशिष्ट आवश्यकता प्रतीत हुई।[4]

2 विभाजक-वत्तियो को और पैना करने क कारण राज्य एक पक्ष-पाती सस्था के रूप मे प्रकट होती है—एक ऐसी सस्था जो पूजी पतियो क हाथो म केन्द्रित होकर सामाजिक-आर्थिक शोषण को आधार देती है। इस दृष्टि से राज्य की कोई नैसर्गिक अथवा स्थितिजन्य नैतिकता नही है। वह तो पूजीपतियो के हाथो मे शोषण का एक प्रवर्तनकारी माध्यम है और इस कारण एक अवाछनीय वास्तविकता, इस स्थिति की व्याख्या इस उद्धरण से की जा सकती है कि राज्य के जन्म न कानून के जन्म को चरि ताथ किया, न्यायिक मानको व नुस्खो की एक व्यवस्था सुलभ कराई जिसने केवल शासक वग की इच्छा की ही अभिव्यक्ति की और उसे राज्य की दमनकारी शक्ति से सरक्षित किया,

3 वग विभाजनो को मिटाने के लिए सवहारा वग का सगठन तथा उसके सगठन द्वारा वग सघष की चेतनशील अवस्था का निरूपण अपरिहाय है। वर्ग सघष की सफल परिणिति 'बुजुआ राज्य' की प्रवतनकारी शक्ति का दमन करगी और प्रबलतर शक्ति सयो जित करते हुए उसक वर्गीय स्वरूप को व्यापक सामाजिकता से परिशुद्ध करेगी, तथा

4 उत्पादन के सामाजिक साधनो व उनकी सामाजिक स्थिति के नए सन्दभ म उत्पादन सम्बन्ध अपना पूर्ववर्ती शोषण छोडेंग और उनमे क्रान्तिकारी अन्तर उपस्थित होगे। सर्वहारा वग का सक्रमणकालिक अधिनायकत्व अनत वर्गों को समाप्त करेगा और उनके साथ राज्य भी अदृश्य हो जाएगा। एन्जिल्स के शब्दो म उत्पादको की उन्मुक्त व समान भागीदारी के आधार पर समाज राज्य को उनके उपयुक्त ठिकाने पर लगा देगा और वह चर्खे

(सूत कातने वाले) और कांस्य कुल्हाड़ी के बराबर पुरावशेषों के संग्रहालय में अपना स्थान पा लेगा।[5]

मार्क्सवादी व्याख्या अपनी तर्क संगति, तथ्य संयोजन व सिद्धांत निर्माण की क्षमता के लिए सुविख्यात है। सम्पूर्ण समाज व राजनीति के व्यापक परिवेश में कार्य कारण सम्बन्धों के सिद्धांत बनाना, उनकी ऐतिहासिकता निर्धारित करना और इतिहास व्याख्या को भौतिकवादी आधार देना अपने-आप में अभूतपूर्व व प्रशंसा योग्य है अभिनव सामाजिक आधारों व उनके क्रम में राजनीतिक शक्ति की साधनपरकता की कल्पना मार्क्सवाद को एक विचारधारा के रूप में तार्किक व आनुभाविक दर्जा प्रदान करती है। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं का गैर-पश्चिमी सन्दर्भ में सटीक प्रस्तुतीकरण व उनका विकल्प निर्धारण विचारधारा का एक गौरवशाली तत्त्व है। इस सब के बावजूद बौद्धिक परेशानी उस स्थिति में प्रकट होती है जब ऐतिहासिक भाव-बोध तैयार करने के दौरान केवल पूर्व कल्पित धारणाओं के समर्थक तत्त्व ही संकलित किए जाते हैं, मानव प्रकृति की आंशिकता का ही निर्धारण होता है, वर्गहीनता का भाव भूमि पर 'मध्यम वर्ग' ऐसी कोई मध्यस्थताकारी सामाजिक शक्ति क्रांति लाभों को बिखेरने सी लगती है और यह स्थिति संक्रमणकालिक अवस्था को एक स्थायी व्यवस्था सी बना देती है। इनकी पर्याप्त उपचारात्मक व्यवस्थाएँ व निदान-उपकरण मार्क्सवादी व्यवस्थाओं के पास प्रकटतः नहीं दिखाई देते।

राज्य सम्बन्धी समकालीन वास्तविकताएँ

आज राज्य प्रकृति को अनेक प्रकार की सामाजिक राजनीतिक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है।

1. अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्निर्भरता व पारस्परिक सहयोग ने राज्य की पारस्परिक सम्प्रभुता को दबाया है। आज विश्व स्तर पर अनेक ऐसे गैर राज्य व गैर सरकारी संगठन स्थापित हैं जो राज्य को पूर्ण आत्मावलम्बी इकाई नहीं ठहराते। हर राज्य इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय नहीं तो राष्ट्रेतर अथवा राष्ट्र अतिरिक्त संस्थाओं से सम्बन्ध बनाए हुए हैं। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ का फलना फूलना स्वरूप राज्यों के इस पारस्परिक दृष्टिकोण पर विराम नहीं तो 'कॉमा' अवश्य लगाता है कि कोई भी व्यवस्था राज्य-परिवेश के भीतर ही सम्भव है उसके परे नहीं,
2. दुनिया की समस्याएँ मूलतः राष्ट्र अतिरिक्त अपना विस्तार कर रही हैं। उनकी हद राष्ट्रीय भूगोल नहीं है। ये समस्याएँ आज देश विदेश सर्वत्र अपना प्रभाव छोड़ रही हैं—इनमें सर्वाधिक

प्रमुख है सामाजिक विषमता के रूप में विकसित व विकासशील देशों की सम्पन्नता व दारिद्र्य की दो अलग अलग दुनियाएँ—जहाँ संकट के बादल उमड़ रहे हैं और अति वृष्टि व जल प्लावन की आशंका भी दोनों क्षेत्रों में उपयुक्त सुरक्षा भाव नहीं प्रकट करती दीख रही है। इनके अतिरिक्त, प्राकृतिक ससाधनों का विवेकी उपयोग व सरक्षण का प्रश्न भी दुनिया को परेशान किए हुए है। निःशस्त्रीकरण (हथियारों पर रोक) विश्व व्यापी शान्ति व व्यवस्था की पूर्व आवश्यकता है चाहे राज्य अपने आकार में बड़े हों अथवा छोटे या वे अपनी शक्ति की दृष्टि से प्रभुताशाली हों अथवा निर्बल। ये समस्त ऐसे प्रश्न हैं जो किसी एक राज्य से सम्बन्धित नहीं बल्कि सबसे सम्बन्धित हैं लेकिन कोई भी राज्य लम्बे समय तक इनसे आँखें नहीं चुरा सकता

3 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विस्तार देने वाली शक्ति के रूप में विचारधारा का तत्त्व आज राज्यों के सम्बन्धों से छूटता जा रहा है। एक ओर बड़ी शक्तियाँ अपने अन्तर्विरोधों के बावजूद एक दूसरे से जुड़ रही हैं और नए शक्ति समीकरण बना रही है तो दूसरी ओर विकासशील देश भी विचारधारा की अनुपस्थिति से उत्पन्न अन्धकार में एक दूसरे से जुड़ रहे हैं। इस स्थिति के परिणामस्वरूप एक नया शीतयुद्ध का वातावरण निर्मित हो रहा है जो वैचारिक दृष्टि से अस्पष्ट होते हुए भी पहले शीतयुद्ध की अपेक्षा अधिक व्यापक व संहारक सामर्थ्य छिपाए हुए है।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ की इन परस्पर-व्यापी प्रवृत्तियों की आग बुझाने के लिए राष्ट्रीय राज्य पहले की अपेक्षा और शिथिल हो गया है क्योंकि—

1 राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था राष्ट्र व्यापी स्वीकृति पर आधारित न होकर कुछ सीमित निहित स्वार्थों की इच्छा व संकल्पना शक्ति की परिचायक है। जनसंख्या का अधिकांश उससे सम्प्रेरित व सम्प्रेषित नहीं है

2 राष्ट्रीय सन्दर्भ में शक्ति का असैद्धान्तिक केन्द्रीयकरण होता जा रहा है। यह केन्द्रीयकरण एक ओर व्यक्तियों को अधिकाधिक हताश व निराश कर रहा है और दूसरी ओर सरकारों को अत्यधिक अनुत्तरदायित्वपूर्ण

3 अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जहां विश्व-सन्दर्भ में समस्याएँ दुनिया का एकीकरण सा कर रही हैं वहीं राष्ट्रीय स्तर पर राज्य विविध स्तरों पर विभाजक रेखाएँ खींच रहे हैं—साधन सम्पन्न—साधन

> विलग, शहरी ग्रामीण, केन्द्र राज्य, शिक्षित अशिक्षित, जाति व वर्ग व अन्तर्जातीय विद्वेष। ऐसी स्थिति में राज्य बाह्य चुनौतियों का सामना करने में पहले की अपेक्षा और अधिक निर्बल होता जा रहा है।

राज्यों के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय विरोधाभासों को कैसे दूर किया जाए? यह प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न है जिसका उत्तर तत्काल पाना आवश्यक है और जिसके उत्तर पाने की सम्भावनाएँ आज क्षीणतर हैं। इन विरोधाभासों ने राज्य-प्रकृति को वह अस्थिरता दी है जिसके कारण वे लगातार अपनी मूल प्रकृति खो रहे हैं और उनके व्यक्तित्व का नया पक्ष उन्हें उनके समकालीन वैशेषिक गुण नहीं प्रदान करा पा रहा है।

निष्कर्ष

राज्य प्रकृति सम्बन्धी हमारी यह चर्चा प्रमुख रूप से यह प्रकट करती है कि राज्य प्रकृति की विविधता किसी एक व्याख्या से नहीं ग्रहण की जा सकती है। सन्दर्भगत उपयोगिता के आधार पर अनेक व्याख्या सम्बन्धी विकल्पों में से किसी एक का चयन और उसके आधार पर अध्ययन विश्लेषण आवश्यक है।

समकालीन राज्य प्रकृति की चुनौतियाँ व जटिलताएँ राज्य के सम्बन्ध में हमारी मुँदी आँखों और पूर्वाग्रही दिमागों की उपज हैं। राज्य विसंगतियाँ, उनसे उत्पन्न चुनौतियाँ तथा उनके निराकरण सम्बन्धी हमारे प्रयास तब तक फलदायक नहीं हो सकते जब तक कि हम राज्य से बड़ी प्रवृत्तियों से परिचित नहीं होते, उनके सन्दर्भ में राज्य व्यवस्था का आकलन नहीं करते तथा उसी सन्दर्भ में व्यवहार के लिए उपयोगी विकल्प नहीं निर्धारित करते। इसके अभाव में हम राज्यों की विभाजक-रेखाओं में बँटे-कटे ही रह सकते हैं और आन्तरिक रूप से राज्य से तकलीफ पाते हुए बाह्य परिवेश में हम उसके अनुचर रूप में सिर्फ उसका स्तुति-गान ही कर सकते हैं। यह बड़ा भाव राज्य-व्यवस्था के वास्तविक प्रवर्तन के प्रति हमारी यथार्थपरक जिज्ञासा व अन्तर्दृष्टि में ही विकसित हो सकता है—एक ऐसा भाव जिसकी व्यापक अभिव्यक्ति आज से लगभग 30 वर्ष पूर्व डॉ॰ राधाकृष्णन ने की थी और जो अपनी वैचारिक उपयुक्तता व व्यापकता की दृष्टि से आज भी हमारे सहज आकर्षण भाव के योग्य है। हम आज यह महसूस करते हैं कि—

> "अपने वर्तमान रूप में व्यवहारशील दोनों व्यवस्थाएँ (लोकतन्त्र व समाजवाद) यान्त्रिकता व तकलीफ की सर्वशक्तिमत्ता तथा भौतिकतावादी युग चेतना में विश्वास के समान दोषों का शिकार हैं। ऐसा ही शक्ति के पथ का एक साध्य के रूप में

स्वीकार करती हैं, व्यक्ति को राज्य की मांग के अधं
और राष्ट्र राज्य की उपासना करती है। लोग (इन
म) राज्य की निरकुशता की यातनाएँ झेलते हैं, पि
यातना सनिक हिसा क रूप म प्रकट हो और
वाणिज्यिक लोभ का परिणाम हो। राज्य की मूर्तिपूज
से मिली एक ऐसी विरासत है जिसने यूनानी दुनिया का स
कर दिया और हम उसी रास्ते पर आज बढते दिखाई दे र
चारदीवारी से घिर जिन 'बाडो' म हम रहते है वे वस्तुत र
राज्य नही है बल्कि, एक ऐसी दुनिया म व्याप्त, पागलखाने है
आज एकीकरण की अत्यावश्यक मांग प्रस्तुत कर रही है।"[6]

उद्धरण व टिप्पणी

1 ब्लुशली का यह कथन गार्नर द्वारा उद्धत। देखें, पॅलि
साइस एण्ड गवनमेण्ट, पृ० 198
2 अर्नेस्ट बाकर, पॅलिटिकल थाट इन इगलण्ड, पृ० 79
3 वही, पृ० 91
4 फ्रेडरिख एंजिल्स दि ओरिजिन आव दि फेमिली, प्राईवेट प्रापर्
ऐण्ड दि स्टेट, पृ० 285
5 वही, पृ० 286
6 सर्वपल्ली राधाकृष्णन ईस्ट ऐण्ड वेस्ट—सम रिफ्लेक्शन्स,
पृ० 115

अध्याय 10

लोकतन्त्र की अवधारणा एक वैचारिक विश्लेषण

आज के युग मे जनाक्रोश की ऐसी आंधी चल रही है कि एक एक करके तानाशाहियां धराशायी होती जा रही है। द्वितीय और प्रथम महायुद्ध के पूर्व यूरोप मे जिस तरह की घिनौनी और बर्बर तानाशाहियां थी वे मिट गयी। इस सदी के उत्तरार्ध मे यूरोप की बची खुची तानाशाहियां भी (यथा स्पेनी और पुर्तगाली) नेस्तनाबूत हो चुकी है। अभी कुछ समय पूर्व यूनान के सैनिक तानाशाहो का तख्ता पलट दिया गया है। तुर्की मे अलबत्ता सैनिक गुट अभी भी हावी है कुल मिलाकर यह दिखायी देता है कि तानाशाही के दिन यूरोप मे लद गए हैं। यूरोपीय शासकों ने पिछली कुछ शताब्दियो मे एशिया अफ्रीका और लातिनी अमेरिका के लोगों को पदाक्रान्त किया और उन पर उपनिवेशवाद थोपा। जन संघर्षो तथा साम्राज्यवादियो के आपसी संघर्षों और युद्धो ने इन साम्राज्यो को नष्ट कर दिया और आज यूरोप का रूप बदला हुआ दिख रहा है। बर्लिन के उस पार समाजवादी लोकतन्त्रीय व्यवस्था स्थापित है और इस पार पश्चिमी यूरोप पूंजीवादी लोकतन्त्र मे जी रहा है पर जब हम तीसरी दुनिया के देशो की ओर नजर डालते हैं तो हमें जगह जगह सैनिक और कहीं-कहीं असैनिक (यथा फिलीपाइन्स मे) तानाशाहियाँ ही दिखाई देती हैं जो पश्चिम और पूरब की राज्य सत्ता के सहारे टिकी हुई है और जहाँ लोकतन्त्र का वह रूप नहीं मिलता जो पश्चिमी यूरोप मे है। भारत इसका एक अपवाद है जहाँ पिछली 30-35 वर्षों से लोकतन्त्रीय व्यवस्था जड जमाये हुए हैं।

इस उपर्युक्त तथ्य को लेकर अब जगह कहा जाने लगा है कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था यूरोपीय सभ्यता की देन है और यह राजनीतिक व्यवस्था यूरोप मे ही चल सकती है। इस अवधारणा को इससे भी बल मिलता है कि राजनीतिक चिन्तन का

श्रीगणेश यूनान म हुआ था और यूनानी विचारकों न ही राजन
के विचारों की आधारशिला रखी थी और यूरोपीय जातियाँ
वंशधर है जो यूनानी राजनीतिक चिन्तन की धारा का भागीरथ
बटा रही हैं।

ऐसा विचार इस प्रकार की अवधारणा सही नहीं है। जिन
मानव समुदायों न राज्य का निर्माण किया उन्होंने 'राज्य' सम्ब
किया हो, यह कैसे हो सकता है? भारत म राज्य सत्ता के निर्माण
यूनान की परवर्ती न होकर पूर्ववर्ती ही ठहरेगी। परम्परा लुप्त होन
नहीं कि परम्परा थी नहीं। आज का यूनान बनते बनते क्या बन गया है
कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत के 'शान्तिपर्व' पर दृष्टि डाल त
जाता है कि राजनीतिक चिन्तन की प्राचीन भारत म कमी नहीं थी।
का रूप राज्यों का रूप राज्य ग्रन्थ राज्यों का परस्पर सम्बन्ध रा
अन्य समुदायों का सम्बन्ध इस पर खूब विचार हुआ है। कौटिल्य स्व
पूर्ववर्ती सम्प्रदायों के आचार्यों का उल्लेख करते हैं— बौद्ध और जैन ग्रन्थों म
पूर्व की स्थिति का वर्णन वैसा ही मिलता है जैसा हाब्स या रूसो म वर्णि
इसी प्रकार यह सुनिश्चित तथ्य है कि प्राचीन भारत म दीर्घकाल तक गणत
न्त्रमय शासन की परम्परा जीवित रही। बुद्ध गणतन्त्र म जन्मे थे और उस तरह
व्यवस्था के प्रशंसक ही नहीं थे बल्कि उन्होंने अपने संघ की अर्थ प्रणाली ला
तन्त्रीय ढंग की ही बनायी। वस्तुतः कालान्तर म इस गणतन्त्रीय परम्परा औ
इनके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों को राजतन्त्र और साम्राज्यों ने आत्मसात क
लिया है और 'गणों' की यह व्यवस्था ब्राह्मणों से अनुशासित वर्ण-व्यवस्था स कट-
कर द्विजों के अलावा दूसरे लोगों के जन जीवन म ही रह गई। द्विज लोग लोक
तन्त्र के हामी नहीं रहे और द्विजों के वर्चस्व स समाज अभिशप्त रहा।

यह यूरोप म भी हुआ पर वहाँ वर्गों के उदय न सामन्तीय व्यवस्था का ध्वस्त
किया और पूँजीवाद के विकास के साथ साथ सामन्ती मूल्यों का ह्रास हुआ और
'लोकतन्त्र' के मन्त्र—स्वतन्त्रता समानता बन्धुत्व जो फ्रांसीसी क्रान्ति के उद्घोष
थे—जनसाधारण के मन पर छाते गए और उसके साथ साथ यूनान की देन के
रूप म अरस्तू के राजनीतिक चिन्तन का जीर्णोद्धार होने लगा और यूरोप यूनानी
सभ्यता का वंशधर, बल्कि यह कहना चाहिए अरस्तू का वंशधर बनता गया। पर
तथ्य यह है कि अरस्तू या यूनान के तात्त्विक विचारों का पुनर्जन्म नए यूरोप म नहीं
ही हुआ। जो हुआ वह उसकी छाया मात्र है क्योंकि अरस्तू और यूनान के स्मी
प्रभावशाली विचारक व्यक्ति की सामाजिकता पर जिस प्रकार का जोर देते हैं उस
तरह का जोर केवल समाजवादी राज्यों म ही दिया जाता है और पूँजीवादी
पश्चिम के राज्यों में जो अधिकार सम्पन्न 'व्यक्ति' लोकतन्त्र

हुआ है, उसके पुरान यूनान मे दर्शन ही नही होते। जिस प्रकार तत्कालीन लोकतन्त्र के आलोचक और निंदक सुकरात ने अपने दण्ड दाताओं की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने अनुयायियों के अनुरोध को अमान्य कर दिया कि वह चुपचाप एथेन्स से भाग निकलें, वह विचार दूसरे ही ढग के 'लोकतन्त्र' रचयिता है वहा व्यक्ति समाज का आलोचक है, उसके विरुद्ध विद्रोही नही।

इस प्रकार यूरोप मे जो लोकतन्त्र की धारा बही, वह प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त के आधार पर बही, जिसके दर्शन हम जॉन लॉक के विचारो मे होते हैं।

18वीं एव 19वीं शताब्दी मे बेंथम तथा मिल ने उपयोगिता—अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के आधार पर लोकतन्त्र का समर्थन किया। अठारहवीं शताब्दी म अमेरिकी (1776) तथा फ्रांसीसी (1789) क्रान्तियां आधुनिक लोकतन्त्र के विकास का पहला महत्वपूर्ण चरण थी। स्वतन्त्रता, समानता एव भ्रातत्व के नारो द्वारा लोकतन्त्र का आदर्श तथा औचित्य लोकतन्त्रीय सिद्धान्तो का केन्द्र-बिन्दु बन गया। उन्नीसवी शताब्दी मे कार्ल मार्क्स ने समाजवादी लोकतन्त्र का विचार दर्शन प्रस्तुत किया जिसम मानव द्वारा मानव के शोषण का विरोध किया गया। पूंजीवादी व्यवस्था को क्रान्ति द्वारा समूल नष्ट कर, मजदूर-वर्ग के नेतृत्व म स्थापित इन समाजवादी लोकतन्त्रो का प्रारम्भ रूस की क्रान्ति द्वारा 1917 म हुआ। समाजवादी लोकतन्त्रो का आधार, दर्शन तथा सस्थात्मक ढाचा उदार एवं पूंजीवादी लोकतन्त्रो से बिल्कुल भिन्न है।

लोकतन्त्र का आज क्या अर्थ है ?

लोकतन्त्र को व्यापक एव सकुचित दोनो अर्थों मे समझा जाता है। व्यापक अर्थों म लोकतन्त्र को मात्र एक राजनीतिक व्यवस्था न मानकर एक आदर्श माना जाता है जिसम लोकतन्त्रीय मानव, चिन्तन, व्यवहार जीवन पद्धति अर्थ-व्यवस्था आदि शामिल है। अपने सकुचित अर्थ मे लोकतन्त्र एक प्रकार की शासन व्यवस्था है। यह एक इस प्रकार की शासन व्यवस्था है जिसमे जनता शासन सम्बन्धी मामलो पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य म किस प्रकार का शासन सूत्र स्थापित किया जाए। राज्य के रूप म लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नहीं है अपितु वह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण रखने तथा इसे अपदस्थ करने की विधि भी है। लेकिन हनशॉ ने अपनी इस परिभाषा म प्रजातन्त्र को एक शासन व्यवस्था तक ही सीमित रखा है।[1] राजनीति विज्ञान की दुनिया म कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो यह मानते हैं कि लोकतन्त्र को केवल राजनीतिक, शासनिक एव प्रशासनिक पहलू ही नहीं है। कुछ विचारको ने इसे व्यापक रूप म देखा है जैसे गिडिंग्स इसे राज्य सरकार तथा समाज तीनो का मिश्रण मानते हैं। मैक्सी का कहना है कि बीसवीं शताब्दी म लोकतन्त्र से

तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढांचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके। इसी प्रकार बेनी प्रसाद इन सबसे ही आगे बढ़ जाते हैं और वे कहते हैं कि लोकतन्त्र जीवन की एक पद्धति है। इस प्रकार अलग अलग विचारकों ने अपने अध्ययनों विचारों एवं दृष्टिकोणों के अनुसार लोकतन्त्र के सम्बन्ध में अपने अपने विचार प्रस्तुत कर इसको एक राजनीतिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था एवं जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार किया है। एक शासन-व्यवस्था के रूप में लोकतन्त्र की कुछ विशेषताएँ अथवा तथ्य निम्न प्रकार से बताये जा सकते हैं।

प्रतिनिधि शासन

लोकतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण है प्रतिनिधियात्मकता। प्राचीन यूनानी नगर राज्यों की भाँति आज के युग में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था सम्भव नहीं है। आज के राष्ट्रीय राज्यों की दुनिया में सम्पूर्ण राज्य की जनता एक स्थान पर बैठकर प्रत्यक्ष शासन का संचालन नहीं कर सकती है। अतः आज के लोकतन्त्र के संचालन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन प्रतिनिधि शासन है। जनता एक निश्चित निर्वाचन प्रणाली (जो देश के विधान द्वारा अपनायी गयी है) द्वारा अपने प्रतिनिधियों द्वारा संचालित शासन अप्रत्यक्षतः जनता द्वारा ही संचालित माना जाता है।[2]

नियमित/नियतकालिक चुनाव

यह लोकतन्त्र का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। जनता द्वारा शासन संचालनार्थ जो भी प्रतिनिधि चुने जाते हैं वे एक निश्चित समय के लिए चुने जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए कि जनता द्वारा एक प्रतिनिधि एक बार चुन लिया गया और वह उम्र भर एक ही बार के निर्वाचन के आधार पर अपने पद पर बना रहे। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जन प्रतिनिधियों का एक निश्चित समय के बाद निर्वाचन होते रहना चाहिए। जन प्रतिनिधियों को एक निश्चित समय के बाद निश्चित समय के बाद जनता के समक्ष जाना चाहिए और जनता की सहमति लेनी चाहिए। जन सहमति लोकतन्त्र का सार है। इसी प्रकार यह जन प्रतिनिधियों के समक्ष कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण मुद्दा आ गया हो, जिस पर जन प्रतिनिधि अपने राजनीतिक सम्प्रभु (जनता) की स्वीकृति अथवा राय जानना चाहते हों तो इसके लिए भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जनमत को जानने की व्यवस्था है। इसका माध्यम भी निर्वाचन ही होता है। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या सम्पूर्ण जनता को अपने प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार हो? इसके लिए सामान्यतः सभी लोकतान्त्रिक देशों में यह व्यवस्था की गयी है कि जनता का

लोकतन्त्र की विभिन्न अवधारणाएँ

आज लोकतन्त्र की मुख्यतः दो अवधारणाएँ अथवा दृष्टिकोण प्रचलित हैं—

1 लोकतन्त्र की पश्चिमी अवधारणा
अथवा
लोकतन्त्र की उदारवादी अवधारणा
अथवा
लोकतन्त्र की आंग्ल अमरिकी अवधारणा

2 लोकतन्त्र की साम्यवादी अवधारणा

लोकतन्त्र की उदारवादी अथवा पाश्चात्य दृष्टिकोण परक अवधारणा

लोकतन्त्र में उदारवादी अथवा पश्चिमी अथवा आंग्ल अमरिकी दृष्टिकोण की मुख्य आधारशिला व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्ति की गरिमा है। राजनीतिक समानता, राजनीतिक स्वतन्त्रता, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय तथा लोक-कल्याण की भावनाएं एवं पाश्चात्य लोकतन्त्र की मूलभूत आधारशिलाएँ हैं। "व्यक्ति की स्वतन्त्रता" उदारवादी लोकतन्त्र का मुख्य उद्देश्य तथा "सीमित सरकार" उसका प्रमुख साधन हैं।

पाश्चात्य लोकतन्त्र के प्रमुख आधार

इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष दो आधार स्तम्भ प्रकट होते हैं जो कि निम्नांकित हैं—

1 लोकतन्त्र का दार्शनिक आधार
2 लोकतन्त्र का संस्थागत आधार

लोकतन्त्र के दार्शनिक आधार पश्चिमी लोकतन्त्र के साध्य अथवा उद्देश्य हैं तथा लोकतन्त्र के संस्थागत आधार वे साधन हैं जिनके माध्यम से पश्चिमी लोकतन्त्र के उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पश्चिमी लोकतन्त्र के कुछ निश्चित उद्देश्य हैं तथा कुछ निश्चित साधन जिनके माध्यम से पश्चिमी लोकतन्त्र का संचालन होता है।

पश्चिमी लोकतन्त्र के साध्य अथवा उद्देश्य

पश्चिमी लोकतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता प्रदान करना। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे जिससे कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। लेकिन यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य उच्छृंखलता से नहीं है। व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए, लेकिन उसकी कुछ

वह भाग जो व्यस्कता तक की अवस्था तक पहुँच गया है, उसे निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार है।[4]

उत्तरदायी शासन

लोकतन्त्र का यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। चूंकि, आज का लोकतन्त्र प्रतिनिध्यात्मकता के सिद्धान्त पर आधारित है अतः जन प्रतिनिधियों को शासन संचालन के लिए जनता के प्रति (राजनीतिक समूह के प्रति) उत्तरदायी रहना चाहिए। चूंकि, लोकतन्त्र जनता का शासन है अतः इसमें सरकार जो भी कार्य करे उसके पीछे जनता की स्वीकृति होना आवश्यक माना है।[5]

विधि का शासन

लोकतन्त्र की यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है। लोकतन्त्र की मान्यता है कि शासन किसी एक व्यक्ति का अथवा कुछ व्यक्तियों का शासन नहीं है। यह एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें शासन व्यक्ति का नहीं अपितु, विधि का होता है। विधि के शासन की मान्यता है कि चूंकि कानून अन्धा होता है अतः वह सबके लिए समान होता है। कानून किसी का पक्ष अथवा विपक्ष नहीं करता। विधि की नजरों में सभी समान होते हैं चाहे वह कितना ही बड़ा अथवा छोटा व्यक्ति क्यों नहीं हो।[6]

विचारविमर्श द्वारा शासन

लोकतान्त्रिक समाज में निर्णय खुले विचार विनिमय के आधार पर होते हैं। सम्पूर्ण राजनीतिक समाज के लिए लिये जाने वाले निर्णयों में अनुनयन की बहुत बड़ी भूमिका होती है। लोकतन्त्र में निर्णय चाहे किसी भी स्तर पर लिए जायें उनमें जोर जबरदस्ती के तत्त्व के बजाय विचार विमर्श, वाद विवाद और समझाने-बुझाने का अंश प्रधान रहता है। चुनाव भी एक तरह से विचार विनिमय द्वारा निर्णय लेना ही है।[7]

बहुमत पर आधारित शासन

लोकतान्त्रिक व्यवस्था का एक अन्य पहलू यह भी है कि इसमें निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाते हैं लेकिन बहुमत के आधार पर लिए गये निर्णयों से तात्पर्य यह नहीं है कि अल्पसंख्यकों के हितों का कोई ध्यान नहीं रखा जाए। वास्तविकता यह है कि प्रजातन्त्र में बहुमत के आधार पर निर्णय लिए अवश्य जाते हैं परन्तु उनमें अल्पसंख्यकों के हितों का भी पूरी तरह से ध्यान रखा जाना है।[8]

लोकतन्त्र की विभिन्न अवधारणाएँ

आज लोकतन्त्र की मुख्यतः दो अवधारणाएँ अथवा दृष्टिकोण प्रचलित है—

1 लोकतन्त्र की पश्चिमी अवधारणा
अथवा
लोकतन्त्र की उदारवादी अवधारणा
अथवा
लोकतन्त्र की आंग्ल अमरिकी अवधारणा

2 लोकतन्त्र की साम्यवादी अवधारणा

लोकतन्त्र की उदारवादी अथवा पाश्चात्य दृष्टिकोण परक अवधारणा

लोकतन्त्र के उदारवादी अथवा पश्चिमी अथवा आंग्ल अमरिकी दृष्टिकोण की मुख्य आधारशिला व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्ति की गरिमा है। राजनीतिक समानता राजनीतिक स्वतन्त्रता, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय तथा लोक-कल्याण की भावनाएँ एवं पाश्चात्य लोकतन्त्र की मूलभूत आधारशिलाएँ हैं। "व्यक्ति की स्वतन्त्रता" उदारवादी लोकतन्त्र का मुख्य उद्देश्य तथा "सीमित सरकार" उसका प्रमुख साधन है।

पाश्चात्य लोकतन्त्र के प्रमुख आधार

इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष दो आधार स्तम्भ प्रकट होते हैं जो कि निम्नांकित हैं—

1 लोकतन्त्र का दार्शनिक आधार
2 लोकतन्त्र का संस्थागत आधार

लोकतन्त्र के दार्शनिक आधार पश्चिमी लोकतन्त्र के साध्य अथवा उद्देश्य हैं तथा लोकतन्त्र के संस्थागत आधार वे साधन हैं जिनके माध्यम से पश्चिमी लोकतन्त्र के उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पश्चिमी लोकतन्त्र के कुछ निश्चित उद्देश्य हैं तथा कुछ निश्चित साधन जिनके माध्यम से पश्चिमी लोकतन्त्र का संचालन होता है।

पश्चिमी लोकतन्त्र के साध्य अथवा उद्देश्य

पश्चिमी लोकतन्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता प्रदान करना। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे जिससे कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। लेकिन यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य उच्छृंखलता से नहीं है। व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाए, लेकिन उसकी कुछ

सीमाएँ आवश्यक हैं अन्यथा यदि नियन्त्रण विहीन स्वतन्त्रता होगी तो समाज मे अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त पश्चिमी लोकतन्त्र का एक अन्य उद्देश्य है समाज मे राजनीतिक समानता की प्रस्थापना करना। लोकतन्त्र तभी जीवित रह सकता है जब राजनीतिक दृष्टि से सभी समान समझे जाएँ। शासन के सम्मुख सभी नागरिक समान हो। समाज मे राजनीतिक आधार पर छोटे बडे का कोई अन्तर नही किया जाए। धर्म, जाति, रग, नस्ल आदि के आधार पर समाज मे किसी भी प्रकार का कोई अन्तर नही किया जाए। ऐसी स्थिति मे ही समाज मे राजनीतिक समानता की स्थापना सम्भव है।

सामाजिक एव आर्थिक न्याय लोकतन्त्र का एक अन्य आधार अथवा उद्देश्य होता है। यदि समाज मे सामाजिक एव आर्थिक न्याय नही होगा तो समाज मे विद्रोह की स्थिति पैदा हो सकती है। इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कभी भी अन्त हो सकता है। इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता आदि के साथ समाज मे सामाजिक एव आर्थिक न्याय का भी होना आवश्यक होता है। प्रत्येक उस राष्ट्र का जो पश्चिमी अथवा उदारवादी लोकतन्त्र मे विश्वास करता है उसे चाहिए कि वह इस उद्देश्य की प्राप्ति की दिशा मे सार्थक प्रयास करे।

उदारवादी लोकतन्त्र का एक अन्य उद्देश्य है जन कल्याण की साधना। प्रत्येक उदार लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे सरकार जन कल्याण की साधना का प्रयत्न करती है। अधिकतम व्यक्तियो के लिए अधिकतम सुख-सुविधा ही लोक कल्याण है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक एव आर्थिक न्याय की प्रस्थापना एव जन कल्याण की साधना पश्चिमी लोकतन्त्र के उद्देश्यगत आधार हैं।

पश्चिमी लोकतन्त्र के साधन

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—पश्चिमी लोकतान्त्रिक सरकारो के कुछ निश्चित उद्देश्य होते है। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए कुछ सस्थागत प्रयास स्वरूप कुछ निश्चित साधन बताये गए हैं। पश्चिमी लोकतन्त्र मे सरकार को सीमित रखा जाता है तथा सरकार को उत्तरदायी बनाया जाता है। इन दोनो व्यवस्थाओ से सरकार को निरकुश होने से रोका जा सकता है तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव गरिमा को कायम रखा जा सकता है। किसी भी प्रकार की सस्थात्मक व्यवस्था सरकार को तभी सीमित तथा उत्तरदायी रख सकती है जब राजनीतिक व्यवस्था लोकतान्त्रिक व प्रतिनिध्यात्मक हो। किसी भी सरकार को सीमित करने तथा उसे उत्तरदायी रखने की पूर्व शर्तें निम्न हैं—

1 सरकार लोकतान्त्रिक ढग से सगठित हो,

2 सरकार प्रतिनि यात्मक हो
3 सामाजिक बहुलवाद की स्थिति हो, तथा
4 समाज खुला हो।

प्राय सभी पाश्चात्य राज्यो म सरकार को सीमित व उत्तरदायी रखने की पूर्ण शर्तें विद्यमान हैं। इन राजनीतिक समाजो म सीमित सरकार की परम्परा का विकास के साथ हुआ है। राजनीतिक शक्ति को नियन्त्रित और उत्तरदायी रखने के लिए पाश्चात्य समाजो म अनेक सस्थागत प्रयास किए गए हैं। सरकार को सीमित रखने तथा उत्तरदायी बनाये रखने की अलग अलग व्यवस्थाएँ की गई हैं। इनका क्रमश निम्नलिखित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सरकार को सीमित बनाने एव उत्तरदायी रखने के लिए क्रमश निम्नलिखित सस्थागत व्यवस्थाएँ की गई हैं—

1 विधि का शासन
2 मौलिक अधिकारो एव स्वतन्त्रताओ का प्रावधान,
3 राजनीतिक शक्तियो का विभाजन शक्तिया का पृथक्करण,
4 स्वतन्त्र एव निष्पक्ष न्यायपालिका,
5 नियतकालिक चुनाव
6 राजनीतिक दलो एव समूहो की स्थापना
7 समाचारपत्रो की स्वतन्त्रता,
8 लोकमत की प्रभावशालिता,
9 परम्पराओ एव सामाजिक बहुलवाद की विद्यमानता।

विधि का शासन

सरकार की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। इसम शासन की शक्तियाँ मनमाने ढग से नही बल्कि कुछ सुनिश्चित और बन्धनकारी नियमों के अनुसार होती है। जिस राजनीतिक व्यवस्था म विधि के शासन की व्यवस्था होती है उसम विधि को सर्वोच्च तथा सार्वभौम माना जाता है तथा कानून के समक्ष सभी नागरिक एव प्रशासनीय अधिकारी समान होते हैं। कानून सर्वोपरि होता है कानून से ऊपर कोई नही होता है। समान अपराध के लिए सभी व्यक्तियो को समान दण्ड दिया जाता है। फिनाक एव स्मिथ का कहना है कि विधि के शासन की व्यवस्था पश्चिमी प्रजातन्त्र की सम्भवत सबसे शक्तिशाली एव सबसे गहरी व्यवस्था है।'

नागरिको को मौलिक अधिकार एव स्वतन्त्रताएँ देकर सरकार के कार्यों को मर्यादित करने की परम्परा आधुनिक पश्चिमी लोकतन्त्र की मुख्य व्यवस्था है। जो मौलिक अधिकार एव स्वतन्त्रताएँ नागरिको को दी जाती हैं इनस सरकार

की शक्तिया सीमित हो जाती है। कोई भी सरकार इनके उल्लघन की दष्टता नही कर सकती और यदि कोई सरकार मता वना म ऐसा करती है ता दश की यायपालिका उसे ऐसा करने से रोकती है।

जैसा कि सामा यत सभी पश्चिम विचारको का मानना है कि शक्तिया का विभाजन एव शक्तियो का पृथक्करण पश्चिमी लोकत त्र का सार है। इन विचारको की मा यता है कि राजनीतिक शक्ति अर्थात् सरकार के कार्यो का बँटवारा होना चाहिये सरकार के अगा म कार्यों का पृथक्करण होना चाहिय जिससे एक अग दूसरे अग पर निय त्रण रख सके और राजनीतिक व्यवस्था मे शक्ति स तुलन की स्थिति उत्प न हो सके।

पाश्चात्य लोकत त्र म शक्तियो को सीमित रखने के लिए और सावैधानिक प्रतिब धो को व्यावहारिक करने के लिए स्वत त्र एव निष्पक्ष यायपालिका की व्यवस्था होना भी अनिवाय है। स्वत त्र यायपालिका द्वारा ही सावैधानिक सरकार सम्भव है। सरकार को, स्वत त्र एव निष्पक्ष यायपालिका द्वारा ही सीमाओ के रखा जा सकता है। इस प्रकार इन साधना के माध्यम से सरकार को सीमित रखा जा सकता है।

सरकार को सीमित रखने के साथ साथ सरकार को उत्तरदायी रखना भी उतना ही महत्त्वपूण है। चुनाव व्यवस्था के माध्यम से नागरिक शासको को हटाने एव सत्ता मे बनाये रखने का अवसर पाते है। चुनावा के द्वारा ही नागरिक व्यवस्थित ढग से सरकार का समथन या विरोध कर सकते है। इससे सरकार न केवल उत्तरदायी ही रहती है अपितु, सब नागरिको की आवश्यकताओ एव समस्याओ के प्रति सजग एव सचेत भी रहती है।

सरकार को राजनीतिक दलो एव विभि न हित समूहो दबाव समूहा के माध्यम से भी उत्तरदायी रखा जा सकता है अकेला नागरिक सरकार की नीति का निर्धारण कर सकता है, जिसका सरकार अनुसरण कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि सवप्रथम नागरिक अपने विभि न हित समूह बनाकर सरकार पर अपनी बात मनमाने के लिए दबाव डाले। इसी प्रकार न केवल हित समूहा के माध्यम स अपितु विभि न राजनीतिक दलो तक अपनी बात पहुँचाएँ तथा दलो पर इस बात का दबाव डालें कि राजनीतिक व्यवस्था को उत्तरदायी बनाएँ। जो राजनीतिक दल ऐसा करते हैं उ हे चुनाव जिताएँ और जो ऐसा न करें उ हे चुनाव म हराएँ। अगर इन विभि न समूहो एव राजनीतिक दलों के माध्यम स भी सरकार को उत्तरदायी रखा जा सकता है।

लोकत त्र म समाचार पत्रो को जो-कुछ दिखाई दे रहा है अथवा जो कुछ घटित हो रहा है, उसके प्रकाशन की पूण स्वत त्रता होनी चाहिए। समाचार-पत्र प्रजात त्र म सत्तारूढ दल के लिए सबसे प्रिय मित्र होते हैं। समाचार-पत्र

सरकार एव जनता के बीच एक वह महत्त्वपूर्ण कडी होत है जिसस एक दूसरा एक दूसरे के बारे म पूर्ण ज्ञान रखन की स्थिति म होता है और सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने म सक्षम भूमिका अदा करते हैं। लोकमत लोकतन्त्र का प्राण होता है। यह स्वतन्त्रता का सतर्क प्रहरी और सहायक होता है। किसी भी सरकारी नीति एव विषय के बार म जनता की क्या राय अथवा मत है यही लोकमत कहलाता है। आज लोकतान्त्रिक युग म यदि सर्वाधिक शक्तिशाली कोई अस्त्र है तो वह है लोकमत। सरकार चाहे लोकतान्त्रिक हो अथवा निरकुश कभी सरकारो का अन्तत लोकमत के सामने घुटन टेकने पडते है।

प्रत्यक समाज म नागरिक अपन हितो की पूर्ति के लिए अलग अलग सघ बनात है। ये सघ अपनी अपनी बातो एव मांगो को मनवाने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं। इससे सरकार की शक्तियाँ मर्यादित होती है तथा सरकार को उत्तरदायी रहना पडता है।

इस प्रकार पश्चिमी लोकतन्त्र सरकार को सीमित रख उसे जनता के प्रति उत्तरदायी रखना चाहता है और अपने प्रमुख उद्देश्यो की प्राप्ति क प्रयास करता है।[8]

लोकतन्त्र की साम्यवादी अवधारणा

पश्चिमी लोकतन्त्र मे सरकार अपनी राजनीतिक शक्तियो का दुरुपयोग न कर इसके लिए अनेक सस्थागत प्रयासो के माध्यम स सरकार को सीमित एव उसे उत्तरदायी बनाए रखने की व्यवस्थाएँ की गई हैं लेकिन साम्यवादी व्यवस्था म सरकार एव शक्ति दोनो को ही पृथक्-पृथक दृष्टिकोणो से देखा गया है। साम्यवादी विचारक राज्य एव सरकार को बुर्जुआ वग के हाथो की कठपुतली मानते हैं। उनकी मान्यता है कि सरकार पूँजीपतियो के हितो की रक्षा का काय करती है उनका मानना है कि राजनीतिक शक्ति सदैव आर्थिक शक्ति की चेरी होती है। जिनके हाथो म आर्थिक शक्ति होती है राजनीतिक शक्ति भी उसी के हाथो मे केन्द्रित हो जाती है। अत इनकी मान्यता है कि पश्चिमी लोकतन्त्र म राजनीतिक शक्ति कुछ ही हाथो म (पूजीपतियो के हाथो) केन्द्रित हो जाती है तथा शेष बचे हुए लोगो के (गरीबो के) हाथो म कोई शक्ति नही रह जाती है। जो राजनीतिक अधिकार स्वतन्त्रताएँ आदि सविधान द्वारा सभी नागरिको को दी जाती है वे सब केवल मात्र औपचारिकताएँ है व्यवहार मे कुछ ही व्यक्ति (पूजीपति ही) राजनीतिक अधिकारो एव स्वतन्त्रताओ का उपयोग कर पाते हैं। गरीबो के लिए ये अधिकार मात्र दिखावा होते हैं। अत सक्षेप म कहा जा सकता है कि साम्यवादियो की मूलभूत मान्यता है कि समाज म राजनीतिक शक्ति व्यवहार मे उसी के पास होती है, जिसके पास आर्थिक शक्ति

होती है। सिद्धात मे राजनीतिक शक्ति के धारक कोई भी हो सकते हैं लेकिन व्यवहार मे राजनीतिक शक्ति का प्रयोग उन्ही लोगो द्वारा किया जाता है जिनके पास आर्थिक शक्ति होती है। इतना ही नही इनका कहना है कि राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति के अधीन होती है। समाज म आर्थिक शक्ति ही निर्णायक होती है।

साम्यवादी लोकतन्त्र मे विश्वास रखने वाले विचारको की मान्यता है कि आर्थिक शक्ति एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियो के एक समूह के हाथो म नही होनी चाहिए। आर्थिक शक्ति पर सम्पूण समाज का आधिपत्य होना चाहिए। आर्थिक शक्ति का सम्पूण समाज के अधिपत्य रखने के लिए साम्यवादी देशो म निम्नलिखित सस्थागत प्रयास किए गए हैं—

1 उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर सम्पूण समाज का स्वामित्व
2 सम्पत्ति के समान वितरण की ओर कदम उठाना,
3 उत्पादन के क्षेत्र मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त और उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के लिए न होकर सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप किया जाना,
4 सभी के व्यक्तित्व को समान मूल्य देना,
6 बहुजन के हित, बहुसख्यक मजदूर वग उनके दल के वचस्व की स्वीकृति,
6 वगविहीन एव राज्यविहीन समाज की स्थापना का सकल्प,

साम्यवादियो की मान्यता है कि उत्पादन एव वितरण के साधनो पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व नही अपितु, सम्पूण समाज का स्वामित्व होना चाहिए। यदि किसी एक व्यक्ति के हाथो में स्वामित्व होगा तो वह अन्य लोगो के श्रम का शोषण करेगा और समाज दो वर्गों मे विभक्त हो जाएगा। अत उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियो का स्वामित्व न होकर सम्पूण समाज का स्वामित्व होना चाहिए। साम्यवादियो की मान्यता है कि उत्पादन तथा वितरण के साधनो पर न केवल सम्पूण समाज का स्वामित्व ही पर्याप्त है अपितु, समाज मे सम्पत्ति का इस प्रकार से वितरण किया जाये जिससे समाज मे समानता बनी रह सके। सम्पत्ति का समान वितरण होन से सम्पत्ति सघष का कारण नही बनती और समाज मे असमानता को जन्म नही दे पाती।

इस प्रकार साम्यवादी उत्पादन के क्षेत्र मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धात म विश्वास नही करते। उनका मानना है कि उत्पादन के क्षेत्र मे व्यक्तिगत स्वामित्व जनसाधारण के हितो की कीमत पर सम्पत्ति अजन की भावना बढाती है और सम्पत्तिअजन एक प्रतिस्पर्धा की भावना को बढाती है इससे सघष पैदा होता है। अत इस प्रकार की व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए साम्यवादी व्यवस्था म कोई स्थान नहीं है।

जिस प्रकार पश्चिमी लोकतन्त्र में व्यक्ति की निरंकुश स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया जाता है उसी प्रकार साम्यवादी लोकतन्त्र में सभी व्यक्तियों के हितों की समानता पर अधिक जोर दिया जाता है। इनका मानना है कि पहले समाज में आर्थिक समानता स्थापित की जाये, आर्थिक समानता स्थापित होते ही सामाजिक एवं राजनीतिक समानता स्थापित हो जाती है। बिना आर्थिक एवं राजनीतिक समानता के स्वतन्त्रता की दिशा में प्रयास निरर्थक सिद्ध होगा।

साम्यवादियों की मान्यता है कि हमारे सम्पूर्ण समाज का एक हित है क्योंकि हम सब श्रमिक अथवा कृषक हैं। हम सबके एक हित का एक वर्ग द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है और एक वर्ग का एक दल द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है। अतः इन्होंने संविधान में इस बात का उल्लेख किया है कि हमारे यहाँ चूँकि एक ही वर्ग स्थित है इसलिए उसके हितों की पूर्ति के लिए केवल एक दल ही सत्ता पर आसीन है वह दल है साम्यवादी दल। इनकी मान्यता है कि द्विदलीय व्यवस्था उन समाजों में होती है जहाँ समाज में दो विरोधी हित और इसलिए दो विरोधी वर्ग हों लेकिन चूँकि हमारे यहाँ सबका एक हित है अतः सबका एक वर्ग है और इसलिए एक राजनीतिक दल है।

इस प्रकार साम्यवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्था शक्ति एवं सरकार से सम्बन्धित मान्यताओं के सन्दर्भ में पश्चिमी लोकतन्त्र की अवधारणा से तात्त्विक रूप में भिन्न हैं।[10]

अधिनायक तन्त्र

यूरोप में विकसित पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जहाँ एक ओर जन क्रान्तियों के द्वारा लोकतन्त्री विधान का कार्य प्रशस्त होता रहा वहाँ यूरोप के पतनोन्मुख शासक वर्ग जन उभार को दबाने के लिए और अपने पोषण को निर्बाध बनाने के लिए लोक दमन का रास्ता अपनाते रहे। फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व फ्रांस में उसके बाद भी फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल, स्पेन और पूर्वी यूरोप के देशों में तथा जारशाही रूस में लोकतन्त्रीय व्यवस्था जीवन पद्धति का विकास दीर्घकाल तक अवरुद्ध रहा। प्रथम महायुद्ध के बाद जब क्रान्तियों का दौर बढ़ने लगा, तब इटली, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल और पूर्व में जापान में घिनौने अधिनायक तन्त्र की जड़ें जमने लगीं।

अधिनायक तन्त्र का अर्थ

इन अधिनायक तन्त्रों ने बाकायदा अपना दर्शन और शासन पद्धति विकसित की जो भयावनी थी। अधिनायक तन्त्र से स्वेच्छाचारी व अत्याचारी शासन का बोध होता है। इसमें राजसत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है और शासन सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छानुसार ही चलता है। ऐसे अधिनायक पर किसी प्रकार अंकुश नहीं

होता। उनकी राजनीति शक्ति का आधार अंधराष्ट्रवाद या नस्लवाद व बल प्रयोग होता है। वे उसी समय तक शक्ति म बने रहते हैं, जब तक अंधविश्वास पनपता है और अंध राष्ट्रवाद या धर्मान्धता व बल का प्रयोग उन्ह अधिनायक बनाये रखने मे सहायक रहता है। वे किसी के प्रति उत्तरदायी नही होते। अधिनायक तन्त्र मे राज्य की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति म निहित होती है जो स्वय को राज्य का मूतरूप समझता है। उसकी हर इच्छा एव आदेश ही सर्वोच्च होता है तथा वही सविधान और कानून होता है। ऐसे राज्य मे विधि का नही अपितु, व्यक्ति विशेष का ही शासन होता है। अधिनायक अपने समर्थको को एक गुट बना लेते है और जैसा अधिनायक अपने समर्थको का एक गुट बना लेते हैं और जैसा अधिनायक रहता है उसी का अनुसरण करते है। यदि कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह अधिनायक की इच्छा अथवा आदेशो का उल्लघन करता है तो उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता है। यदि अधिनायक अथवा अधिनायक के दल के हितो की पूर्ति क लिए समाज के कुछ लोगो के हितो अथवा उनकी हत्या कर दी जाए तो भी अधिनायक को ऐसा करने स कानूनन कोई रोक नही पाता। जन सामान्य को अधिनायक का विरोध करने का अधिकार नही होता।[12] जैसा मुसोलिनी ने कहा था कि "सब कुछ राज्य मे ही सम्भव है राज्य से बाहर कुछ भी सम्भव नही है।[13] गहराई से छानबीन की जाये तो पश्चिमी सभ्यता और विचार दर्शन की ही यह भी एक उपज है और उसका अग रहा है।[14]

वतमान समय मे मुख्यत दो प्रकार के अधिनायक तन्त्र हमारे समक्ष आते हैं

1 सर्वाधिकारी शासन
2 स्वेच्छाचारी शासन

अधिनायक तन्त्र के सामान्य लक्षण

अधिनायक तन्त्र म अधिनायक की स्थिति उसकी शक्तियो एव कार्यशैली के सन्दर्भ म ऊपर कुछ सकेत अवश्य दिए गय है लेकिन अधिनायकतन्त्र के प्रमुख लक्षण क्या हैं, उन्ह हम निम्न प्रकार से देख सकते है

सवप्रथम, इस सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि सामान्यत निरकुश व्यवस्था स तात्पय ऐसी व्यवस्था से लिया जाता है जिनमे अधिनायक सब शक्तिमान हो। उसकी प्रत्येक इच्छा एव आदेश ही कानून हो। वही कानून का स्रष्टा हो। परन्तु इतिहास मे एक भी ऐसा उदाहरण नही मिलता जब किसी तानाशाह ने अकेले समस्त राज्य शक्तियो का प्रयोग किया हो। हिटलर मुसोलिनी आदि के भी समर्थक सलाहकार व सहयोगी रहे हैं। वह किसी विचार धारा का प्रवतक अथवा किसी प्रचलित विचारधारा का प्रमुख सशोधक होता है। वही उस विचारधारा का एकमात्र व्याख्याकार, रक्षक तथा क्रियान्वयकर्ता माना जाता है। अत

दल के सदस्यों के लिए वह नेता एकमात्र पूजा व श्रद्धा का पात्र बन जाता है तथा उसकी शक्ति परम व सर्वोच्च हो जाती है। वह नेता किसी के प्रति भी उत्तरदायी नहीं होता किसी से भी आदेश प्राप्त नहीं करता है।

इसके अतिरिक्त अधिनायक तन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि अधिनायक अधिनायकतन्त्रीय व्यवस्था बनाये रखने के लिये अनेक हथकण्डे अपनाते हैं इनमें आतंक एवं डर का साम्राज्य स्थापना एक महत्त्वपूर्ण हथकण्डा है। इसके कारण शासित जन साधारण इतने भयभीत बना दिये जाते हैं कि उनको हर वक्त अपना अस्तित्व खतरे में लगता है। इसके लिए यथुनियाई प्रचार तन्त्र का सहारा लिया जाता है। निरंकुश शासन में सरकार एक निरन्तर चलने वाली अनि शांति की प्रतीक होती है।

अधिनायकतन्त्र बल प्रयोग की उपज है। इसमें एक दल या नेता या सेना या झण्डे के चारों ओर राष्ट्रीय आत्म-सम्मान आशाओं आकांक्षाओं की झूठी शक्ति इकट्ठी की जाती है। अधिनायकतन्त्र आन्तरिक विरोध व संघर्ष को कठोरता से दबा देता है, तब वह इस तरह से दावा करता है जैसे कि वह ही राष्ट्रीय एकता की प्रतिमूर्ति हो। वह अन्ततोगत्वा शक्ति के बल पर ही शासन कर पाता है। उसका शासन तभी तक चलता है जब तक लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े होने का साहस नहीं करते।

अधिनायक तन्त्र में दोष ही दोष

अधिनायकवादी व्यवस्था में दोष ही दोष हैं क्योंकि यह व्यवस्था मूलतः इस विचार को लेकर चलती है कि अधिनायक के अलावा समाज में अन्य सभी लोग 'व्यक्तित्व' ऐसी कोई विशेषता नहीं रखते—वे पशु तुल्य हैं जिन्हें चरवाहे की तरह नेता हाँकते रहते हैं—उदाहरण के लिए पाकिस्तान में जब कभी चुनाव कराने के वायदे की याद सैनिक तानाशाह जिया उलहक को दिलायी जाती है वे एक ही बात कहते हैं कि पाकिस्तानी आवाम इस लायक नहीं है। वे ईरान के खोमेनी की तरह इमाम होने का दावा तो नहीं करते पर तय वही करते हैं कि इस्लामी ढंग का प्रशासन क्या होगा कब स्थापित होगा और कैसे चलाया जाएगा।

अधिनायकतन्त्र में शासन का आधार बल प्रयोग है। लेकिन ऐसा शासन कभी भी स्थाई नहीं हो सकता क्योंकि स्थाई शासन के लिये बल प्रयोग की नहीं अपितु जन सहमति पर आधारित शासन की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार अधिनायक तन्त्र में अत्याचार, भय, आतंक अनाचार का ही बोलबाला होता है। अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति भावनाओं से रहित यन्त्रवत हो जाता है। वह वही लिखता है अथवा बोलता है जैसा तानाशाह चाहता है। इस

व्यवस्था म स्वतंत्र एव निष्पक्ष न्यायपालिका, स्वतंत्र प्रेस आदि का पूर्णत अभाव होता है।

इस प्रकार अधिनायकवत न के दोषो के विवेचन से यह स्पष्ट हाता है कि यह व्यवस्था मनुष्य को मानवता से गिरा देती है। इसमे मनुष्य को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नही होती अत उसका व्यक्तित्त्व दब जाता है और इसलिए वह कोई प्रगति नही कर पाता। उसके व्यक्तित्त्व की गरिमा तथा मौलिकता समाप्त हो जाती है।

इस व्यवस्था मे गुण कहता यह है कि धीमे धीमे इस प्रकार के कुशासन के अन्तर्गत लोगो का यह जानकारी हो जाती है कि मानवीय समाज की प्रगतिशील सरचना तब तक सम्भव नही है जब तक कि समाज के बहुसख्यक लोग अपने भाग्य की रचना का काय स्वनियन्त्रण मे रखने की शक्ति व सामथ्य और इस लक्ष्य को प्राप्त करन का सकल्प नही कर लेन। अतीत के और वतमान क इतिहास पर एक विहगम दृष्टि डालें, तो हम यह पाते हैं कि इस तरह की अधिनायकवादी व्यवस्था वही पनप रही है एव उखाडी नही जा रही है जहा अधिकतर लाग अशिक्षा, अज्ञान, भुखमरी के शिकार हैं और एकजूट हाने के बजाय अनकानेक अन्तद्वन्द्वो मे फँसे हुए आपस म बुरी तरह बँटे हुए हैं और इस बटवारे का फायदा तानाशाह उठा लेता है। यह कहना गलत है कि इस प्रकार के शासन क न्तगत किसी प्रकार की प्रगति सभव है क्याकि यह दवा न हाकर मज स अधिक मज बन जाती है।

पाद टिप्पणी

1 हनशा, एफ० जे० सी० डिमोक्रेसी एंड दि क्रोसवेज, लन्दन, मेकमिलन, 1919 पृ 17
2 मैक्सी, पॅलिटिकल फिलोसॉफीज पृ 690
3 सारटारी जी० डिमोक्रटिक थिअरी वाइनस्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस 1962
4 वही,
5 वही,
6 वही
7 वही,
8 वही,
9 एण्ड्रूज विलियम, कन्स्टीटयूशन एण्ड कान्स्टीटयूशनलिज्म 1961 पृ 10

10 मेयर जी एल्फ्रेड, दि सोवियत पॅलिटिकल सिस्टम, एन इन्टर-प्रिटेशन, न्यूयार्क, रेन्डमहाउस 1965, प 375
11 देखिए जवाहरलाल नेहरू "विश्व इतिहास की एक झलक"
12 इकबाल नारायण—राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा 1974, पृ 325
13 यह कथन मुसोलिनी द्वारा कहा गया है।
14 देखिए ग्रन्थ 'फ्राम लूथर टू हिटलर

अध्याय 11

एकात्मक एवम सघात्मक शासन

राजनीतिक व्यवस्था म शासन शक्ति के केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के आधार पर शासन व्यवस्थाओं मे अन्तर स्थापित किया जाता है। इस सदभ म शासन व्यवस्थाओ के तीन प्रतिमान हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं। पहला शासन का एकात्मक स्वरूप जिसमे शासन सत्ता पूण रूप से केन्द्रीय सरकार म निहित होती है। दूसरा स्वरूप परिसघात्मक जिसम राज्या का एक ढीला-ढाला सघ होता हैं तथा जिसमे राज्य शक्ति का प्रयोग अनेक स्थानो पर केन्द्रित रहता है तथा तीसरा सघात्मक स्वरूप होता है, जिसम राज्य शक्ति का प्रयोग दो स्तरो से (केन्द्रीय व राज्य) सचालित होता है। अब हम क्रमश तीनो व्यवस्थाओं पर सक्षेप मे चर्चा करना चाहगे। यहा हम सघात्मक शासन का अध्ययन थाडा सा विस्तत रूप से करना चाहेगे।[1]

एकात्मक शासन

एकात्मक शासन व्यवस्था मे शासन की सम्पूण शक्ति सविधान द्वारा अथवा परम्पराओ द्वारा केवल केन्द्रीय सरकार म निहित होती हैं तथा शासन सचालन की सपूर्ण शक्तिया केन्द्रीय सरकार क पास ही हाती है। एकात्मक शासन मे विविध प्रादेशिक सरकारें अथवा स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार द्वारा ही स्थापित की जाती है। इनके पास सविधान द्वारा दी हुई कोई शक्ति नही हाती है। इन्ह तो केन्द्रीय सरकार अपनी कुछ शक्तियाँ प्रत्यायोजित कर देती हैं। एकात्मक शासन म शासन सचालन की सुविधा की दृष्टि से एकात्मक राज्य को कुछ प्रदशा अथवा

प्रान्तो म विभाजित अवश्य किया जाता है किन्तु इन प्रादेशिक या स्थानीय सरकारो की कोई पृथक् स्वतन्त्र व मौलिक सत्ता नही होती है। एकात्मक शासन म प्रादेशिक व स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि सरकारें होती है जिन्हे केन्द्रीय सरकार कभी भी समाप्त कर सकती हैं। इनम आपस म पारस्परिकता होती है तथा इनम आपस म स्वामी नौकर जैसे सम्बन्ध होते है।

एकात्मक शासन के गुण

एकात्मक शासन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है कार्यकुशलता चूकि पूरे देश म शासन सचालन की शक्ति केवल मात्र केन्द्रीय सरकार के पास होती है अत वह आसानी स शासन सचालन हेतु नीति निर्धारण कर नीति नियान्वित कर सकती हैं। उसका राज्य सरकारो द्वारा विरोध करने का प्रश्न ही नही उठता है।

इसी प्रकार सविधान म सशोधन करने के लिए राज्यो अथवा प्रान्तो की स्वीकृति की आवश्यकता ही नही है। अत जिस विधि से कानून पारित होता है उसी विधि स आसानी से अथवा सामान्य बहुमत स ही सविधान म सशोधन करने भी सभव हो जाता है।

राष्ट्रीय एकता एवम् आवश्यकता बनाये रखने के लिए भी यह व्यवस्था उपयुक्त होती है। राज्य सरकार किसी प्रकार की मौलिक शक्तियो का उपयोग नही करती है। सभी को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये निर्देशो एव आदेशो के अनुसार चलना पडता है अत इस व्यवस्था म राष्ट्र के एकीकरण के मार्ग म कोई बाधा उत्पन्न नही होती है।

एकात्मक शासन के दोष

इसम पाये जाने वाले दोषो का विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

कुछ लोगो का कहना है कि एकात्मक शासन का सबसे बडा दोष यह है कि इसम राज्यो की स्थानीय विशेषताओ, सभ्यता एवम सस्कृति आदि का कोई ध्यान नही रखा जाता है। पूरे देश म एक ही सरकार (केन्द्रीय सरकार) का शासन होता है अत बिना स्थानीय विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए शासन का सचालन किया जाता है।

चूकि पूरे देश पर एक ही सरकार द्वारा शासन सचालित किया जाता है अत सरकार कार्य कुशलतापूर्वक शासन का सचालन नही कर सकती है।

पर्याप्त आवागमन एवम सचार के साधनो के अभाव म एक ही बिन्दु से पूरे देश म शासन का सचालन नही किया जा सकता है।

इस प्रकार एकात्मक शासन व्यवस्था के कुछ गुण तथा दोष दोनो ही है

अध्याय 11

एकात्मक एवम सघात्

राजनीतिक व्यवस्था मे शासन
के आधार पर शासन व्यवस्थाओ म अ
मे शासन व्यवस्थाओ के तीन प्रतिमान
एकात्मक स्वरूप जिसमे शासन सत्ता पू
है। दूसरा स्वरूप परिसघात्मक जिसम
तथा जिसमे राज्य शक्ति का प्रयोग
तीसरा सघात्मक स्वरूप होता है, जि
(केन्द्रीय व राज्य) सचालित होता है
मे चर्चा करना चाहेगे। यहा हम
रूप से करना चाहेगे।[1]

एकात्मक शासन

एकात्मक शासन व्यवस्था मे
परम्पराओ द्वारा केवल केन्द्रीय
की सपूर्ण शक्तिया केन्द्रीय सरकार के पास
प्रादेशिक सरकारें अथवा स्थानीय सरकारें
जाती है। इनके पास सविधान द्वारा दी हुई
केन्द्रीय सरकार अपनी कुछ शक्तियाँ प्रत्यायोजित
मे शासन सचालन की सुविधा की दृष्टि से एकात्मक

संघात्मक शासन के लक्षण

संघ शासन एक समझौता है। यह विभिन्न स्वतंत्र इकाईयों के बीच आपस में किये गये समझौते का परिणाम है। विभिन्न स्वतंत्र राज्य सरकारें आपस में मिलकर एक समझौता कर, एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करती है तथा मान्ना 'गणना तथा अवशेष के सिद्धान्त के माध्यम से अथवा सूची पद्धति' के माध्यम से कुछ शासन शक्तियां केन्द्र सरकार को सौंप देती है तथा बाकी अपने पास रख लेती हैं।

चूंकि, संघ शासन एक समझौता होता है अतः आगे आने वाली पीढ़ी को यह याद रहे कि समझौता क्या किया गया था, समझौते की क्या शर्तें थी इसके लिए संघ शासन में लिखित संविधान की व्यवस्था की जाती है। लेकिन समझौते की शर्तों (संविधान) में कोई संशोधन केवल केन्द्रीय सरकार ही न कर दे, समझौते में सम्मिलित होने वाली सभी इकाईयों के बहुमत द्वारा स्वीकृत होने पर ही संविधान में संशोधन होता है अतः इस अर्थ में संघ शासन में संविधान कठोर होता है।

संघ शासन में चूंकि दो प्रकार की सरकारें होती हैं—केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें अतः दोनों सरकारों के कार्यों का अथवा शक्तियों का विभाजन भी संघ शासन की महत्वपूर्ण विशेषता है।

यदि राज्यों में आपस में, केन्द्र सरकार एवम् राज्य सरकारों अथवा राज्यों में कोई विवाद उत्पन्न हो जाए अथवा संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई मामला उठ खड़ा हो तो इसके लिए संघ शासन में एक सर्वोच्च एवम् स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था होती है।

संघ शासन में नागरिकों की नागरिकता भी दोहरी होती है। नागरिक पहले तो संघ का तथा दूसरे उस इकाई का नागरिक होता है जिसमें वह निवास कर रहा होता है। अमेरिका में यह व्यवस्था है। भारत में दोहरी नागरिकता के सिद्धान्त को न अपनाकर इकहरी एकल नागरिकता की व्यवस्था की गयी है।

इसी प्रकार संसद के द्वितीय सदन में राज्यों का समान प्रतिनिधित्व होना भी संघ शासन की एक विशेषता है। संसद के प्रथम अथवा निम्न सदन में तो जन संख्या के आधार पर राज्यों का प्रतिनिधित्व होता हैं लेकिन संसद के दूसरे सदन में प्रत्येक राज्य को अपने यहां से निश्चित एवम् समान प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हैं चाहे वह राज्य बड़ा हो अथवा छोटा। अमेरिका में सिनेट (उच्च सदन) में प्रत्येक राज्य का अपने यहां से दो सदस्य भेजने का अधिकार है। भारत में राज्य सभा में राज्यों के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को लागू नहीं किया, गया है।[5]

परन्तु अपने अपने दृष्टिकोण एवम मान्यताओं के अनुसार किसी भी शासन-व्यवस्था का अनुसरण किया जा सकता है। कोई भी शासन व्यवस्था ऐसी नही है जिसके गुण एवम् दोष न हो। प्रत्येक शासन व्यवस्था के अपने कुछ गुण होते है तो स्वाभाविक है कि उसके कुछ दोष भी होंगे। एकात्मक शासन व्यवस्था भी इनका अपवाद नही है।

परिसंघात्मक शासन व्यवस्था

परिसंघ राज्यों का एक ऐसा ढीला ढाला संघ होता है जिनमें राज्य परिसंघ के सदस्य उस समय तक रहते है जब तक उनका उद्देश्य विशेष पूरा नही हो जाता है। जैसे ही परिसंघ में सम्मिलित होने वाली इकाईया का उद्देश्य पूरा हुआ वे परिसंघ की सदस्यता से त्याग पत्र दे देते हैं। अतः परिसंघात्मक व्यवस्था वह व्यवस्था होती है जिसमें सम्मिलित होने वाले राज्य इसलिए सम्मिलित होते है क्योंकि उन सबके अपने कुछ सामान्य उद्देश्य होते है। इन सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सभी सदस्य राज्य प्रयत्नशील रहते हैं और जैसे ही सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति होती है वे परिसंघ से अपने आपको पृथक् कर लेते है। जैसे उदाहरण के लिए राज्यो का उद्देश्य अपना आर्थिक विकास करना अथवा किसी सामान्य दुश्मन से अपनी रक्षा करना है तो ऐसे राज्य आपस में मिलकर एक परिसंघ का निर्माण करेंगे और परिसंघ के सदस्य तब तक बने रहेंगे जब तक उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति नही हो जाती। अतः परिसंघात्मक व्यवस्था एक दुर्बल स्थिति है।[3]

संघात्मक व्यवस्था

राजनीतिक व्यवस्था में शासन शक्ति के प्रयोग का केन्द्र एवम राज्य सरकारों में विकेन्द्रीकरण करना ही संघात्मक शासन कहलाता है। संघात्मक शासन से तात्पर्य शासन शक्तियों के प्रयोग के ऐसे विभाजन से है जिसमें संघीय सरकार द्वारा प्रयुक्त होने वाली शक्तियों को निश्चित कर दिया जाता है और शेष शक्तियों को प्रादेशिक सरकारो के लिए छोड दिया जाता है के सी व्हीरे ने अपनी पुस्तक संघात्मक सरकार में कहा है कि "संघात्मकता के सिद्धांत से मेरा तात्पर्य शक्तियों के विभाजन की विधि से है जिससे सामान्य एवम प्रादेशिक सरकारों में से हर एक अपने क्षेत्र विशेष में स्वतन्त्र एवम् समान रहे।' इसी प्रकार आगे उनका कहना है कि "संघात्मक सिद्धान्त के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि सामान्य सरकार प्रान्तीय सरकारो के समान ही जनता पर क्रियाशील रहे परन्तु यह भी आवश्यक है कि हर एक सरकार अपने ही क्षेत्र तक सीमित रहे और उस क्षेत्र में अन्य सरकारों से स्वतंत्र रहे।"[1]

संघात्मक शासन के लक्षण

संघ शासन एक समझौता है। यह विभिन्न स्वतंत्र इकाईयों के बीच आपस में किये गये समझौते का परिणाम है। विभिन्न स्वतंत्र राज्य सरकारें आपस में मिलकर एक समझौता कर, एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करती हैं तथा या तो 'गणना तथा अवशेष' के सिद्धान्त के माध्यम से अथवा सूची-पद्धति के माध्यम से कुछ शासन शक्तियां केन्द्र सरकार को सौंप देती है तथा बाकी अपने पास रख लेती हैं।

चूंकि, संघ शासन एक समझौता होता है अतः आगे आने वाली पीढी का यह ज्ञान रहे कि समझौता क्या किया गया था, समझौते की क्या शर्तें थी इसके लिए संघ शासन में लिखित संविधान की व्यवस्था की जाती है। लेकिन समझौते की शर्तों (संविधान) में कोई संशोधन केवल केन्द्रीय सरकार ही न कर दे, समझौते में सम्मिलित होने वाली सभी इकाईयों के बहुमत द्वारा स्वीकृत होने पर ही संविधान में संशोधन होता है अतः इस अर्थ में संघ शासन में संविधान कठोर होता है।

संघ शासन में चूंकि दो प्रकार की सरकारें होती हैं—केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें अतः दोनों सरकारों के कार्यों का अथवा शक्तियों का विभाजन भी संघ शासन की महत्वपूर्ण विशेषता है।

यदि राज्यों में आपस में, केन्द्र सरकार एवम् राज्य सरकारों अथवा राज्यों में, कोई विवाद उत्पन्न हो जाए अथवा संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई मामला उठ खड़ा हो तो इसके लिए संघ शासन में एक सर्वोच्च एवम् स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था होती है।

संघ शासन में नागरिकों की नागरिकता भी दोहरी होती है। नागरिक पहले तो संघ का तथा दूसरे उस इकाई का नागरिक होता है जिसमें वह निवास कर रहा होता है। अमेरिका में यह व्यवस्था है। भारत में दोहरी नागरिकता के सिद्धान्त को न अपनाकर इकहरी एकल नागरिकता की व्यवस्था की गयी है।

इसी प्रकार संसद के द्वितीय सदन में राज्यों का समान प्रतिनिधित्व होना भी संघ शासन की एक विशेषता है। संसद के प्रथम अथवा निम्न सदन में तो जन संख्या के आधार पर राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है लेकिन संसद के दूसरे सदन में प्रत्येक राज्य को अपने यहां से निश्चित एवम् समान प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है चाहे वह राज्य बड़ा हो अथवा छोटा। अमेरिका में सिनेट (उच्च सदन) में प्रत्येक राज्य को अपने यहां से दो सदस्य भेजने का अधिकार है। भारत में राज्य सभा में राज्यों के समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को लागू नहीं किया, गया है।[3]

सघ निर्माण की आवश्यक शर्तें

अनेक विद्वाना ने अपनी अपनी कृतिया म सघ निमाण की अनेक पूव शर्तो का उल्लेख किया है। इस स दभ मे के सी व्हीरे, विलियन पी मोडाक्स के नाम का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। इ होन सघ निर्माण के लिए निम्न लिखित शर्ते बतायी ह।

1- भागोलिक समीपता,

2 असुरक्षा की भावना

3- इकाईयो म सास्कृतिक, सामाजिक एवम राजनीतिक विकास के स्तर एवम् आकार से सम्ब धित समानता,

4- विदेशी शक्तिया स स्वतत्र रहने की इच्छा तथा

5- आर्थिक लाभ की आशा।

पहले, सघ निर्माण के स दभ म सबसे पहली आवश्यकता है कि स घ म सम्मिलित हाने वाली सभी इकाईया राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्र हो।

दूसरे, सघ म सम्मिलित हान वाली इकाईया भौगोलिक दष्टि से एक दूसरे के समीप हा। यदि एसा नही होगा तो इकाईयो मे भावात्मक एकता स्थापित नही हा सकेगी। ऐसा नही हाना चाहिये कि बागलादेश के ज म स पूव एव पश्चिमी तथा दूसरा पूर्वी पाकिस्तान था। बीच म भारत आता है। अत पाकिस्तान का स घ सफ ल नही हो सका। अत राज्य एक दूसरे के पडौसी हा।

यदि इकाईयो म असुरक्षा की भावना हो, ता भी अ त आपकी सुरक्षा के लिए व सघ का निर्माण कर स गठित हो जाती हैं।

सघ शासन में सम्मिलित होने वाली इकाईया आपस म किसी न किसी रूप म समान हानी चाहिए। उनका इतिहास, सभ्यता एवम सस्कृति, उनका विकास स्तर एकसा रह अ यथा उनम एकता एवम् एकीकरण की भावना जागत नही हो सकती है।

इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि कोई विदशी आक्रमणकर्ता आक्रमण करन की साचे ता एसी स्थिति म सभी इकाईया मिलकर आक्रमण करन की सोचे ता ऐसी स्थिति मे सभी इकाईया मिलकर आक्रामक का एसा करने स राक सकती हैं। अत वही वे विदेशी शक्तिया के गुलाम न हा जाए इसके लिए इकाईया मिलकर सघ का निर्माण करती हैं।

इसी प्रकार इकाईयो का अपना एक सामा य उद्देश्य हाना चाहिए तथा इस सामा य उद्देश्य की पूर्ति की दिशा म सभी इकाइया को प्रयास करना चाहिय। जसे इकाईयों का उद्देश्य हा सकता है—मिलजुलकर अपना आर्थिक विकास करना। अत आशा म भी मिलकर वे सघ का निर्माण करते हैं। इस प्रकार सघ क निमाण म अनेक प्रवृत्तिया, आवश्यकताए एवम शर्तें भूमिका निभाती [5]।

सघ शासन के गुण एव दोष

किसी भी शासन व्यवस्था मे क्या गुण तथा दोष है, यह बताना बहुत कुछ उस देश के वातावरण, आवश्यकताओ, इतिहास एव सस्कृति आदि पर निभर करता है लेकिन फिर भी सघ शासन के क्या मुख्य गुण तथा दोष है इनको हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं —

सवप्रथम, सघ शासन म सबसे महत्वपूण गुण यह बताया जाता है कि इसम शक्तियो का केन्द्र मे केन्द्रीकरण न होकर विकेन्द्रीकरण की स्थिति पाई जाती है। सम्पूण शासन शक्तियो को सघ सरकार एवम राज्य सरकार म विभाजित किया किया जाता हैं। शक्तियो का विकेन्द्रीकरण सघ सरकार की मुख्य विशेषता होती हैं।

दूसरे, सघ सरकार मे शासन सचालन बडी आसानी एव सुगमता से किया जा सकता है। एकात्मक शासन मे तो सम्पूण काय केन्द्रीय सरकार द्वारा ही सचालित किए जाते हैं। अत केन्द्र सरकार यह अत्यधिक भार होने के कारण वह शासन का सुगमता से सचालन नही कर सकती लेकिन सघ शासन म शक्ति विभाजन हो जाने के कारण कुछ विषयो का सचालन केन्द्र सरकार तथा कुछ का राज्य सरकारें सचालन करती हैं इसस शासन का भार केवल एक ही सरकार पर नही अपितु, उनका स्पष्टत विभाजन हो जाता हैं।

सघ शासन व्यवस्था मे केन्द्रीय सरकार के अधिनायकवादी बनने की गुजायश बहुत कम रहती है क्योकि उसे इकाई सरकारो को विश्वास म लेना होता है अत राज्य सरकारें केन्द्र सरकार को अधिनायकवादी नही बनने देती है।

इस प्रकार सघ शासन का एक अन्य गुण है—कि राज्य सरकारो पर स्थानीय लोग राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त करते है और इनके प्रशिक्षण का आगे चलकर केन्द्रीय स्तर पर लाभ भी उठाया जाता हैं।

सघीय शासन के दोष

उपरोक्त गुणो के अतिरिक्त सघ शासन के कुछ दुर्गुण भी बताये जाते है जैसे

सघ शासन का सबसे बडा दुर्गुण है शासन म सामन्जस्य की अविद्यमानता। चूकि, इस शासन व्यवस्था मे दोहरी सरकारे होती हैं अत शासन काय के सुचारू सचालन के लिए इन दोनों सरकारो म सामजस्यता आवश्यक होती है लेकिन उचित सामजस्यता स्थापित नही हो पाती है। सामजस्यता के अभाव मे राज्य एव केन्द्र सरकारें किसी सवमान्य निणय पर नही पहुँच पाती। इसी प्रकार सघ शासन मे कोई भी सवमान्य निणय आसानी स नही लिये जा सकते हैं। यदि केन्द्रीय सरकार किसी निणय तक पहुँचती है तो राज्य उसका विरोध करते है

और राज्य निर्णय लेते है तो संघ सरकार उसका विरोध करती है।

इसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि संघ शासन युद्धकाल एवं संकटकालीन परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि ऐसे समय पर शीघ्र निर्णय लेने के लिए राज्य सरकारों पर भी निर्भर रहना होता है अतः यह शासन युद्धकाल, संकटकालीन परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है।

द्रुतगति से आर्थिक विकास हो, इसके लिए भी यह व्यवस्था ठीक नहीं है क्योंकि आर्थिक विकास के लिए भी एकीकृत व्यवस्था होनी चाहिये। एक ऐसी संस्था हो जो निर्णय ले सके तथा उन्हें आसानी से क्रियान्वित करवा सके लेकिन यहां निर्णय लेने के लिए एक ही सरकार पूर्णतः सक्षम नहीं है तथा ऐसी नीतियां बन जाने के बाद उन्हें क्रियान्वित करने के लिए राज्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है ऐसी स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि राज्य उन नीतियों का क्रियान्वयन वैसा ही करेंगे जैसा नीतियों का निर्माण करने की भावना निश्चित की गयी थी।

अतः इस प्रकार अनेक प्रकार के गुण एवं दोष दोनों संघ शासन में बताए जाते है लेकिन संघात्मक व्यवस्था के अपने कुछ ऐसे गुण हैं जो आज के विस्तृत एवं व्यापक राष्ट्रीय राज्यों के लिए अपरिहार्य हैं। अतः आज एकात्मक शासन की अपेक्षा संघात्मक शासन की प्रणाली ज्यादा प्रचलित एवं लोक प्रिय हैं।

संघ शासन मे नवीन प्रवृत्तियाँ

लेसली लिपसन ने अपनी पुस्तक 'ग्रेट इस्यूज आव् पॉलिटिक्स' में कहा है कि आज सभी संघों में एकात्मकता की प्रवृत्तियां बढ़ती जा रही है। चाहे वह अमेरिकी संघ हो अथवा कैनाडा एवं आस्ट्रेलिया का और चाहे भारत का संघ हो सभी संघों में एकात्मकता के तत्व बढ़ते जा रहे हैं। अमेरिका, कैनाडा आस्ट्रेलिया भारत आदि देशों में संघ शासन मात्र सिद्धान्त में ही है व्यवहार में संघ शासन करीब-करीब समाप्त से होते जा रहे हैं। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि आज ऐसे कौन से कारकों का उदय हो गया है जिनके कारण संघ शासनों में एकात्मकता की प्रवृत्तियां उभर रही हैं।[7] इस संदर्भ में लेसली लिपसन ने निम्न लिखित कारण गिनाए हैं

संघ शासन में एकात्मक तत्वों के उभरने का सबसे पहला कारण है—दलीय अनुशासन जब देश में केन्द्रीय सरकार के स्तर पर तथा राज्यों में एक ही दल का शासन हो तो राज्य वैसा ही करते है तथा केन्द्रीय सरकार उनको वैसा ही करने के लिए कहती है। अतः जिन विषयों के शासन संचाल... राज्य सरकारों के पास होनी है। उस संबंध ... का केन्द्रीय ... बात माननी होती है। अतः दलीय व्यव... बढ़ता...

शासन को बहुत नुक्सान पहुँचाया हैं।[8]

लाक कल्याणकारी राज्य की गतिविधिया तथा आर्थिक सक्ट भी एसे महत्वपूर्ण कारण हैं जिन्होंने संघ शासन म एकात्मकता की प्रवृतिया को बढावा है। लाक कल्याणकारी गतिविधियो के सम्पादन की सम्पूण जिम्मेदारी सामान्यत सभी देशो के संविधानो द्वारा इकाई सरकारा का सौंपी जाती है। किसी भी सरकार को इन कल्याणकारी गतिविधियो को पूरा करन के लिए पयाप्त धन राशि चाहिये लेकिन राज्यो के पास पर्याप्त धन राशि नही हाती अत उन्ह केन्द्र का मुखोपक्षी होना पडता है। केन्द्र राज्या को कल्याणकारी कार्यो के सम्पादन के लिए जो धनराशि दता है वह सशर्त होती है। अत राज्य अपने विपयो के शासन सचालन मे भी स्वतन्त्र नही होते उन्ह केन्द्रीय सरकार का कहना मानना पडता है। इसके अतिरिक्त आज हर राष्ट्र आर्थिक सकट के दौर से गुजर रहा है और विशेपत विकासशील राष्ट्रो के समक्ष तो बहुत बडी आर्थिक समस्याए हैं। ऐस वातावरण म विकासशील राष्ट्रो म सघात्मक व्यवस्था वसी ही हागी जसाकि अमेरिका मे हैं। यह असम्भव है क्योकि विकासशील राष्ट्र प्रथम ता आर्थिक सकट के दौर से गुजर रहे हैं तथा दूसरे, विकासशील राष्ट्रो का इतिहास आवश्यकताएँ, परिस्थितिया तथा वातावरण बिल्कुल पथक होता है। अत कल्याणकारी कार्यों एव आर्थिक सकट न सघ शासन का बहुत धक्का पहुँचाया है।

इसी प्रकार युद्धो तथा आपतकालीन परिस्थितिया न भी राज्य सरकारो के हाथा से शक्ति छीनकर केन्द्र सरकार को हस्तान्तरित कर दी है। जब किसी भी देश पर युद्ध के बादल मण्डराते रहते हैं अथवा किसी प्रकार की आपात्कालीन स्थिति होती है तो देश की सम्पूण शक्तिया केन्द्र में केन्द्रित हो जाती है तथा देश के नेतृत्व से यह आशा की जाती है कि वह इस सकट से देश को बचाएगा। अन सामान्यकाल म भी इस प्रकार की स्थिति अनवरतरूपेण चलती रहती है।

इसी प्रकार आज प्रत्येक देश की कार्यपालिका की शक्तिया दिन पर दिन बढती जा रही हैं तथा व्यवस्थापिका की शक्तिया का पतन होता जा रहा है। अत कार्यपालिका की शक्तियो मे अभिवृद्धि हो जाने के कारण सम्पूण देश के महत्वपूण निणय, चाहे वह राज्यो से सबन्धित हो अथवा किसी अन्य मामलो से सबन्धित केन्द्रीय मुख्य कार्यपालिका द्वारा ही लिये जात हैं तथा राज्या को इन निणयो का पालन करना पडता है।

इस प्रकार दलीय अनुशासन, कल्याणकारी गतिविधियो, आर्थिक सकट, युद्ध एवं आपातकाल तथा कार्यपालिका की बढती हुई शक्तियो ने संघात्मक शासन म एकात्मकता के तत्त्व पदा कर दिये हैं। आज विश्व का चाहे कोई सा

भी संघ हो, करीब सभी संघो में एकात्मकता के तत्त्व स्पष्टत दृष्टिगोचर होते हैं।

पाद टिप्पणी

1 इक्बाल नारायण, राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा, 1974
2 वही
3 वही
4 के सी व्हीरे—फेडरल गवनमन्ट लन्दन, 1963 पृ-15
5 वही
6 वही
7 लेसली लिपसन, ग्रेट इस्यूज आव् पॉलिटिक्स
8 वही
9 वही
10 वही

अध्याय 12

ससदात्मक एव अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियाँ

लोकतान्त्रिक व्यवस्था म राजनीतिक गतिविधिया सगठित रूप म सम्पादित की जाती हैं। अत इस सदभ म सवप्रथम यह प्रश्न उठता है कि लोकतान्त्रिक देशा म राजनीतिक सगठन कैसे हा ? आधुनिक समय म सरकारी सगठन कसे है ? कौन से हैं ? तथा उनके क्या-क्या सिद्धा त रहे है—जिनका लेकर वे चलत रहे है ? ऐसी कौन-सी मा यताए हैं जो इस सगठनो म पूरी होगी ? इन प्रश्ना का उत्तर इस प्रकार स दिया जा सकता है कि आधुनिक प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाआ मे दो सामा य शासन प्रणालिया प्रचलित है—ससदात्मक शासन प्रणाली तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली।

इन दाना शासन प्रणालियो की अपनी कुछ सामा य विशेपताए भी एक सी हैं लेकिन कुछ बाता को लेकर दोना म थोडा बहुत अ तर पाया जाता है।

दोना शासन प्रणालियाँ प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पर आधारित हैं। दोना ही व्यवस्थाए चकि प्रजातान्त्रिक पद्धति पर आधारित है। अत दोना शासन प्रणालिया को जो राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई हैं उसका स्त्रोत सविधान तथा देश का विधान रहे है। दोनो ही शासन प्रणालिया म सरकारें कम अथवा अधिक अपने अपन तरीका से जनता के प्रति उतरदायी होती हैं तथा दोना ही प्रणालिया म शासन काय में जनता की शासन काय म प्रत्यक्षत अथवा अप्रत्यक्षत हिस्सेदारी सहभागिता होती है।

इसी प्रकार यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि ससदीय एव अध्य ीय शासन प्रणालिया म अन्तर का प्रमुख आधार क्या है। यदि कायपालिका एव व्यवस्था-

पिका मे आपसी घनिष्ठ सबध है तो शासन प्रणाली ससदीय होगी और यदि काय पालिका एव व्यवस्थापिका मे सबधो की स्थिति नही है तो वहा अध्यक्षीय व्यवस्था होगी। अत शासन प्रणाली कौन-सी है इसका मापदण्ड कायपालिका एव व्यवस्थापिका का सबध है।

ससदीय शासन प्रणाली

ससदीय शासन का 'केबिनेट' शासन "मत्री मण्डलीय" शासन तथा 'उत्तरदायी शासन" भी कहा जाता है। ससदीय शासन से तात्पय उस शासन व्यवस्था से है जहा कायपालिका एव व्यवस्थापिका मे आपसी घनिष्ठ सबध होते हैं। कायपालिका अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है तथा इसलिए कायपालिका का समय निश्चित नही होता है। इसी सदभ मे काटर एव हर्ज का कहना है कि 'ससदीय शासन, सरकार के कायपालिका एव व्यवस्थापिका अगो के आपसी गहरे सबधो के सिद्धान्त पर आधारित होता है।" इसी प्रकार गानर का कहना है कि "ससदीय शासन के अन्तगत वास्तविक कायपालक (केबिनेट) विधान मण्डल या उसके एक सदन (प्राय निम्न सदन) के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से तथा निर्वाचको के प्रति अन्तिम रूप से अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी रहता है तथा राज्य का प्रमुख जो औपचारिक कायपालक होता है वह अनुत्तरदायित्व की स्थिति मे रहता है।"[1]

ससदीय शासन की विशेषताए

आज विश्व के अधिकाश देशो म ससदीय शासन की प्रणाली ही अधिक लोकप्रिय है। विशेषत द्वितीय महायुद्ध के बाद राष्ट्रो ने ससदात्मक शासन को ही अपना आधार बनाया है। अत इस सदभ मे सवप्रथम प्रश्न यह उठता है कि इस शासन प्रणाली मे कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह प्रणाली ज्यादा लोकप्रिय हुई है। इस सदभ मे डी वी वर्ने के नाम का उल्लेख करना प्रासगिक होगा। वर्ने ने अपनी पुस्तक "एन एनालिसिस आव पलिटिकल सिस्टम्स" म ससदीय शासन प्रणाली की निम्न विशेषताए गिनाई हैं

1 कायपालिका का दो भागो मे विभाजित होना

इस प्रणाली म कायपालिका दोहरी होती है। एक नाममात्र की कायपालिका तथा दूसरी वास्तविक कायपालिका। नाममात्र की कायपालिका को राज्य के अध्यक्ष के रूप मे तथा वास्तविक कायपालिका का शासन के अध्यक्ष के रूप म स्वीकार किया जाता है। सविधान द्वारा सिद्धान्त म शासन की सम्पूर्ण शक्तिया नाममात्र के अध्यक्ष को ही दी जाती हैं परन्तु नाममात्र के अध्यक्ष के नाम पर

शासन के सचालन की वास्तविक शक्तिया वास्तविक शासक अर्थात केबिनट म निहित होती हैं।

2 नाममात्र के अध्यक्ष को वास्तविक अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार

ससदीय शासन म नामात्र का अध्यक्ष बहुमत प्राप्त दल के नेता को सरकार के वास्तविक अध्यक्ष (प्रधानमन्त्री) के रूप म नियुक्त करता है। सिद्धात म उसकी यह शक्ति मात्र दिखावा होती है क्योकि निम्न सदन म बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधानमन्त्री के रूप म नियुक्त करना पडता है लेकिन उसकी यह शक्ति उस समय महत्वपूर्ण हो जाती है जबकि निम्न सदन म किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही हो। सरकार का अध्यक्ष शासन सचालन के लिए अपन साथियो को नियुक्त करता है तथा उनके नामो पर नाममात्र के अध्यक्ष (राजा-रानी अथवा राष्ट्रपति) स्वीकृति प्रदान करता है।

3 कार्यपालिका का उत्तरदायित्व

वास्तविक कायपालिका अपने सभी राजनीतिक कार्यों नीतिया एव कायक्रमो के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। यह उत्तरदायित्व एकल तथा सामूहिक दोनो प्रकार का होता है। मत्रिमण्डल के सदस्य व्यक्तिगत रूप स तथा सामूहिक रूप से प्रत्यक्षत ससद के प्रति तथा अप्रत्यक्षत जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं।

4 कार्यपालिका का अनिश्चित समय

चूकि कायपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है अत वह अपने पद पर व्यवस्थापिका के प्रसादपयन्त तक ही बनी रह सकती है। अत इस अथ में कायपालिका का समय निश्चित नही होता।

5 नाममात्र के अध्यक्ष द्वारा ससद (निम्न सदन) को भग करन का अधिकार

ससदात्मक शासन म नाममात्र के अध्यक्ष को वास्तविक अध्यक्ष ससद (निम्न सदन) को भग करने का परामश दे सकता है और नाममात्र का अध्यक्ष इस प्रकार के परामश क आधार पर ससद (निम्न सदन) को भग कर सकता है।

6 संसद का शक्ति का प्रमुख केन्द्र होना

इस शासन मे संसद सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था मे शक्ति का प्रमुख केन्द्र होती है। संसद ही कार्यपालिका का निर्देश देती है, उस पर अपना नियन्त्रण स्थापित करती है। इस संदर्भ मे बर्के का कहना है कि "यह वह मंच है जहा राजनीतिक नाटक खेला जाता है। यह राष्ट्रीय विचारो का रंगमंच है। यह वह विद्यालय है जहा भावी राजनीतिक नेताओ का प्रशिक्षण होता है। राजनीतिक *व्यवस्था म सभी शक्तियो का उद्भव संसद से ही होता है। सभी शक्तिया द्वारा* संसद ही प्रतिबन्धित और सीमित रहती है। राजनीतिक नीतियो, राष्ट्रीय कार्यक्रमो, राष्ट्रीय लक्ष्यो का निर्धारण का मंच भी संसद ही होती हैं।"

इस प्रकार संसदीय शासन की उपरोक्त विशेषताए यह स्पष्ट करती है कि *संसदीय शासन अपने आप म एक विशेष प्रकार की शासन व्यवस्था है।*

संसदीय शासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

संसदीय शासन की सफलता के लिए क्या-क्या शर्तें अथवा कैसी परिस्थितिया *आवश्यक है उनका क्रमबद्ध सूचीकरण तो पूरी तरह से सम्भव नही है लेकिन फिर* भी कुछ ऐसी परिस्थितिया अवश्य बतायी जा सकती है जिनकी उपस्थिति संसदीय शासन को सफल बनाने म महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। इनमे से कतिपय निम्नलिखित हैं

सर्वप्रथम संसदीय व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवस्था म प्रतियोगी दलीय व्यवस्था हो। प्रतियोगी दलीय व्यवस्था से तात्पर्य है कि समान राजनीतिक दल हो तथा चुनावो मे दलो म आपस में स्वस्थ प्रतियोगिता हो। यदि दल असमान होगे तो उनम स्वस्थ प्रतियोगिता का होना संदिग्ध लगता है। जैसे उदाहरण के लिए ब्रिटेन म द्विदलीय व्यवस्था के साथ दलीय समानता की स्थिति पाई जाती है लेकिन भारत मे इस प्रकार की दलीय समानता की स्थिति का अभाव है। अत सर्वप्रथम दलो मे स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना होनी चाहिए।

संसदीय शासन के सफल संचालन के लिए नाम मात्र के अध्यक्ष को केवल नाममात्र के अध्यक्ष की ही भूमिका निभानी चाहिए। उसे एक सीमा से अधिक महत्वाकांक्षी नही होना चाहिए। उसे वास्तविक शासक (केबिनेट) के कार्यों म अनावश्यक हस्तक्षेप नही करना चाहिए। साथ ही उसे राजनीतिक तटस्थता की भावना से कार्य करना चाहिये। उसे किसी भी दलीय पचडे मे न पडकर अपने आपको दलीय राजनीति स ऊपर उठाना चाहिये और दलीय गतिविधियों स अपने आपको तटस्थ रखना चाहिए।

इसी प्रकार ससदीय शासन की सफलता के लिए एक अन्य महत्वपूर्ण ससदीय परम्परा यह भी है कि निम्न सदन का अध्यक्ष दलीय राजनीति स ऊपर होकर निणय ले। जिस दल स वह निर्वाचित हाकर आए, और उसक बाद यदि वह 'स्पीकर' चुन लिया जाय ता उसे अपने दल से किसी प्रकार की सहानुभूति तथा विरोधी दला स किसी प्रकार का विद्वेष नही रखना चाहिए। उस अपने आपको तटस्थ रखना चाहिए।

इसी प्रकार ससद की सर्वोच्चता ससदीय शासन की सफलता है सम्पूण शासन पर नियत्रण रखकर शासन को अपने प्रति उत्तरदायी बनाकर स्वय ससद को अतत जनता के प्रति उत्तरदायी बनाना ससदीय परम्परा का भाग है।

इसी प्रकार ससद की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि देश म नियत समय पर निष्पक्ष चुनाव हाते रहन चाहिए।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताए

जहा ससदीय शासन कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका के घनिष्ठ सम्बधा क सिद्धात पर आधारित होता है वहा अध्यक्षीय शासन म वैधानिक रूप से कार्य-पालिका एव व्यवस्थापिका दोना पृथक-पृथक होती है। न तो कार्यपालिका व्यवस्थापिका म से चुनी जाती है और न ही वह उसके प्रति उत्तरदायी ही होती है। अध्यक्षीय शासन क सन्दभ म गानर का यह कहना है कि यह वह शासन व्यवस्था है जिसम कायपालिका अपनी अवधि, शक्तिया और कार्यो क सम्बध म व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रहती है। इस शासन म ससदीय शासन की भाति काय पालिका दोहरी न होकर इकहरी ही होती है। यही शासन का सर्वोच्च अधिकारी होता है वह अपने राजनीतिक कार्यों तथा नीतिया क लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही हाता। वह अपनी सहायता क लिए कुछ व्यक्तिया का एक "सलाहकार मण्डल' बनाता है। इस सलाहकार मण्डल के प्रत्यक सदस्य उसक प्रति ही उत्तरदायी हात है तथा वे उसक प्रसादपय त ही अपने पद पर बने रहत हैं। उसका कायकाल निश्चित होता है। इस निश्चित कायकाल से पहले उसे महाभियोग के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से हटाया भी नही जा सकता है। इस शासन की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार बताई जा सकती है

1 एकल कायपालिका की व्यवस्था होना—अध्यक्षीय शासन की सवप्रमुख विशेषता हाती है अध्यक्षीय शासन म कायपालिका एक ही होती है। राष्ट्रपति ही राज्याध्यक्ष एव शासनाध्यक्ष होता है। सविधान द्वारा प्रदत्त समस्त कायपालिका शक्तियाँ उसी म निहित होती हैं इन शक्तियो का निष्पादन वह अकेला ही सम्पन्न करता है।

2 ससदीय शासन की भाति राष्ट्रपति को अपने सहयोगियो का एक सलाहकार मण्डल (जिसे मन्त्रिमण्डल कहा जाने लगा है।) बनाता है लेकिन दोनो मे जो मूलभत अन्तर है वह यह है कि ससदीय शासन म केबिनट के सदस्य प्रधानमत्री के सहयोगी तथा साथी होत है लेकिन अध्यक्षीय शासन मे मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के व्यक्तिगत नोकर की भाति होते हैं। ससदीय शासन म प्रधान मत्री केबिनेट के सदस्या को जब चाह अपनी इच्छानुसार नही हटा सकता है लेकिन राष्ट्रपति को इस प्रकार का अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के किसी भी सदस्य को कभी भी हटा सकता है अथवा किसी को कभी भी अपने मन्त्रिमण्डल म ले सकता है।

3 अध्यक्षीय शासन की एक अय महत्वपूण विशेषता है कि इसम कायपालिका एव व्यवस्थापिका के बीच कोई सम्बध नही होते। ससदीय शासन मे शासन के इन दोना अगो मे कोई सम्बध नही होता है और न ही कायपालिका अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी ही होती है। जबकि ससदीय शासन म काय-पालिका अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

4 चूकि, कायपालिका का व्यवस्थापिका के साथ कोई सम्बध नहीं होता है और कायपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी भी नही होती है अत देश के विधान के अनुसार कायपालिका का समय निश्चित होता है। निश्चित समय से पूव कायपालिका को अपदस्थ नही किया जा सकता (केवल महाभियाग की स्थिति को छोडकर) चूकि कायपालिका का समय निश्चित होता है वह अपने निश्चित समयावधि के लिए योजनाओ आदि का निर्माण कर देश को प्रगति के पथ पर ले जा सकता है।

इसी प्रकार जैसे व्यवस्थापिका को कायपालिका को अपदस्थ करन का अधिकार नही है उसी प्रकार कायपालिका को भी व्यवस्थापिका को भग करने का अधिकार नही होता है जबकि ससदीय शासन म स्थिति इसके विपरीत पायी जाती है वहा व्यवस्थापिका कायपालिका को अपदस्थ कर सकती है और साथ ही कायपालिका भी व्यवस्थापिका का भग कर सकती है।

सामायत यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार ससदीय शासन मे ससद की सर्वोच्चता होती है। सम्पूण राजनीतिक व्यवस्था का केद्र बिदु केवल ससद होती हैं। इसी प्रकार अध्यक्षीय शासन म कोई एक शक्ति का केद्र नही होना है।

शासक सविधान का सर्वोच्च मानकर उसी के प्रति उत्तरदायी होते है । उनकी अन्तिम उत्तरदायित्वता जनता के प्रति होती है ।[3]

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि अध्यक्षीय शासन म कोई एक शक्ति का केन्द्र नही होता, अत इसका कोई न कोई एक महत्वपूर्ण कारण होना चाहिये । इस सदभ म यह कहा जा सकता है कि शक्ति के किसी एक केन्द्र के नही होने का कारण है—शक्ति पृथक्करण की व्यवस्था । अध्यक्षीय शासन की एक महत्वपूर्ण विशेषता है शक्ति पृथक्करण के सिद्धात की व्यवस्था । सरकार के तीनो अगो के कार्यों का स्पष्टत विभाजन कर दिया जाता है लेकिन चूकि, पूर्ण पृथक्करण किसी भी रूप म सभव नही है अत पृथक्करण के सिद्धा त का जामा पहिनान के लिए नियत्रण एव सतुलन के सिद्धा त के साथ शक्ति पृथक्करण के सिद्धा त का निरूपण किया गया है जिससे एक अग दूसरे पर नियत्रण रख सतुलन की स्थापना कर सके ।[4]

ससदीय एव अध्यक्षीय शासन व्यवस्थाओं के गुणों एव दोषो का तुलनात्मक अध्ययन ससदीय सरकार की उपादेयता ?

ससदीय शासन का सबसे महत्वपूर्ण गुण है कि सरकार उत्तरदायित्व के सिद्धा त पर काय करती है । सरकार अपन राजनीतिक कार्यों एव नीतियो के लिए प्रत्यक्षत ससद तथा अप्रत्यक्षत जनता के प्रति उत्तरदायी होती है तथा ससद यह देखती है कि शासन काय ठीक से सचालित किया रहा है या नही तो उसे कायपालिका को अपदस्थ करन का अधिकार है । लेकिन इस प्रकार की उत्तरदायित्व की स्थिति अध्यक्षीय शासन प्रणाली म नही पायी जाती है । कायपालिका (राष्ट्रपति) न तो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और न ही व्यवस्थापिका उसे अपदस्थ कर सकती है । अत यह कहा जाता है कि उत्तरदायित्व के सिद्धा त के दृष्टिकोण स ससदात्मक शासन अध्यक्षात्मक शासन से ही अधिक प्रजातात्रिक होता है ।

ससदात्मक शासन म कायपालिका एव व्यवस्थापिका के बीच घनिष्ठता पाई जाती है । इससे शासन कार्यों म सामजस्यता, एक रूपता एव समरूपता की स्थिति होने स शासन का आसानी स सचालन किया जा सकता है । दोना अगो में सहयाग के बने रहने से शासन अधिक कायकुशलतापूवक चलाया जा सकता है । लेकिन अध्यक्षीय शासन म चूंकि कायपालिका एव व्यवस्थापिका में कोई सबध नही पाये जाते हैं इससे दोना में विरोधाभास एव कटुता की सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

ससदीय शासन का गुण यह भी बताया जाता है कि इसमें वकल्पिक सरकार बनाने की सुव्यवस्था होती है । यही एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें ...

कता पडने पर वकल्पिक सरकार की स्थापना की जा सकती है लेकिन अध्यक्षीय शासन में इस प्रकार की वैकल्पिक सरकार की न तो आवश्यकता ही पडती है और न ही यह सभव है क्योंकि राष्ट्रपति के अपदस्थ हो जाने पर (किसी भी कारण से महाभियोग अथवा मत्यु पर) उपराष्ट्रपति द्वारा उस पद को सभाल लिया जाता है।

ससदीय शासन अपेक्षाकृत लचीला होता है। अत इस दृष्टिकोण स यह कहा जाता है कि यह शासन विकासशील राष्ट्रो के लिए उपयुक्त हाता है क्योंकि उन्होंने अभी हाल ही में स्वतन्त्रता प्राप्त की है अत विकास की प्रक्रिया म होने के कारण इन देशो में मूलभूत बातो पर सहमति का अभाव पाया जाता है अत यहा अनेक बार एसी स्थिति आ जाती है कि एक ही पद (प्रधानमन्त्री के पद के लिए) के लिए एक ही दल में से अनेक दावेदार हो जाते है अत उनमें स एक को प्रधानमन्त्री तथा अन्य दावेदार अथवा दावेदारो को उपप्रधानमन्त्री बना कर स्थिति को बिगडने से बचाया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार की नम नीयता अध्यक्षीय शासन में नही पाई जाती है।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली की उपयोगिता ?

अध्यक्षीय शासन का सबसे बडा गुण है कायपालिका का स्थायित्व। काय पालिका एक निश्चित समयावधि तक अपना पद पर काय करती है। अत देश के विकास की सुव्यवस्था से योजना बनाकर विकास एव आधुनिकीकरण किया जा सकता है लेकिन, चूकि ससदात्मक शासन में कार्यपालिका का समय निश्चित नही होता है अत निश्चित समयाभाव के कारण निश्चित योजनाए नही बन पाती तथा निश्चित योजनाओ के अभाव में विकास सभव नही हो पाता है।

अध्यक्षीय शासन में शक्ति पथक्करण के माध्यम से प्रत्यक अग का काय क्षेत्र एव उत्तरदायित्व निश्चित कर दिया जाता है। सरकार के कार्यों एव प्रगति का मूल्याकन करत समय किस अग न कितना काय किया है, यह आसानी स निश्चित किया जा सकता है लेकिन ससदीय शासन में इस प्रकार का उत्तर दायित्व निर्धारित करना बहुत ही दुष्कर हाता है।

अध्यक्षीय शासन व्यवस्था युद्ध/सकटकाल परिस्थितिया के भी अनुकूल होती है क्योंकि यहा सम्पूण निणय अकेला राष्ट्रपति लेता है अत वह आसानी से निणय ले सकता है तथा शीघ्र निणय ले सकता है लेकिन ससदीय शासन में प्रधानमन्त्री की स्थिति एसी नही हाती है। वहा पर वह अकेला निणय नही ल सकता है। अत निणय जल्दी भी नही ले सकता है जबकि युद्ध आपातकालीन परिस्थितियो आदि में निणय जल्दी लिये जाने चाहियें। इसमें केवल अध्यक्षीय शासन ही सक्षम है।

इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन के गुण एव दोषा का ससदात्मक शासन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि ससदीय शासन प्रणाली की भाति अध्यक्षीय शासन प्रणाली भी प्रशसा एव आलोचना का शिकार रही है। इन दानो शासन प्रणालियो के सम्यक अध्ययन के बाद यह उभर कर सामने आती है कि क्या इन दोना शासन प्रणालिया के अतिरिक्त कोई और शासन प्रणाली नही हो सकती जिसमे दोना के गुणा को अपना लिया जाय तथा अवगुणा को अपना लिया जाए तथा अवगुणा को नीर-क्षीर विवेकी होकर छोड दिया जाय। इसके लिए हम यहा स्विस शासन व्यवस्था का ले सकत है जहा इन दोना शासन प्रणालिया के गुणा को लेने के प्रयास किय गय है।

ससदीय शासन की लोकप्रियता

आज विश्व म अध्यक्षीय शासन की अपेक्षा ससदीय शासन अधिक लोकप्रिय दिखाई देता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद जितने भी राष्ट्र स्वतन्त्र हुए उनम स अधिकाश ने ससदीय शासन को अपना शासनाधार निश्चित किया है अत इस सदभ म यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ससदीय शासन के अधिक लोकप्रिय होने के क्या कारण हैं? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर दन के लिए कोई निश्चित कारण नही बताय जा सकते लेकिन फिर भी राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानो ने अपने अपन दृष्टिकाण स इसके लिए अलग अलग कारण बताय है।

इस सन्दभ म सवप्रथम यह कहा जा सकता है कि अध्यक्षीय शासन की अपेक्षा ससदीय शासन म उत्तरदायित्वता क तत्त्व अधिक मात्रा में पाए जात है। अध्यक्षीय शासन की कायपालिका व्यवस्थापिका एव मतदाताओ क प्रति अपेक्षाकृत कम उत्तरदायी होती है जबकि ससदीय शासन म पूण उत्तरदायित्वता की स्थिति पाई जाती है। यहा तक कि यदि ससद यह दखती है कि कबिनट ठीक प्रकार से अपना उत्तरदायित्व नही निभा रहा है तो न केवल उस उसस प्रश्न पूछन एव वाद विवाद करने का ही अधिकार है अपितु उस कबिनेट को अपदस्थ करन का अधिकार भी है। उत्तरदायित्व क सिद्धान्त क कारण ही ससदीय शासन अध्यक्षीय शासन स कही अधिक लोकप्रिय रहा है क्योंकि अभी हाल ही म स्वतन्त्र हुए राष्ट्रो के समक्ष यह बहुत बडी समस्या थी कि दश म शासन प्रणाली कौन सी स्थापित की जाए तो उन्हाने यह पाया कि ससदीय शासन म शासक जनता क प्रति, तथा जनता की प्रतिनिधि सस्था क प्रति अध्यक्षीय शासन की अपक्षा कही अधिक उत्तरदायी रहता है। अत उन्ह यही शासन व्यवस्था अपनी परिस्थितियो आवश्यकताआ एव वातावरण म उचित प्रतीत हुई क्योकि उन्हान एक लम्बे सघष के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त की थी और इस स्वतन्त्रता की क किसी भी कीमत पर रक्षा करना चाहते थ तो उन्ह यह डर था कि यदि

अनुत्तरदायी शासक की शासन व्यवस्था को अंगीकार कर लिया गया तो हो सकता है कि उनकी स्वतन्त्रता ही खतरे में पड़ जाए। अत उन्होंने संसदीय शासन को ही अपेक्षाकृत उपयुक्त समझा।

इसी प्रकार इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि सरकारी नीतियों के सम्बन्ध में जनता के विचार एक से नहीं रहते हैं। समय-समय पर उनमें बदलाव एवं उतार चढ़ाव आते रहते हैं। सही मायने में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था वही है जो इन उतार चढ़ावों एवं बदलावों के अनुसार नीतियों एवं कार्यक्रमों में परिवर्तन करती रहे। संसदात्मक शासन व्यवस्था में इस उतार चढ़ावों एवं बदलावों की गुंजाइश होती है और यदि सरकार जन इच्छा के अनुसार नीतियों में परिवर्तन नहीं करे तो उसे कभी भी अपदस्थ किया जा सकता है लेकिन अध्यक्षीय शासन में सरकार चाहे जन इच्छाओं के अनुसार नीतियों एवं कार्यक्रमों में संशोधन करे या न करे, यह उस पर निर्भर करता है क्योंकि सरकार को एक निश्चित समय से पहले (महाभियोग को छोड़कर) नहीं हटाया जा सकता। संसदीय शासन की लोकप्रियता का एक अन्य कारण इसकी लोचशीलता रही है। विकासशील राष्ट्रों में जनता में मूलभूत बातों पर सहमति का अभाव पाया जाता है परिणामस्वरूप समाज में अनेक समूह बन जाते हैं तथा इन विभिन्न समूहों में आपस में मतभेद एवं टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज के इन विभिन्न समूहों के निर्माण तथा उनके आपसी मतभेद एवं टकराहटपूर्ण सम्बन्धी राजनीति में भी उभरने लगते हैं। राजनीति में भी एक ही दल में इनके गुट बन जाते हैं लेकिन संसदीय शासन में इन सभी गुटों के लोगों को संतुष्ट करने की क्षमता होती है। जो भी गुट ज्यादा शक्तिशाली हो और ज्यादा सिर उठा रहा हो तो उसके नेता को 'केबिनेट' में स्थान देकर चुप किया जा सकता है। अध्यक्षीय शासन में इस प्रकार की लोचशीलता का अभाव पाया जाता है।

इसी प्रकार चूंकि विकासशील राष्ट्रों में मूलभूत मुद्दों पर सहमति का अभाव पाया जाता है अत समाज की भांति राजनीति में भी और यहां तक कि एक ही दल में गुटबंदी हो जाती है तथा प्रधानमन्त्री पद के लिए अनेक दावेदार पैदा हो जाते हैं। संसदीय शासन में इन प्रमुख एवं शक्तिशाली दावेदारों में से किसी एक को प्रधानमन्त्री तथा शेष को उपप्रधान मन्त्री बनाकर समस्या को सुलझाया जा सकता है। उदाहरण के लिए सन् 1966 67 में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी एवं उप प्रधान मन्त्री जी देसाई बनाने में संसदीय शासन की उपादेयता देखी जा सकती है।

अत संसदीय शासन में विकासशील राष्ट्र अपनी समस्याओं का समाधान पाते हैं अत द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व में बनने वाले संविधानों में संसदीय शासन ही अधिक लोकप्रिय रहा है।

पाद टिप्पणी

1- गानर, पलिटिकल साइ स एण्ड गवनमण्ट, पृ0 296

2 वर्नें डी० वी०, एनालिसिस ऑव पॅलिटिकल सिस्टम्स, प्रूपाक, फी० प्रेस 1959, पृ0 18

3 वर्ने—पू व उद्धत

4- वहीं

अध्याय 13

बदलते हुए परिवेश और विधायिका

किसी भी सभ्य मानव समाज की सबसे बड़ी विशेषता होती है—कानूनों तथा नियमों के अनुसार शासन का संचालन। अब इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठता है कि यह कानून तथा नियम कौन बनाये? लोकतान्त्रिक देशों में यह कार्य जन प्रतिनिधि संस्था (जिसे विधायिका कहा जाता है) द्वारा किया जाता है।

यद्यपि आज संसार के प्रायः सभी भागों में वस्तुतः विधायिकाओं की शक्ति और उनका प्रभाव कम हो रहा है तथापि, कुछ राजनीतिक विचारकों का यह मत है कि यह शासन व्यवस्था का एक प्रारम्भिक और सबसे अधिक प्रभावशाली अंग है। वर्तमान काल में सभी लोकतन्त्रात्मक देशों में विधायिका ही लोकमत या राष्ट्रीय इच्छा की अभिव्यक्ति का प्रधान एवं प्रबल माध्यम है। यह शासन में सबसे अधिक लोक प्रतिनिधि संस्था होती है तथा यह ही सामूहिक रूप में जनता की ओर से बोलने का अधिकार रखती है। संसदात्मक शासन वाले देशों में विधायिका सर्वोच्च सत्तासम्पन्न होती है तथा कार्यपालिका विधायिका के अधीन व उसके प्रति उत्तरदायी होती है। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में राज्य अधिकाधिक उत्तरदायित्व सम्भाल रहा है त्यों-त्यों सरकार का विधायी अंग अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त करता जा रहा है। वास्तव में सर्वत्र विधायिकाओं के सामने कार्य की अधिकता के कारण समय का प्रायः अभाव रहने लगा है।

विधायिका के कार्य

लोकतन्त्रीय राज्यों में विधायिका के तीन प्रमुख कार्य होते हैं—विधायी विचारात्मक और करारोपण-सम्बन्धी अथवा वित्तीय नियन्त्रण। इनके अतिरिक्त

ससदात्मक शासन वाले देशो म विधायिकायें दो अय महत्वपूण काय करती हैं—सरकार के कामो पर प्रकाश डालने का काम और कायपालिका पर नियत्रण का काम । कुछ दूसरे कायपालिका सम्बधी एव याय सम्बधी कृत्य भी होते हैं जिह कुछ देशो के भीतर वहा की विधायिका म अपने सविधान के अतगत पूरा करती है जसे—सयुक्त राज्य अमेरिका म सिनेट द्वारा नियुक्तियो की पुष्टि अथवा इगलण्ड म लाडसभा द्वारा अपीलो की सुनवाई, अथवा सयुक्त राज्य अमरिका, इगलण्ड तथा भारत म यायाधीशो को उनके पद, हटाना, अथवा सयुक्त अमेरिका और भारत म कायपालिका के अध्यक्ष (राष्ट्रपति) क विरुद्ध महाभियोग की कायवाही करना ।

1 विधायिका का प्रमुख कार्य विधान बनाना है

उसका प्रमुख काय विधियो के निर्माण म सशोधन करना तथा उह रद्द करना । प्राचीन काल म विधिया वास्तव म बनाई नही जाती थी । व या तो सशोधित प्रथाए होती थी अथवा तथाकथित दैवी या होती थी प्राकृतिक विधियो की व्याख्यायें मात्र । प्राचीन काल के छोटे नगर गणराज्यो म समस्त जनता की जन-सभाए विधिया बनाती थी तथा शासन व्यवस्था का नियत्रण रखती थी । मध्यकाल म जब प्रतिनिधित्व-सस्थाओ का धीरे धीरे जम हुआ तो उनका प्रमुख काय जनता की ओर स प्रतिनिधित्व करना, उनकी शिकायतो और कठिनाईयो को अभिव्यक्त करना तथा शासको को सहायता, परामश व समथन देना था । उस समय विधिया प्रभुताधारी के आदेश मात्र होती थी । आधुनिक लोकतत्रीय राज्यो म ही पहली बार विधायिकाओ को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त हुई है । यह सत्य है कि अपवाद के तौर पर अध्यादेशो के रूप म अभी तक विधिया कायपालिका द्वारा बनाई जाती हैं अथवा न्यायाधीश विधियो को अलग अलग मुकदमों म लागू करते समय तथा उनकी व्याख्या करते समय किंचित मात्रा म उनम कुछ अ श अपनी ओर से जोड देते हैं तथापि आज विधि निर्माण का प्रमुख काय विधायिका द्वारा ही सम्पन किया जाता है । नगरीकरण, औद्योगिकरण, तथा यत्रीकरण के कारण एव राज्य द्वारा सामाजिक काय के एक विस्तृत क्षेत्र को अपना लेने के कारण विधि निर्माण के काय की मात्रा और जटिलता दोनो म बहुत वद्धि हो गई है। यही कारण है कि वास्तविक रूप म तकनीकी जानकारिया देने का काम सरकार विभागो के भीतर काम करने वाले विशपज्ञो या विशेषज्ञ समितियो को सौंप दिया जाता है । विधायिका विधियो म निहित नीतियो को स्वीकृति प्रदान करने, प्रमुख सिद्धातो पर चर्चा करने तथा जनता के साधारण व विशिष्ट हितो की रक्षा करने तक ही अपने आप को सीमित रखती है । विधायिका के साधारण सदस्य की शक्ति व उसक प्रभाव के ह्रास के कारणो म से यह भी

एक कारण है। उसकी स्थिति को कमजोर बनाने वाला एक तत्व यह है कि निर्वाचन लडने में एक ओर तो खर्च एवं कठिनाई में वृद्धि होती है जा रही है दूसरी ओर राजनीतिक दलों की शक्ति बढती जा रही है, उनका संगठन दृढतर होता जा रहा है एवं वे विधायिका के सदस्यों पर कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण का प्रयोग करने लगे है। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक विकास के कारण राजनीतिक नेताओं को लोक सम्पर्क के जो अवसर उपलब्ध हो गये हैं—जैसे वायुयान, रेडियो व प्रेस (समाचार-पत्र) उन्होंने असंदिग्ध रूप मे विधायिका की शक्ति व उसके प्रभाव में कमी कर दी है। इनके द्वारा यह सम्भव हो गया है कि नेता लोग सीधे जनता के पास पहुच कर उससे अपील कर सकते है। इस प्रकार होने वाली जागति के कारण जनता लोकतन्त्र के प्रत्यक्ष साधना—प्रेषण उसके एक विशिष्ट रूप मे लोकनिर्णय, अभिक्रम तथा प्रत्यावर्तन के अधिकाधिक प्रयोग की माग करने लगी है।

2 विधायिका का दूसरा कार्य विचारात्मक है

विधायिका जनता की आवश्यकताओं व समस्याओं पर विचार करती है। यह कार्य अनेक प्रकार के प्रस्तावों के द्वारा पूरा किया जाता है। लोकतन्त्र चर्चा, वाद विवाद और मतदान की रीतियों को प्रयोग में लाता है तथा विधायिका उसका प्रधान मच है। विधायिका के प्रत्येक सदन के अपने प्रक्रिया के नियम होते हैं तथा उसके सभापति का जिसे सामान्यत लोक निर्वाचित सदन में अध्यक्ष कहा जाता है, यह कर्तव्य होता है कि वह सदस्यों से उन नियमों का पालन कराए तथा तथा वहां सभ्यता, प्रतिष्ठा और क्षमता के साथ कार्य कराए। विधायिका द्वारा पारित प्रस्ताव सरकार के लिए बाध्यकारी नहीं होते, वे सिफारिश के रूप में होते हैं परन्तु क्योंकि वे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा पारित किय जाते हैं अत उनका महत्व बहुत अधिक होता है तथा सम्बन्धित सरकार उन पर पूरी तरह विचार करती है।

3 वित्त का नियन्त्रण

विधायिका का तीसरा काम राज्य के वित्त का नियन्त्रण करना है। इंगलैंड के भीतर प्रारम्भ मे सम्राट जनता के प्रतिनिधियों से करों की स्वीकृति लेने के लिए ही संसद की बैठक बुलाया करता था। धीरे धीरे यह सिद्धान्त सारे संसार में मान्य हो गया। इस सिद्धान्त का हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं "प्रतिनिधित्व के बिना करारोपण नहीं"—करारोपण (कर लगाना) जनता के प्रतिनिधियों का विशेषाधिकार है। इसी प्रकार सभी लोकतन्त्रात्मक राज्यों में यह नियम भली प्रकार स्थिर हो चुका है कि राष्ट्रीय संचित निधि में से विनि

योग अधिनियम के द्वारा जनता प्रतिनिधियों की स्पष्ट स्वीकृति लिए बिना न तो कोई धन निकाला ही जा सकता है न उसे व्यय किया जा सकता है। सार्वजनिक धन के हिसाब-किताब को भली प्रकार रखने व उसकी जांच के लिए एक अनुभवी नियंत्रण महालेखा परीक्षक की नियुक्ति (ऊंचे वेतन पर) की जाती है जो कि सरकार के दबाव से मुक्त होता है यह उसका कार्य है कि वह यह देखे कि सरकार संसद द्वारा पारित आय व्यय के अनुसार काम करे। महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन (रिपोर्ट) बहुत महत्वपूर्ण संसदीय-आलेख होता है तथा संसद की लोक वित्त समिति द्वारा उसकी जांच पड़ताल संसद के काम का एक महत्वपूर्ण अंग है।

4 प्रश्न पूछने का अधिकार

संसदात्मक शासन-व्यवस्था वाले देशों में विधायिका का चौथा कार्य सरकार के कार्यों को प्रकाश में लाना है। संसदात्मक-राज्यों में विधायिका के सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार होता है ये प्रश्न इस उद्देश्य से पूछे जाते हैं जिससे कि सरकार और उसके विविध विभागों के कार्य व्यवहार के बारे में जानकारी प्राप्त हो सके और उसके द्वारा प्रशासन की कमियां प्रकाश में लाई जा सकें और इसी प्रकार जनता की शिकायतें और उसकी कठिनाईयां भी प्रकाश में लाई जाती हैं। प्रत्येक बैठक का पहला घंटा साधारणतः प्रश्न पूछने और उत्तर देने के लिए सुरक्षित रखा जाता है। इस कठोर परीक्षा में सफल होने के लिए किसी मन्त्री का जहाँ अपने विभाग के कार्य कलाप के बारे में व्यापक जानकारी होनी चाहिए वहीं उसके भीतर पर्याप्त चतुरता, सूझबूझ जागरूकता, शालीनता और चतुरतापूर्वक प्रत्युत्तर देने की कुशल बुद्धि भी होनी चाहिए।

संसदात्मक लोकतन्त्र में प्रश्न पूछने का यह अधिकार बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। यह सरकार की ईमानदारी और कार्यक्षमता स्तर पर बनाए रखती है। यह संसद के सदस्यों और उनके निर्वाचन-क्षेत्रों तथा सरकार और जनता के बीच सजीव सम्पर्क का निर्माण करने में सहायक होता है। यह सरकार को एक बहुमूल्य अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी नीतियों तथा सरकारी विभागों की कार्य-पद्धति के बारे में लोकमत को आंक सके।

5 कार्यपालिका पर नियन्त्रण

संसदात्मक-पद्धति में विधायिका का पांचवां कार्य कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखना है। संसदात्मक पद्धति के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल के भीतर संसद के वे सदस्य होते हैं जो संसद के भीतर एक बहुमत प्राप्त दल अथवा दलों के समूह के सदस्य भी होते हैं तथा वे सरकार के समस्त कार्यों के लिए संसद के सामने उत्तरदायी

होते है। यह उत्तरदायित्व अनिवार्यत सामूहिक होता है।

स सद प्रश्नो, स्थगन प्रस्तावो व अविश्वास के प्रस्तावों के द्वारा कार्यपालिका पर निय त्रण रखती है। यदि स सद म सरकार किसी ऐसे महत्वपूर्ण है प्रश्न जम कि सरकार द्वारा प्रस्तुत किसी विधेयक अथवा धन सम्बन्धी किसी प्रस्ताव या माग पर हार जाय तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि स सद का बहुमत मन्त्रि-मण्डल म विश्वास नही रखता है, अत मन्त्रिमण्डल को त्याग दे देना चाहिए।

मन्त्रिमण्डल को सीधे तौर पर अविश्वास क प्रस्ताव द्वारा भी हटाया जा सकता है। स सदात्मक शासन प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक कि उसे विधायिका का विश्वास प्राप्त रहता है। अर्थात् जब तक उसमे मन्त्रिमण्डल का बहुमत बना रहता है। अनेक राज्यो म बहुमत को सुरक्षित रखने के लिए वर्तमान काल म दलीय स गठन व अनुशासन को दृढ बनाया गया है। स सद के भीतर बहुमत दल एक व्यापक सगठन बनाए रखता है जिसका निय त्रण मुख्य सचेतक करता है। मुख्य सचेतक का यह कत्त व्य है कि वह वह दूसरे सचेतको की सहायता से इस बात का ध्यान रखें जिम ससद के भीतर सदा और विशेषत मतदान के समय मन्त्रिमण्डल को बहुमत प्राप्त हो।

द्विसदनात्मक प्रणाली

वर्तमान विश्व म पायी जाने वाली विधायिकाओ का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि आज दो प्रकार की विधायिकायें दृष्टिगोचर होती हैं। विधायिका म या तो एक सदन होता है अथवा दो सदन। प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था क प्रारम्भ म अधिकाश देशो म एक सदनीय विधायिका ही थी परन्तु कालान्तर म यह अनुभव किया गया कि प्रथम सदन की शक्ति पर अकुश रखने और प्रथम सदन द्वारा किये गय कार्यों पर पुनर्विचार करने क लिए विधायिका के दो सदन होने चाहिय।

अपने विकास के क्रम म ब्रिटिश ससद एक द्विसदनात्मक विधायिका क रूप म विकसित हुई, उसके इस द्विसदनात्मक स्वरूप को उन देशो ने भी अपना लिया जिन्होने ब्रिटिश पद्धति का अनुकरण किया है। सयुक्त राज्य अमेरिका म छोटे व बडे राज्यो को उचित प्रतिनिधित्व देने के प्रश्न पर उत्पन्न गतिरोध का दूर करने के लिए द्विसदनात्मक विधायिका की रचना की गई है। उस समय से द्विसदनात्मक प्रणाली को सघीय राज्य का एक अनिवार्य लक्षण तथा राज्यो को एक इकाई क रूप मे प्रतिनिधित्व देने व उनके हितों की रक्षा करने का एक प्रमुख साधन माना जाने लगा। 19 वी शताब्दी म द्विसदनात्मक प्रणाली को शुद्ध-सावतन्त्र के विरुद्ध एक सरक्षण के रूप मे आवश्यक समझा जाता था तथा अभी तक यह धारणा प्रचलित है कि एकसदनात्मक विधायिका

की अपेक्षा द्विसदनात्मक विधायिका का निर्माण करना अधिक सुरक्षित और बुद्धिमत्तापूर्ण है। द्विसदनात्मक प्रणाली के व्यावहारिक अनुभव यद्यपि दुखद और कटु रहे हैं सन्तोषजनक द्वितीय सदन की रचना में अनेक कठिनाईयां अनुभव की गई हैं एवं पिछले पचास वर्षों में इस व्यवस्था में अनेक सांविधानिक परिवर्तन हो गए है तथापि यह प्रणाली अभी तक टिकी हुई है। इतना ही नहीं द्विसदनात्मक और एकसदनात्मक विधायिकाओं के अध्ययन का विषय आज राजनीति विज्ञान मे सबसे अधिक विवादग्रस्त विषयों में से एक है। यह स्थिति तब तक जारी रहेगी जब तक कि संविधान निर्माताओं को लोकतन्त्र में और अधिक विश्वास नहीं हो जाता अथवा जब तक वर्ग विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती।

द्विसदनात्मक प्रणाली के समर्थक द्वितीय सदन के प्रमुख गुणों का वर्णन इस प्रकार करते है। उनकी धारणा है कि एक लोक निर्वाचित सदन द्वारा पारित विधान "जल्दी में बनाया गया, अविवेक पूर्ण, अविचारित" होता है। यह मान लिया गया है कि निर्वाचित प्रतिनिधि अपरिपक्व बुद्धि वाले, अविवेकपूर्ण शीघ्र उत्तेजित हो जाने वाले और अधीन होते है, अर्थात वे लोग विधायक होने योग्य ही नहीं होते, अथवा कार्य की अधिकता के कारण उन्हे शीघ्रता रहती है तथा वे जनता के जीवन को प्रभावित करने वाली अनेक समस्याओं पर पर्याप्त चिन्तन और विचार के लिए समय नहीं दे पाते। इस प्रकार का चिन्तन भ्रम-मूलक है।

वास्तव में विधायिकाओं के निर्वाचित सदस्य कुल मिलाकर योग्य और उत्तरदायी व्यक्ति होते हैं तथा प्रत्येक लोक निर्वाचित सदन में विधायी प्रक्रिया के विस्तृत नियम होते हैं जिनके कारण प्रस्थापनाओं पर सावधानी के साथ एवं विस्तारपूर्वक विचार विमर्श करना अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते हैं तथा अधिकांश मामलों में समिति अवस्था भी विद्यमान है। सम्पूर्ण सदन विधेयक की प्रत्येक धारा पर क्रमश विचार करता है। इस प्रकार इस धारणा मे कोई सार नहीं है। वास्तविक तथ्य यह है कि यह आलोचना उन लोगों ने आरम्भ की थी जो साधारण मनुष्य को मतदान का अधिकार देने में विश्वास नहीं रखते थे तथा जिन्हे साधारण नागरिक की इस योग्यता में विश्वास नहीं था कि वह योग्य प्रतिनिधियों को निर्वाचित कर भी सकेगा।

दूसरे कुछ लोगों को यह भय है कि यदि विधायिका में एक सदन होगा तो वह बहुत अधिक स्वेच्छाचारी और निरकुश हो जायेगा अत यह आवश्यक हो जाता है कि लोक निर्वाचित सदन पर अवरोध लगाने के लिए एक द्वितीय सदन

होना चाहिए। इस विचार का प्रतिपादन करने वालो में लार्ड ब्राइस भी एक है।

उन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका सरीखे अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त बहुत अधिक विश्वास था। यह व्यवस्था कार्य की तीव्रता की अपेक्षा सुरक्षा का निर्माण करती है परन्तु ऐसी व्यवस्था देरी और गतिरोध भी उत्पन्न करती है एवं बहुत खर्चीली होती है। इसके विपरीत द्वितीय सदन के होने के कारण प्रथम सदन कुछ अनुत्तरदायी और असावधान हो सकता है। विधेयकों पर विचार करते समय उसके भीतर यह अचेतन भावना रह जाती है कि उसके द्वारा पारित विधेयक में कुछ भूलें और कमियां रह जायेंगी तो उन्हें द्वितीय सदन में सुधार दिया जायेगा।

तीसरे, यह तर्क दिया जाता है कि द्वितीय सदनों के द्वारा अल्पसंख्यकों तथा विविध व्यावसायिक व औद्योगिक हितों को अधिक अच्छी प्रकार प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सकता है एवं कुछ ऐसे प्रतिभाशाली व सुप्रसिद्ध व्यक्तियों को द्वितीय सदन में मनोनीत करके उनकी सेवायें विधायी कार्य के लिये उपलब्ध की जा सकती है जो कि निर्वाचन के कष्ट और झंझट का सामना के प्रति अनिच्छुक हों। यह सब सत्य हो सकता है परन्तु यह भी सत्य है कि प्रतिनिधित्व के प्रभावी होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिनिधित्व एक ही स्थान पर हो क्योंकि यदि भिन्न रीतियों से संगठित दो सदनों में किसी प्रश्न पर सहमति न होने पाए तो उस स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि किस सदन को झुकना चाहिए। लोकतन्त्र में यह बात निर्विवाद है कि अन्ततः जनता द्वारा निर्वाचित सदन का मत ही मान्य होना चाहिये।

चौथे यह कहा जाता है कि वर्तमानकाल में विधायिका पर कार्य का दबाव बहुत अधिक बढ़ गया है तथा यदि विधायिका में द्वितीय सदन हो तो प्रथम सदन के कार्यभार को बड़ी सीमा तक कम कर सकता है। अविवादास्पद विधेयक पहले द्वितीय सदन के सामने विचारार्थ रखा जा सकता है। उसके पश्चात उस विधेयक पर प्रथम सदन को अधिक समय तक विचार करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह सम्भव तो है परन्तु केवल इस सीमित उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही एक खर्चीले द्वितीय सदन के निर्माण का समर्थन कोई नहीं करना चाहेगा। इसके अतिरिक्त जहां तक लोक निर्वाचित सदन के समय का प्रश्न है उसको दूसरी रीतियों से भी बचाया जा सकता है जैसे कि विधायी कार्यों की पूर्ति के लिये समितियों का अधिकाधिक प्रयोग करके।

पांचवे, यह माना गया है कि चाहे लोक निर्वाचित सदन ने कितनी भी कुशलता के साथ कार्य किया हो उसके कार्य पर पुनर्विचार की आवश्यकता सदा ही बनी रहती है। यहां भी वही प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या द्वितीय

सदन केवल पुनर्विचार के काम के लिये एक भारी-भरकम और खर्चीली योजना का अगमान नहीं है ?

अनुभव के आधार पर आमतौर पर यह स्वीकारा जाने लगा है कि विधि-निर्माण के कार्य को दो स्तरो पर सुधारा जा सकता है—पहले, प्रारूप निर्माण करते समय, इस प्रयोजन के लिये समुचित विशेषज्ञो की सेवायें ली जा सकती हैं दूसरे, समिति अवस्था मे जबकि सिद्धा ता को स्वीकार किये जाने के बाद प्रस्थापना किसी स्थायी अथवा विशिष्ट समिति के पास विस्तत जाच के लिये भेजी जाती है। इस सम्बन्ध मे यह सुझाव भी प्राप्त हुआ है कि स्थायी अथवा विशिष्ट समिति के काय मे सहायता करने के लिए उसके भीतर एक या दो विशेषज्ञो का सहवरण करने के बारे म व्यवस्था की जानी चाहिए। इस बारे म एक दूसरा सुझाव यह है कि विशिष्ट समिति को यह शक्ति दी जानी चाहिये कि वह गवाही ले सके और किसी प्रस्थापना द्वारा प्रभावित होने वाले विशेष वर्गों के प्रतिनिधियो के पक्ष को सुन सके। निजी विधेयको के बारे मे इगलैंड मे यही रीति अपनाई जाती है। इससे समिति को यह अवसर मिलेगा कि यदि उसकी दृष्टि मे विशेष वर्गों की आवश्यकतायें सावजनिक हित के विरुद्ध न हो तो वह विधेयक को उनके अनुकूल बनाने के लिए उसे सशोधित कर सके। इस प्रकार "यह योजना देश की समूची जनता को विधि निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था म भाग लेने का अवसर दे सकेगी।" (यह विचार राष्ट्रपति लॉवेल ने अपने ग्रथ 'पब्लिक ऑपिनियन ऐण्ड पापुलर गवनमन्ट' के पृष्ठ 252 मे प्रकट किया है) इससे यह निष्कष निकाला जा सकता है कि विधान को दोहराने या उसके सुधारने के लिए द्वितीय सदन की कोई आवश्यकता नही है।

छठे, ब्राइस समिति ने हाऊस ऑव लाडस के बारे मे एक विचित्र तक प्रस्तुत किया है। वे कहते है कि आधुनिक लोकतन्त्रात्मक देशो म द्वितीय सदन का प्रधान काय यह होना चाहिये कि वह विधि निर्माण म केवल उतनी देर लगाये जितनी कि प्रथम अथवा लोक निर्वाचित सदन द्वारा पारित किसी विधेयक पर लोकमत जागृत करने के लिये पर्याप्त हो। इस बारे मे यह कहा जा सकता है कि द्वितीय सदन निश्चित रूप से इस काय को पूरा करने मे सवथा असमर्थ रहता है। कुछ देशों में द्वितीय सदनो के बारे मे ऐसा अनुभव सामने आया है कि उन्होंने प्रगतिशील प्रस्थापनाओ पर अपनी असहमति प्रकट करके लोकमत को अवरुद्ध करने की चेष्टा की है। यदि ऐसा लगे कि किसी विधायी-सदन का कायकाल इतना दीघ है कि वह लोकमत के सम्पक म नही रह पाता तो उसका सही इलाज यह है कि उसके कायकाल को कम कर दिया जाये। इस कठिनाई को दूर करने का दूसरा माग यह हो सकता है कि सदन को भग करने की माग की जाय या अनिवार्य प्रेषण अथवा कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रस्थापनाओ को लोकमत जानन

के लिये जनता के सामने रखने की अनिवार्य व्यवस्था कर दी जाये।

अन्त में, यह माना जाता है कि संघ के भीतर सम्मिलित राज्यों को राज्यों या स्वायत्त इकाईयों के रूप में प्रतिनिधित्व देने उनके अस्तित्व को बनाये रखने और उनके हितों के संरक्षण के लिये द्वितीय सदन अनिवार्य है। इस बारे में सही तथ्य यह है कि 1887 के फिलाडेल्फिया सम्मेलन में राष्ट्रीय हित और राज्यों के हितों के मध्य सामंजस्य उत्पन्न करने और छोटे छोटे राज्यों को भी प्रतिनिधित्व देने की इस रीति का अन्वेषण किया गया था। उस समय के पश्चात किसी भी संघ का निर्माण ऐसे द्वितीय सदन के बिना नहीं किया गया है जिसमें राज्यों को एक इकाई के रूप में प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता है। संघों के भीतर द्वितीय सदनों के हितों के संरक्षण के लिए न तो द्वितीय सदन अपरिहार्य ही सिद्ध हुआ है और न सहायक ही, तथापि विशेषतः छोटे राज्य द्वितीय सदन को भंग किये जाने के पक्ष में नहीं है।

संघ के समस्त राज्यों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व देने का जो सिद्धान्त संयुक्त राज्य अमेरिका और आस्ट्रेलिया में स्वीकार किया गया था उसे दूसरे संघीय राज्यों में अविकल रूप में लागू नहीं किया गया है। कैनेडा और भारत दोनों संघों में राज्यों को द्वितीय सदनों में असमान प्रतिनिधित्व दिया गया है। कुछ देशों में, उदाहरण के लिये आस्ट्रेलिया को ही लें यह देखा गया है कि द्वितीय सदन में राज्यों का एक इकाई के रूप में प्रतिनिधित्व होने के कारण दलीय नियन्त्रण अधिक कड़ा रहता है और द्वितीय सदन व्यावहारिक तौर पर प्रथम सदन की अपेक्षा अधिक राष्ट्रवादी होता है एवं राज्यों के पृथक हितों की रक्षा के बजाय वह संघीय क्षेत्र के विस्तार का प्रायः समर्थन करता है। इसके साथ ही जैसाकि पहले कहा गया है संघों में द्वितीय-सदन के पक्ष में इतनी तीव्र संवेदनशीलता विद्यमान है कि यह सम्भव ही नहीं दिखाई देता कि निकट भविष्य में कोई भी संघ द्वितीय सदन के बिना बन सकेगा। भारत में यह विचार पनप रहा है कि राज्यों के विधानमण्डलों में द्वितीय सदन अनावश्यक है एवं जहां कहीं भी वे पाए जाते हैं उन्हें समाप्त किया जाना चाहिये।

द्वितीय-सदनों के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जाते हैं सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि वे अनावश्यक तथा व्यर्थ के भार ढोते हैं। एब्बेसीज ने द्वितीय सदन की उपयोगिता पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"यदि द्वितीय सदन लोक प्रतिनिधि सदन से सहमत हो जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसका कोई उपयोग नहीं है और यदि वह उससे असहमत हो तो यह माना जायेगा कि वह कठिनाई पैदा करने वाला (शरारती) सदन है।'

द्वितीय शासन-व्यवस्था में द्वितीय-सदन एक प्रकार से गाड़ी में "पांचवें पहिये" के जैसा है जो कि अनावश्यक रूप से देरी लगाता है तथा प्रगतिशील

प्रस्थापनाओं को कुचल देता है। अनेक दशा में द्वितीय सदन 'प्रतिक्रियावाद का गढ़' सिद्ध हुआ है। द्वितीय सदनों ने सदा प्रतिनिधि सदनों द्वारा पारित प्रस्थापनाओं में निहित लोकमत को अवरुद्ध करने की चेष्टा की है।

तृतीय द्वितीय सदन पर व्यय होने वाली राशि को जनता के कल्याण के कार्यों पर अधिक उपयोगितापूर्वक व्यय किया जा सकता है एवं अल्पसंख्यकों के हितों का द्वितीय सदनों में विशेष प्रतिनिधित्व के स्थान पर मौलिक अधिकारों के द्वारा सुरक्षित किया जा सकता है।

सारे प्रयत्नों के बावजूद यह सम्भव नहीं हो सका है कि एक ऐसा द्वितीय सदन बनाया जा सके जो प्रथम सदन का प्रतिस्पर्द्धी मात्र सिद्ध न हो तथा जो प्रतिनिधि-सदन द्वारा निर्धारित नीति को निष्ठापूर्वक स्वीकार भी कर ले। वे प्रायः राजनीतिक या सार्वजनिक विवादों में पड़ जाते हैं तथा अपने आपको केवल पुनर्विचार सम्बन्धी कार्य तथा विवादरहित प्रस्थापनाओं पर विचार करने तक ही सीमित नहीं रखते। अभी तक जितने प्रकार के द्वितीय सदनों की रचना हुई है उनमें से नार्वेजियन विधायिका के तथा कथित द्वितीय सदन की अपेक्षा एक स्थाई या विशिष्ट समिति के अधिक समान है। इसी कारण पीछे हमने यह सुझाव दिया है कि द्वितीय सदन से जिस प्रयोजन की पूर्ति की आशा की गई, उसे विशिष्ट समितियों के कार्य में सुधार करके, उसमें एक या अधिक विशेषज्ञ सम्मिलित करके और उन्हें अधिक शक्तियां देकर अधिक भली प्रकार किया जा सकता है।

विधायिकाओं की वर्तमान स्थिति

जिस प्रकार बीसवीं शताब्दी में और विशेषकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक विज्ञानों की दुनिया में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं उसी प्रकार राजनीति विज्ञान का क्षेत्र भी इन परिवर्तनों से अछूता नहीं रहा है। राजनीति विज्ञान की अनेक परम्परागत मान्यताएं एवम् मूल्य अभी नई करवटें ले रहे हैं। परम्परागत अवधारणाओं के स्थान पर नवीन अवधारणाएं उभर रही हैं। इसी श्रृंखला में एक अन्य नवीन प्रवृत्ति उभरी है वह है विधायिकाओं की शक्तियों में कमी होना। लार्ड ब्राइस की एवम् के० सी० व्हीयर दोनों का कहना है कि आज विधायिकाओं की शक्तियों का ह्रास हो रहा है। विधायिकाओं की शक्तियां कम हो रही हैं अथवा विधायिकाओं का पतन हो रहा है। इनका कहना है कि आज संसदों का पतन हो रहा है तथा कार्यपालिका की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। वर्तमान शताब्दी में यदि विधायिकाओं की शक्तियों तथा कार्य प्रणाली का अध्ययन किया जाय तो कुछ अपवादों को छोड़कर यही स्पष्ट होगा कि विधायिकाओं की विशेषकर कार्यपालिका की शक्तियों के सन्दर्भ में इनकी अवस्था में काफी अवनति हुई है। के० सी० व्हीयर का कहना है कि

यद्यपि सख्या की दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियाँ बढ़ी हैं परन्तु कार्यपालिका की तुलना में उसकी शक्तियाँ बहुत घटी हैं इस सन्दर्भ में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसे कौन से कारण हैं जिन्होंने व्यवस्थापिका की शक्तियों को कम कर दिया है? लार्ड ब्राइस एवम के० सी० व्हीरे ने विधायिका के पतन के लिए निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी ठहराया है—

1 अनुशासन राजनीतिक दलीय व्यवस्था

सगठित राजव्यवस्था ने एक ओर जहाँ कार्यपालिका की शक्तियों को बढ़ाया है वहीं दूसरी ओर उसने व्यवस्थापिका की शक्तियों को घटाया है। ससदीय शासन में दलीय अनुशासन के बल पर केबिनट जैसा ससद से चाहता है करवा लेता है और यदि ससद ऐसा करने से मना करे तो उसे विघटित करने की धमकी देकर अभिष्ट कार्य करवाया जा सकता है। अध्यक्षीय शासन में भी जब राष्ट्रपति के दल का कांग्रेस में बहुमत हो तो जैसा राष्ट्रपति चाहता है, वैसा ही कांग्रेस से करवा लेता है। अतः एलेन बाल का कहना है कि "बीसवीं शताब्दी में अनुशासित दलों, कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्तियों तथा उसके बढ़ते हुए क्षेत्र ने विधायिकाओं का पतन कर दिया है। विधायिका की शक्तियों को कार्यपालिका ने सही अर्थों में राजनीतिक दलों के माध्यम से छीना है। दल के समर्थन के आधार पर कार्यपालिकायें विधायिकाओं से सब कुछ करा लेती हैं।

2 हस्तान्तरित विधायन का दुष्प्रभाव

के० सी० व्हीरे का कहना है कि हस्तान्तरित विधायन की परम्परा ने भी विधायिकाओं का पतन कर दिया है। मूलतः विधायिकाओं का कार्य नीति निर्माण एवम नियम निर्माण करना था। नीति निर्माण एवम नियम निर्माण के लिए पर्याप्त विशेषज्ञता एवम समय की प्रचुरता का होना आवश्यक होता है लेकिन चूँकि ससद-सदस्य निर्वाचन प्रक्रिया के माध्यम से ससद में आते हैं जिनके लिए किसी विषय विशेष का ज्ञान आवश्यक नहीं होता है। इसके साथ ही आज लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने विधायिकाओं के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी है। अतः समय की अल्पता एवम कार्यभार की अधिकता तथा विशेषज्ञों का अभाव आदि कुछ ऐसे कारक हैं जिन्होंने विधायिका के लिए यह आवश्यक कर दिया है कि वह अपनी नियम निर्माण सम्बन्धी शक्ति कार्यपालिका को हस्तान्तरित करदे। वास्तव में विधायिका बाध्य होकर नियम निर्माण (विधायन) सम्बन्धी शक्ति कार्यपालिका को हस्तान्तरित करती रही अतः विधायिका का एकमात्र कार्य था नियम निर्माण (विधायन) पर भी उसका कार्य

6 आपात्काल और ससद

इसी प्रकार आपात्काल एवम सकट कालो ने भी विधायिका का पतन किया है और कार्यपालिका की शक्तियो का बढाया है। जब जब भी देश पर सकट काल के बादल मण्डराते है तब तब ही देश की सम्पूर्ण जनता देश के नेतत्व की ओर आशाभरी नजरो से देखती है। इस स कट की घडी से यदि नेतृत्व उबरता है तो जनता उसके सम्मान मे अपनी पलकें बिछा देती है अन्यथा उस जनता का कोप भाजन होना पडता है। अत चू कि कार्यपालक जनता को स कट स उबरता है अत सारे महत्वपूर्ण निर्णय लेने मे कार्यपालिका स्वतन्त्र होती है। विधायिका उसके मार्ग मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नही करती है। इसके अतिरिक्त चू कि, कार्यपालिका की स कट के समय महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है अत जनता की कार्यपालिका के प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति भी लगा देती है।

इस प्रकार उपरोक्त अनेक कारणो का सम्यक् अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि आज विधायिकायें उतनी सक्षम् शक्तिशाली एवम् प्रभावी नहीं रही हैं जितनी कि पहले थी। आज उसकी बहुत सारी शक्तियाँ कार्यपालिका द्वारा छीन ली गयी हैं।

पाद टिप्पणी

1- स्ट्राँग सी एफ, माडर्न पॉलिटिकल कान्स्टीट्यूशन्स, लन्दन सिजविक एण्ड जेकसन, 1972, पृ 210

2- गुरुमुख निहाल सिंह, राजनीति विज्ञान एवम् संगठन के मूल सिद्धान्त किताब महल, इलाहाबाद, पृ 280

3- वही,

4- आर्शीवादम राजनीति विज्ञान, अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लखनऊ, 420

5- इकबाल नारायण, राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, रतन प्रकाश मन्दिर आगरा, 1974

6 लार्ड ब्राइस माडर्न डिमोक्रेसीज, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लन्दन 1923

7- व्हीयर के सी लेजिस्लेचर्स न्यूयार्क ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रस, 1963, पृ 221

8 वही

9 वही

10- वही

11- वही

कार्यपालिका

सरकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है—कार्यपालिका। प्रारम्भ से ही सरकार के इस अंग का समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल में कार्यपालिका (शासनाध्यक्ष) ही सर्वेसर्वा होती थी। सम्पूर्ण शासन कार्यों नीति निर्माण नीति क्रियान्वित तथा न्यायिक कार्य आदि सभी का संचालन कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता था लेकिन प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था के प्रादुर्भाव के बाद सरकारी कार्यों को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त तीन अंगों को सौंप दिये गए हैं। विधायिका, जैसा कि कहा जा चुका है विधायन सम्बन्धित कार्यों का संचालन करती है। कार्यपालन सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन कार्यपालिका का उत्तरदायित्व है तथा न्यायिक कार्य न्यायपालिका द्वारा पूरे किये जाते हैं जिन पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

कार्यपालिका के प्रकार

1. एकल कार्यपालिका—संगठन की दृष्टि से अनेक प्रकार की—एकल, [illegible] हारी एवं बहुल कार्यपालिकायें हमारे समक्ष आती हैं। एकल कार्यपालिका से तात्पर्य है जहाँ शासन संचालन की सम्पूर्ण शक्तियाँ (औपचारिक अनौपचारिक दोनों) कार्यपालिका के हाथों में केन्द्रित हों।

उदाहरणार्थ [illegible] में सम्पूर्ण कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ [illegible] में निहित हैं।

2. दोहरी कार्यपालिका—इस [illegible] [illegible] की [illegible] को रखा जा सकता है जहाँ [illegible] [illegible] दिया गया है [illegible] [illegible]

राज्यो म सामायत युद्ध की घोषणा ससद द्वारा या ससद की सहमति स की जाती है। राज्य भूमि के हस्ततारण दूसर राज्य को भूभाग देने अथवा छाट से भूभाग क आदान प्रदान के लिये साधारणतया विधायिका की सहमति अनिवाय होनी ह।

2 सैनिक मामले

समस्त देशो मे कायपालिका का अध्यक्ष ही राज्य की सशस्त्र जल, थल एव नभ सनाओ का सर्वोच्च सनापति भी होता ह तथापि उसस साधारणत यह अपेक्षा नही की जाती कि वह युद्ध अथवा अन्य किसी सैनिक कायवाही क समय वस्तुत युद्धक्षेत्र मे जाकर सेनाओ का मागदशन करेगा। सना पर सर्वोच्च अधिकार के द्वारा कायपालिका को सेना के सगठन बल और शास्त्रो पर नियन्त्रण रखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है तथा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सकती है। लोकतन्त्रात्मक देशो मे सशस्त्र सनाओ की सख्या एव उनके सगठन के विषय म कायपालिका को विधायिका की स्वीकृति प्राप्त करना अनिवाय होता है तथा प्रतिरक्षा-व्यय की स्वीकृति भी विधायिका के ही नियन्त्रण म रहती है। सभी महत्वपूण नियुक्तिया जिनमे तीनो सेनाओ क सनापतियो की नियुक्ति भी शामिल है कायपालिका द्वारा की जाती है। युद्ध की घोषणा सामान्यत विधायिका करती है परन्तु ग्रेट ब्रिटेन एव अधिनायकवादी देशो मे कायपालिका को ही युद्ध की घोषणा करने की सत्ता प्राप्त ह।

युद्ध के समय कायपालिका की शक्तियो मे विस्तत वद्धि कर दी जाती है तथा उस इस प्रकार की शक्तिया प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार की शक्तिया अधिनायकवादी देशो के पास होती है लोकतन्त्रात्मक देशो म भी आधुनिक युद्ध के कारण यह आवश्यक हो गया है कि कायपालिका अग के हाथ म कवल युद्ध के सनिक एव नौ-सनिक पक्ष तथा भूमि के सामरिक स्थिति पर ही नियन्त्रण की शक्ति नही वरन कच्चे माल के बारे म निणय करने, आवश्यक पदार्थों अथवा उपभोग के समस्त पदार्थों क उत्पादन तथा उनके मूल्य एव उपभोग की मात्रा क बारे म अन्तिम निणय करने की शक्ति भी दी जाए।

आन्तरिक शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना क लिय कायपालिका के नियन्त्रण मे एक पुलिस-दल होता है परन्तु असाधारण परिस्थितियो म गम्भीर अशान्ति का दमन करन क लिय सशस्त्र सेनाओं को बुलाया जा सकता है। भारत म अनेक अवसरो पर इसका प्रयोग किया गया है विशेषत विभाजन के तुरन्त पहले तथा पश्चात जब भारत एव पाकिस्तान म साम्प्रदायिक दगे फूट पडे थे तथा उनके परिणामस्वरूप एक भाग स दूसर भाग म बडे पैमाने पर जनता का आवागमन हुआ था।

दूसरी वास्तविक कार्यपालिका सम्पूर्ण शासन का संचालन नाममात्र की कार्यपालिका के नाम पर वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। ब्रिटेन भारत आदि देशों की कार्यपालिकाओं को इसी श्रेणी में रखा जाता है।

2 बहुल कार्यपालिका—बहुल कार्यपालिका से तात्पर्य है—कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर व्यक्तियों के एक समुदाय में निहित होती है। वर्तमान काल में सोवियत रूस तथा स्विटजरलैंड में इस प्रकार की कार्यपालिकाएं अस्तित्व में हैं। जिसमें सर्वोच्च कार्यपालिका के रूप में प्रेसीडियम तथा स्विटजरलैंड में संघीय परिषद बहुल कार्यपालिका की श्रेणी में आती हैं। इसीलिए इन्हें "सामूहिक राष्ट्रपति" की संज्ञा भी दी जाती है।

कार्य

कार्यपालिका का प्रमुख कार्य विधियों, आदेशों, नियमों उपनियमों, आज्ञप्तियों आदि को प्रवर्तित (लागू) करना तथा देश की विधियों के अनुसार नित्य के प्रशासन का संचालन करना है। कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह विधि के उल्लंघन को रोके तथा उनका अतिक्रमण करने वालों को दण्ड दे। न्यायालयों द्वारा दी जाने वाली आज्ञाओं एवं सजाओं को कार्यपालिका विधिवत लागू करती है।

आधुनिक लोकतन्त्रात्मक राज्यों में कार्यपालिका के कार्यों को पांच प्रधान श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है (1) वैदेशिक सम्बन्ध (2) सैनिक मामले, (3) विधि क्रियान्वयन तथा प्रशासन (4) क्षमा प्रदान करने व प्रशासकीय-न्याय के सन्दर्भ में न्यायिक कार्य, तथा (5) विधायी कार्य।

1 वैदेशिक-सम्बन्ध

प्रत्येक राज्य में दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्धों के नियमन का उत्तरदायित्व इस पर ही होता है। इस कार्य को पूरा करने के लिये वह दूसरे देशों में दूतावास प्रतिनिधि-कार्यालय आदि खोलती है। आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर वह अनेक प्रकार के विशेष प्रतिनिधियों को भी विदेशों में भेजती है। ऐसे मामलों में समस्त नियुक्तियां सामान्यतः कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं तथा वैदेशिक-सम्बन्धों में पालन की जाने वाली नीतियां भी वही निर्धारित करती है। सन्धियों समझौतों एवं नाना प्रकार के संविदाओं के विषय में चर्चा का आरम्भ वही करती है तथा वही उन्हें अंतिम रूप भी प्रदान करती है। कुछ देशों में विधायिका की सहमति भी इस कार्य में अनिवार्य मानी गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में वैदेशिक मामलों के संचालन के लिये राष्ट्रपति के साथ सिनेट की भी सहमति होती है तथा समस्त सन्धियों पर कांग्रेस की सहमति अनिवार्य होती है। लोकतन्त्रात्मक

राज्यों में सामान्यतः युद्ध की घोषणा संसद द्वारा या संसद की सहमति से की जाती है। राज्य भूमि के हस्तांतरण दूसरे राज्य को भूभाग देने अथवा घाटे से भू-भाग के आदान प्रदान के लिये साधारणतया विधायिका की सहमति अनिवार्य होती है।

2 सैनिक मामले

समस्त देशों में कार्यपालिका का अध्यक्ष ही राज्य की सशस्त्र जल, थल एवं नभ सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति भी होता है तथापि उससे साधारणतः यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह युद्ध अथवा अन्य किसी सैनिक कार्यवाही के समय वस्तुतः युद्धक्षेत्र में जाकर सेनाओं का मार्गदर्शन करेगा। सेना पर सर्वोच्च अधिकार के द्वारा कार्यपालिका को सेना के संगठन बल और शस्त्रों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है तथा आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सकती है। लोकतन्त्रात्मक देशों में सशस्त्र सेनाओं की संख्या एवं उनके संगठन के विषय में कार्यपालिका को विधायिका की स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य होता है तथा प्रतिरक्षा-व्यय की स्वीकृति भी विधायिका के ही नियन्त्रण में रहती है। सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ जिनमें तीनों सेनाओं के सेनापतियों की नियुक्ति भी शामिल है कार्यपालिका द्वारा की जाती है। युद्ध की घोषणा सामान्यतः विधायिका करती है परन्तु ग्रेट ब्रिटेन एवं अधिनायकवादी देशों में कार्यपालिका को ही युद्ध की घोषणा करने की सत्ता प्राप्त है।

"युद्ध के समय कार्यपालिका की शक्तियों में विस्तृत वृद्धि कर दी जाती है तथा उसे इस प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं जिस प्रकार की शक्तियाँ अधिनायकवादी देशों के पास होती हैं" लोकतन्त्रात्मक देशों में भी आधुनिक युद्ध के कारण यह आवश्यक हो गया है कि कार्यपालिका अंग के हाथ में केवल युद्ध के सैनिक एवं नौ सैनिक पक्षों तथा भूमि के सामरिक स्थिति पर ही नियन्त्रण की शक्ति नहीं वरन कच्चे माल के बारे में निर्णय करने आवश्यक पदार्थों अथवा उपभोग के समस्त पदार्थों के उत्पादन तथा उनके मूल्य एवं उपभोग की मात्रा के बारे में अन्तिम निर्णय करने की शक्ति भी दी जाए।

आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए कार्यपालिका के नियन्त्रण में एक पुलिस-दल होता है परन्तु असाधारण परिस्थितियों में गम्भीर अशान्ति का दमन करने के लिए सशस्त्र सेनाओं को बुलाया जा सकता है। भारत में अनेक अवसरों पर इसका प्रयोग किया गया है विशेषतः विभाजन के तुरन्त पश्चात तथा उपरान्त जब भारत एवं पाकिस्तान में साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े थे तथा उनके परिणामस्वरूप एक भाग से दूसरे भाग में बड़े पैमाने पर जनता का आवागमन हुआ था।

3 विधि का कार्यान्वयन एवं प्रशासन

यह कार्यपालिका का प्रारम्भिक या प्रमुख कार्य माना जा सकता है। आधुनिक राज्य के कार्य की सीमा एवं विविधता में विशाल विस्तार होने तथा राज्य की प्रकृति के "पुलिस-राज्य" से विस्तृत लोक-कल्याणकारी राज्य में परिवर्तित हो जाने के कारण इस कार्य ने बहुत महत्व प्राप्त कर लिया है। इस कारण से वर्तमान काल में कार्यपालिका को महान शक्ति एवं उत्तरदायित्व प्रदान किया है जिसमें प्रभावशाली कार्य के लिए शासन के समूचे कार्यपालिका अंग के संगठन का कार्य भी सम्मिलित है।

4 न्यायिक शक्तियाँ

जिन देशों में "विधिशासन" की धारणा प्रचलित है वहाँ भी पिछले कुछ वर्षों में "प्रशासकीय-न्याय" में काफी वृद्धि हुई है। प्रशासकीय-न्याय के अन्तर्गत कार्यपालिका विभागों एवं शासकीय अधिकारियों द्वारा संगठित न्यायाधिकरणों को ऐसी न्यायिक शक्ति दे दी जाती है जिसके द्वारा वे विविध प्रकार के प्रशासकीय आदेशों तथा श्रम, व्यापार, उद्योग आदि में सम्बन्धित विधियों के अन्तर्गत बनने वाले विविध प्रकार के नियमों से सम्बन्धित मामलों का निर्णय कर सकें। यह माना जाता है कि ऐसे मामलों में प्रशासकीय न्याय साधारण विधि-न्यायालयों के निर्णय की अपेक्षा सस्ता, शीघ्र और अधिक प्रभावशाली होता है।

द्वितीय न्याय और मानवता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि क्षमादान के सिद्धांत को न्याय के प्रशासन में स्थान मिले तथा न्याय की कभी-कभी होने वाली चूक को सुधारने एवं विधि के कठोर निर्वचन एवं प्रयोग के आधार पर दिये जाने वाले दण्ड की कठोरता को कम करने के लिये यह सत्ता प्रमुख कार्यपालिका अधिकारी में निहित होनी चाहिये। इससे क्षमादान की शक्ति या दया का विशेषाधिकार कहा जाता है।

5 विधायी कार्य

प्रत्येक शासन पद्धति में कार्यपालिका विधि निर्माण के कार्य में महत्वपूर्ण भाग लेती है हालांकि अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की अपेक्षा संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका एवं विधायिका के सम्बन्ध में अधिक मधुर होते हैं।

लिखित संविधान वाले विशेषत गणतन्त्रात्मक या अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति वाले देशों में विधायिका को आहूत करने, सत्रावसान करने अथवा स्थगन करने के लिये संविधान में व्यवस्था की जाती है तथा उसके लिये निश्चित तिथियाँ निर्धारित कर दी जाती हैं। संसदात्मक शासन-पद्धति वाले देशों में विशेषत उन देशों में जहाँ संविधान अधिकांशत अलिखित है जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन में, विधायिका का

आहूत करने उसका सत्रावसान करने और विघटित करने की शक्ति कार्यपालिका में निहित है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी प्रमुख कार्यपालिका अधिकारी (राष्ट्रपति) को यह शक्ति दी गई है कि आपात कालीन परिस्थितियों में वह काग्रेस का विशेष सत्र आहूत कर सके। विघटन की शक्ति केवल संसदात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में ही होती है। यह शक्ति कार्यपालिका को विधायिका के दलीय सदस्यों के ऊपर काफी मात्रा में प्रभाव डालने की सामर्थ्य प्रदान करती है।

संसदात्मक शासन प्रणाली वाले देशों में विधायिका का नया या वार्षिक सत्र राज्य के अध्यक्ष के अभिभाषण से आरम्भ होता है जिसमें व्यापक तौर पर पिछले वर्ष होने वाली शासकीय सफलताओं एवं प्रमुख घटनाओं देश की परिस्थितियों एवं अपने पड़ोसियों व दूसरे बाह्य देशों के साथ राज्य के सम्बन्धों आन्तरिक वाद बाह्य मामलों में शासन की प्रस्तावित नीतियों तथा शासन द्वारा आगामी वर्ष में संसद में प्रस्तुत किए जाने वाले प्रस्तावों का उल्लेख रहता है।

दूसरे, आधुनिक काल में विधान को प्रस्तुत करने तथा निर्मित करने का अधिकांश कार्य कार्यपालिका के हाथों में चला गया है तथा संसद अधिकांश समय तक शासकीय कार्यक्रम बजट एवं कार्यपालिका द्वारा देश के शासन के संचालन के लिए आवश्यक विधियों पर विचार विमर्श कर पारित करने में संलग्न रहती है। संसदात्मक शासन प्रणाली के अन्तर्गत संसद में प्रस्तावित विधियों को विषयों से सम्बन्धित मन्त्रियों द्वारा प्रारम्भ प्रारूपित एवं प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ तक विधायिका का सम्बन्ध है वह कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित रूप में ही विधेयकों को पारित करती है क्योंकि उसमें कार्यपालिका का बहुमत होता है। यदि विधायिका शासन के किसी महत्वपूर्ण प्रस्ताव या विधेयक को अस्वीकार कर देती है तो सामान्यतया या तो मन्त्रिमण्डल त्याग पत्र दे देता है अथवा विधायिका के निम्न सदन को विघटित करके नये सिरे से जनता का आदेश प्राप्त करता है।[1]

संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत प्रचलित होने पर भी राष्ट्रपति से यह आशा की जाती है कि वह विधियों के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लेगा। जैसे कि न्यायाधीश स्टोरी ने कहा है कि राष्ट्रपति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह 'काग्रेस के सामने उन समस्त तथ्यों एवं सूचनाओं को प्रस्तुत करेगा जो उसकी सर्वाभा में सहायक हो सकें तथा जिनके आधार पर वह स्वयं दोषों की ओर इशारा कर सके तथा सुधार का सुझाव दे सके। इसके अतिरिक्त संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक दोनों ही शासन प्रणालियों में कार्यपालिकाओं को अध्यादेश जारी करने का अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त विधायिका द्वारा बनाये विधेयक भी कानून का रूप तभी धारण कर सकते हैं जब कि उन पर कार्यपालिका की स्वीकृति की मोहर लगा दी जाय। इस अर्थ में कार्यपालिका की

प्रदान करने जैसे अनेक अवसर होते हैं जिनसे वह लोगों का खुश कर सकती है।[3]

3 कायपालिका का जन-सामान्य के अधिक समीप होना भी उसको व्यवस्थापिका से अधिक महत्वपूर्ण बनाता है। चूंकि कायपालिका को कायपालन सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करना होता है अत उसे जनता की नाडियो (Nerves of public) का ज्ञान होना आवश्यक होता है। कायपालिका फील्ड में काय करने वाला अभिकरण है अत उसे जनता की इच्छाओ आकाक्षाओ अभिलाषाओ एव समस्याओ का ज्ञान होता है। अत इन इच्छाओ तथा आकाक्षाओ को किस प्रकार पूरा किया जा सकता है तथा इन समस्याओ का कैसे समाधान किया जा सकता है इसका भी उसे ज्ञान होता है अत जनेच्छाओ तथा आकाक्षाओ को पूरा करने के कारण कायपालिका जनता में विधायिका की अपेक्षा ज्यादा लोकप्रिय हो गयी है। अत जनता के समीप रहने, जनता की इच्छाओ एव अभिलाषाओ को जानने तथा उन्हें पूरा करने के कारण कायपालिका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है।

4 कायपालिका ही जनकल्याण से सम्बन्धित नीति निर्माण एव निणय निमाण करती है तथा वही उन्हें कार्यान्वित करती है। विधायिका की तो केवल औपचारिक स्वीकृति ली जाती है क्योंकि आज विधायिकायें कानून निर्मात्री सस्थाए न रहकर मात्र कानून निर्माण पर स्वीकृति देने वाली सस्थाए बनकर रह गयी हैं (Legislatures are not law making institutions they are merely law assenting bodies) अत कायपालिकायें न कवल नियम-निर्माण निणय निमाण तथा नीति निर्माण ही करती है अपितु इन सबके कार्यान्वयन का दायित्व भी कायपालिकाओ का ही है। अत इस धारक ने भी कायपालिका को अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली बना दिया है।

5 विज्ञान-तकनीकी एव सचार साधनो के विकास ने कायपालिका का सीधा जन-सम्पर्क म ला दिया है। आज कायपालक रेडियो के माध्यम से, दूरदर्शन के माध्यम से जनता के समक्ष जाने लगे है और जनता को विश्वास म लेने का प्रयास करने लगे है जिससे विधायिका को बाइ पास (By pass) करके ऐसे निणय भी कायपालिका ले सके जिन पर विधायिका आसानी से अपनी स्वीकृति न दे। एलेन बाल का कहना है कि 'जनसम्पर्क माध्यमो का

शक्तियां अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। अध्यक्षीय शासन में तो राष्ट्रपति को 'जेबी' विशेषाधिकार (जेबीवीटो) तथा विनियामकारी निषेधाधिकार ऐसी शक्तियां मिली हुई हैं जिनके कारण विधि निर्माण में राष्ट्रपति की शक्तियां अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गई हैं।

कार्यपालिका के कार्यों एवं शक्तियों में अभिवृद्धि

जैसा कि 'विधायिका' के अध्याय में विधायिकाओं के पतन का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आज एक ओर विधायिकाओं की शक्तियां का ह्रास हुआ है तो दूसरी ओर कार्यपालिकाओं की शक्तियों में वृद्धि हुई है। वस्तुतः कार्यपालिकाओं की शक्ति में वृद्धि के लिए वे ही कारण हैं जो विधायिकाओं की शक्ति में कमी के कारण हैं, जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहां हम थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उन्हीं कारणों का निम्न प्रकार से विश्लेषण कर रहे हैं—

1. कार्यपालिका के बढ़ते हुए महत्व एवं शक्तियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण है राजनीतिक दलों का होना तथा राजनीतिक दलों में अनुशासन की भावना का होना। कार्यपालिका का अध्यक्ष राजनीतिक दल का नेता होता है। उसकी अपने दल में क्या स्थिति होती है इसी पर उसी की शक्ति एवं महत्व निर्भर करता है। संसदीय शासन में कार्यपालिका की स्थिति उस समय सुदृढ़ होती है जब संसद में कार्यपालिका के दल का स्पष्ट बहुमत हो तथा सम्पूर्ण दल कार्यपालिका को अपना एकछत्र नेता माने। इसी प्रकार अध्यक्षीय शासन में भी कार्यपालिका की स्थिति उस समय सुदृढ़ और शक्तिशाली होती है जब कांग्रेस में उसी दल का बहुमत हो जिस दल का राष्ट्रपति हो। ऐसी स्थिति में जैसा कार्यपालिका कहती है दलीय अनुशासन के कारण विधायिका वैसा ही कर देती है। संसदीय शासन में तो यदि कैबिनेट की इच्छानुसार संसद कार्य न करे तो उसे राज्याध्यक्ष को संसद (निम्न-सदन) को विघटित करने का परामर्श देने का अधिकार है। अतः दलीय अनुशासन ने विधायिका की अपेक्षा कार्यपालिका की शक्तियां को बढ़ा दिया है।
2. कार्यपालिका के महत्व के बढ़ने का एक अन्य कारण है कि आज कार्यपालिका को अनेक कार्यों का सम्पादन करना होता है। अनेक कार्यों का सम्पादन करने के क्रम में उसके पास अनेक ऐसी शक्तियां आ गयी हैं जिनसे वह अनेक पट्रोनेज (Patronage) बांटता है। कार्यपालिका के पास महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने, ठेके देने, सम्मान

प्रदान करने जैसे अनेक अवसर होते हैं जिनसे वह लोगो को खुश कर सकती है।[3]

3 कायपालिका का जन-सामान्य के अधिक समीप होना भी उसको व्यवस्थापिका से अधिक महत्वपूर्ण बनाता है। चूंकि कायपालिका को कायपालन सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करना होता है अत उसे जनता की नाड़ियो (Nerves of public) का ज्ञान होना आवश्यक होता है। कायपालिका फील्ड म काय करने वाला अभि-करण है अत उस जनता की इच्छाओ आकाक्षाओ अभिलाषाओं एव समस्याओ का ज्ञान होता है। अत इन इच्छाओ, आकाक्षाओ को किस प्रकार पूरा किया जा सकता है तथा समस्याओ का कैसे समाधान किया जा सकता है इसका भी ज्ञान होता है अत जनेच्छाओ तथा आकाक्षाओ को पूरा करने कारण कायपालिका जनता मे विधायिका की अपेक्षा ज्यादा लोकप्रिय हो गयी है। अत जनता के समीप रहने जनता की इच्छाओ एव अभिलाषाओ का जानने तथा उन्हे पूरा करन के कारण कायपालिका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है।

4 कायपालिका ही जनकल्याण से सम्बन्धित नीति निर्माण एव निणय-निमाण करती है तथा वही उन्हे कार्यान्वित करती है। विधायिका की तो केवल औपचारिक स्वीकृति ली जाती है क्योंकि आज विधायिकायें कानून निर्मात्री सस्थाए न रहकर मात्र कानून निमाण पर स्वीकृति देने वाली सस्थाए बनकर रह गयी हैं (Legislatures are not law making institutions they are merely law assenting bodies) अत कायपालिकायें न केवल नियम निर्माण निणय निर्माण तथा नीति-निर्माण ही करती है अपितु इन सबके कार्यान्वयन का दायित्व भी कायपालिकाओ का ही है। अत इस धारक न भी कायपालिका को अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली बना दिया है।

5 विज्ञान-तकनीकी एव सचार साधनो के विकास ने कायपालिका को सीधा जन-सम्पक म ला दिया है। आज कायपालक रेडियो के माध्यम से दूरदर्शन के माध्यम से जनता के समक्ष जाने लगे हैं और जनता का विश्वास म लेने का प्रयास करने लगे है जिससे विधायिका को बाइ पास (By pass) करके ऐसे निणय भी कायपालिका ले सके जिन पर विधायिका आसानी से अपनी स्वीकृति न दे। एलेन बाल का कहना है कि 'जनसम्पक माध्यमो का

उपयोग करने के अवसर तथा प्रचार की सुविधा कार्यपालिका शक्ति को मजबूत बनाने वाला महत्वपूर्ण कारक है।" सचार साधनो का आम जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है। उनके लिए कार्य पालिका ही सब कुछ बन जाती है।

6 मुख्य कार्यपालको का व्यक्तित्व (Personality) भी कार्यपालिका की शक्तियो मे अभिवृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। जिन जिन देशो मे कभी-कभी जो राष्ट्रपति अथवा प्रधानमन्त्री रहे हैं, उनका व्यक्तित्व ऐसा रहा है कि उनके समक्ष किसी भी व्यक्ति का यह साहस नही होता था कि वे उनका विरोध करें। अनेक देशो मे राष्ट्रपतियो अथवा प्रधानमन्त्रियो ने सावैधानिक सीमाओ म रहते हुए समाज के कल्याण के लिए ऐसे कार्य किये जिनमे सम्पूर्ण समाज की भलाई हो सके तथा इस प्रकार निर्णय लिये जिनका कोई भी विरोध नही कर सका। कालान्तर मे कुछ कार्यपालको के महत्वपूर्ण होने से कार्यपालको का पद ही (Office of the executives) महत्वपूर्ण हो गया। उस पद पर बाद मे चाहे कैसा ही व्यक्तित्व का व्यक्ति आया, वह ही महत्वपूर्ण हो गया। अत प्रत्येक देश म जैसे अमेरिका म वाशिंगटन, विल्सन, कैनेडी ब्रिटेन मे चर्चिल तथा भारत मे जवाहरलाल नेहरू आदि ऐसे अनेक कार्यपालक आये जिनके व्यक्तित्व ने कार्यपालिका को ही महत्वपूर्ण बना दिया।

7 कार्यपालिका का कार्यपालन नीतियो नियमो का कार्यान्वयन सम्बन्धी काय ऐसे आयाम है जिन्होने कार्यपालिका को महत्वपूर्ण बना दिया है। वस्तुत समाज मे वही सस्था अथवा निकाय ज्यादा लोकप्रिय और शक्तिशाली होती है जो कार्यान्वयन से सम्बन्धित कार्य करती है तथा जो 'फील्ड' मे रहती है। इन दोनो ही क्षेत्रो मे कार्यपालिका की पहुच होती है जबकि व्यवस्थापिका न तो कार्यान्वयन से सम्बन्धित निकाय है और न ही 'फील्ड' अभिकरण, अत उसकी शक्तिया अपेक्षाकृत कम होनी स्वाभाविक हैं।

8 सावैधानिक व्यवस्थाए तथा सावैधानिक सशोधनो ने भी कार्य-पालिकाओ को शक्तिशाली बनाया है। प्रत्येक सविधान म कुछ ऐसे सरचनात्मक एव सम्यात्मक प्रबन्ध किये जाते हैं जिनसे कार्य पालिका की स्थिति सदैव शक्तिशाली रहे क्योकि कार्यपालिका को विधायिका के कानून एव न्यायपालिका के निर्णयो को लागू करना होता है। यह सब तभी सम्भव है जबकि कार्यपालिका इन सबके सम्पादन के लिए सक्षम हो। अत कार्यान्वयन करने वाली सस्था

का शक्तिशाली होना स्वाभाविक है तभी कायपालिका पूण कुशलता के साथ कार्य कर सकेगी।

9 सकटकालीन परिस्थितियो के समय कायपालिका को सभी प्रतिब धो से मुक्त कर दिया जाता है। देश के सविधान मे ही सकटकालीन अनुच्छेदो के अन्तगत इस बात का उल्लेख होता है कि जैसे ही देश मे सकटकाल की घोषणा की जायेगी वैसे ही सम्पूण शासन शक्तिया कायपालिका के हाथो म सकेन्द्रित हो जायेंगी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश केबिनेट, सन 1965 एव सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान भारतीय केबिनेट की स्थिति सर्वेसर्वा थी। इस प्रकार सकटकालीन परिस्थितिया भी कायपालिका को शक्तिशाली बनाती हैं।

इस प्रकार अनेक ऐसे कारक ह जो कायपालिका को व्यवस्थापिका की अपेक्षा श्रेष्ठ, महत्वपूण एव अधिक शक्तिशाली बनाते हैं।

पाद टिप्पणी

1 गुरमुख निहालसिंह, राजनीति विज्ञान एव सगठन के मूल सिद्धान्त, किताब महल, इलाहाबाद पृ० 220

2 बान रोबट सी०, एक्सन एण्ड आर्गेनाइजेशन, एन इण्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव पॉलिटिकल साइ स, ल दन हापर एण्ड रों 1972, पृ० 357

3 वही

अध्याय 15

न्यायपालिका

न्यायपालिका शासन की तीसरी शाखा अथवा तीसरा अंग है। उसके काय म महत्व के बारे म अतिशयोक्ति करना कठिन है। लोकतन्त्रात्मक सरकार और सवसत्तावादी सरकार म प्रधान अन्तर यही होता है। लोकतन्त्रात्मक सरकार म विधि के शासन का प्रचलन होता है और राज्य अपने नागरिको के लिए अधिकारों की व्यवस्था का प्रबन्ध करता है। यह बात बहुत स्पष्ट है कि यह व्यवस्था न्याय पालिका की समुचित व्यवस्था के बिना नही बनाय रखी जा सकती। अध्यक्षात्मक सरकार वाले देशो म न्यायपालिका सरकार के शेष दोनो विभागा पर उच्चता की स्थिति प्राप्त कर लेती है। प्रत्येक देश मे अनेक झगडे व दुघटनायें होती हैं जो देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए सकट उत्पन्न कर देती हैं। इनके अतिरिक्त समाज म अनेक प्रकार की विषमताए, अन्याय तथा बेमेल सयोग होते हैं तथा अनक प्रकार की असामाजिक क्रियाए हाती है जिनमे आमतौर पर बडी सख्या म व्यक्ति भाग लेते है। इस सबके कारण यह अनिवाय हो जाता है कि देश मे निष्पक्षता व शीघ्रता के साथ न्याय करने के लिए न्यायिक प्रशासन का विस्तृत सगठन किया जाय। लाड ब्राइस के अनुसार, यदि विधि का प्रशासन ईमानदारी के साथ नहा किया जाता तो यही माना जायेगा कि नमक न अपना क्षारीय स्वभाव खा दिया है यदि न्याय का प्रवतन दुबलता अथवा अस्थिरता के साथ किया जाय ता सुव्यवस्था का आश्वासन समाप्त हो जायेगा क्योकि दण्ड की कठोरता की अपक्षा उसकी सुनिश्चितता अपराधो का अधिक मात्रा म दमन कर पाती है। यदि न्याय दीप ही अधकार मे विलीन हो जाये तो अधकार की गहनता का क्या अनुमान लगाया जा सकता है। अत यह स्पष्ट है कि किसी भी राज्य के भीतर न्यायिक व्यवस्था के अभाव मे शांति व सुव्यवस्था को बनाये रखना जनता की स्वतन्त्र

ताम्रा और उसके अधिकारों का रक्षण तथा जनसाधारण के कल्याण व उसकी प्रगति के लिये आवश्यक दशाओं का निर्माण असम्भव होगा। यही कारण है कि लाड ब्राइस न्यायपालिका की क्षमता को सरकार की श्रेष्ठता की कसौटी मानते थे क्योंकि साधारण नागरिक के हित और उसकी सुरक्षा का सबसे घनिष्ट सम्बन्ध इस बात से है कि वह यह अनुभव करे कि न्याय के निश्चित और शीघ्र प्रशासन पर भरोसा किया जा सकता है।

न्यायपालिका के कृत्य

आधुनिक काल में न्यायपालिका को अनेक कार्य करने होते हैं। विभिन्न राज्यों में उन कार्यों में थोड़ा बहुत ही अन्तर होता है। उदाहरणार्थ संघात्मक व अध्यक्षात्मक राज्यों में नियमित कृत्यों के अतिरिक्त न्यायपालिका को संविधान के संरक्षक के रूप में भी कार्य करना होता है तथा उसे विधायिका द्वारा पारित विधियों तथा कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाले कार्यों की सांविधानिकता के बारे में अपना निर्णय देना होता है। तथापि प्रत्येक देश में न्यायाधीश का प्रारम्भिक कार्य व्यक्तिगत मामलों में विधि की व्याख्या करना व उसे लागू करना है। इस कृत्य को पूरा करते समय यह सम्भव है कि न्यायपालिका को कुछ तत्सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ें। आधुनिक राज्यों में इनके अतिरिक्त कुछ दूसरे कार्य भी प्राय न्यायाधीशों द्वारा किये जाते हैं।

तथ्य अन्वेषण का कृत्य

प्रत्येक मामले में न्यायाधीशों द्वारा विधि की व्याख्या और उसको लागू किये जाने के पूर्व यह आवश्यक है कि तथ्यों के बारे में निश्चित जानकारी प्राप्त कर ली जाए। अनेक देशों में यह कार्य भी न्यायाधीशों द्वारा किया जाता है और यह कार्य उनका बहुत-सा समय ले लेता है। ऐंग्लो अमरिकन प्रणाली के अन्तर्गत आम तौर पर तथ्य अन्वेषण का कार्य 'जूरी' करती है और न्यायालयों ने साक्षी के बारे में निश्चित नियम बना दिये हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि 'जूरी' के सदस्यों को जो कि प्राय अप्रशिक्षित साधारण जन होते हैं, साक्षी का मूल्यांकन करने के जटिल कार्य में सरलता हो सके। हमारे देश में अधिकांश मामलों में न्यायाधीश ही तथ्यों और विधि के बारे में निर्णय करते हैं। यहां प्रक्रिया को संहिताबद्ध कर दिया गया है तथा दो पृथक संहिताएं बना दी गई हैं—व्यवहार प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता। भारत में न्यायाधीशों को यह शक्ति दी गई है कि वे जटिल तथा प्रौद्योगिक विषयों पर साक्षी देने के लिए विशेषज्ञों को आमंत्रित कर सकते हैं तथा कुछ मामलों में प्रमाण संग्रह करने और उनके बारे में न्यायालय के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिये आयुक्तों की नियुक्ति कर

सकते हैं। इंगलैंड में जब आवश्यकता होती है तब न्यायाधीशों की सहायता के लिए 'चासरी' में आयुक्तों और परीक्षकों की नियुक्ति की जाती है जो कि सुनवाई करते हैं तथा अपने अन्वेषण के परिणामों के बारे में न्यायालय के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं। दूसरे देशों में भी आवश्यक होने पर न्यायालयों से बाहर प्रमाण संग्रह करने और उसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने के बारे में इसी प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है। अधिकांश देशों में न्यायाधीशों को यह शक्ति भी दी गई है कि वे तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए गवाहों से जिरह (प्रश्न—परिप्रश्न करना) कर सकते हैं।

विधि की व्याख्या और उसका प्रयोग

समस्त देशों में न्यायाधीशों का प्रमुख कार्य यह है कि वह अपने न्यायालय में प्रस्तुत वादों के प्रसंग में देश की विधियों की व्याख्या करें और उनका प्रयोग करें। आजकल विधि निर्माण का कार्य जटिल हो गया है तथा "आर्थिक-कार्यकलाप के नये क्षेत्रों संसदीय नियमन में महान विस्तार" हो गया है। इसी कारण सामान्य विधियों की व्याख्या और उनका प्रयोग एक साधारण कार्य नहीं रह गया है। यह भी हो सकता है कि किसी वाद में निहित प्रश्न के बारे में विधि स्पष्ट या सुगम न हो, अथवा वह वाद में निहित समस्त प्रश्नों पर लागू न होती हो, अथवा जैसा कि सामान्यतः कहा जाता है वह वाद के "तथ्यों के अनुकूल" न बैठ पाती हो। यह संदेह भी उठ सकता कि किसी विशेष वाद में कौन सी विधि या संहिता की कौन-सी धारा सही सही तौर पर लागू होती है।

विधियों की व्याख्या के बारे में आजकल एक दूसरा तत्व भी महत्वपूर्ण हो गया है, वह यह कि आधुनिक परिस्थितियों के संदर्भ में पुरानी विधियों का प्रयोग किस प्रकार किया जाए। यह हो सकता है कि न्यायाधीशों की प्रवृत्ति रूढ़िवादी हो जाए तथा विधियों की व्याख्या करने व उनके प्रयोग के सम्बन्ध में आदर्शों तथा परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाने पर भी वे पुरानी परम्पराओं का ही उपयोग करें। जैसा कि गार्नर ने कहा है, "परम्पराओं ने 'विधि' की समस्त प्रणालियों पर महान प्रभाव डाला है परन्तु एंग्लो अमेरिकन व्यवस्थाओं में उनका प्रभाव विशेष रूप से महान रहा है।' इंगलैंड और सं० रा० अमेरिका में परम्परागत निर्णय न्यायप्रणाली का मौलिक सिद्धान्त है तथा यद्यपि यह सुनिश्चितता को बनाये रखने के लिए विधि के विवेकपूर्ण विकास को बलिदान कर देता है, तथापि यह माना जाता है कि हानियों की अपेक्षा उसके लाभ अन्ततोगत्वा अधिक हैं।

न्यायिक-विधिनिर्माण

पृथक् पृथक् वादों में विधियों को प्रयोग करते समय यदि विधि की कोई कमी

या अस्पष्टता न्यायाधीश के ध्यान म आवे तो उसे अभाव की पूर्ति करनी होती है तथा अस्पष्टता को दूर करना होता है और इस प्रकार उसे विधि को वादो म प्रयोग किये जाने के लिये उपयुक्त बनाना होता है। न्यायाधीश ही प्रथाओ को मान्यता प्रदान करते हैं तथा उन्हे ग्रहीत करते है और 'इस प्रकार उस लोकसत्ता का निश्चित समर्थन प्रदान करते है।" इस प्रकार पथक पथक वादो म विधि व प्रथाओ के निर्वाचन तथा प्रयोग म न्यायाधीश विधि का निर्माण व उसका विस्तार करते हैं तथा कालान्तर म विभिन्न देशो म इस प्रकार के न्यायाधीश निर्मित विधियो की एक विस्तृत सहिता तैयार हो गई है। इगलैंड म विशेषत ऐसी स्थिति है, वहा न्यायालयो न अपने निर्णयो तथा आदेशो द्वारा "कामन ला" की एक विशाल सहिता का विकास कर दिया है। न्यायाधीशो द्वारा दिय जाने वाले निर्णय परम्परा या नजीर बन जाते है जो आगे आने वाले वादो म मान्य किये जाते हैं तथापि, व पूर्णतया बाध्यकारी नही होते तथा उन्हे बाद म दिये जाने वाले अधि कृत निर्णयो के द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है एक गतिशील तथा प्रगतिपरायण समाज म विधि के विकास के लिए आवश्यक होने पर परम्परागत निर्णयो को त्यागा जा सकता है।

विधि का एक अन्य समूह न्यायुक्तता कहलाता है, इसका निर्माण भी न्यायाधीश ही करते है, परन्तु इसका निर्माण 'वर्तमान विधियो की व्याख्या के रूप म नही वरन उनके अतिरिक्त" एक प्रगतिशील समाज म विधियो की अपर्याप्तता एव उनके अभाव की पूर्ति करने के लिये होता है। इसका आधार श्रेष्ठ अन्त करण और न्यायुक्तता (न्यायभावना) होता है। यहा न्यायुक्तता के विषय म विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नही है क्योकि छठे अध्याय म उसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।

न्यायिका—समीक्षा

सघात्मक तथा अध्यक्षात्मक सरकार वाले देशो म विधायिकाओ द्वारा पारित विधियो अथवा कार्यपालिका के कार्यो की समीक्षा तथा उनकी सावैधानिकता की जाच के लिए न्यायालयो के समक्ष लाया जा सकता है। अत ऐसे राज्यो म न्यायपालिका को प्रशासन की उच्चतर या सर्वोच्च शाखा एव सविधान की सरक्षिका माना जाता है। जैसा कि सयुक्त राज्य अमरिका म होता है, इस पद्धति को न्यायपालिका द्वारा सचालित सरकार कहा जाता है। चूकि अमरिका तथा भारत म सघात्मक शासन का अगीकार किया गया है अत अमरिका म सर्वोच्च न्यायालय को (Due process of law) उपवाक्य म न्यायिक समीक्षा की शक्ति मिली हुई है। इस शक्ति के अन्तगत न्यायपालिका कानून की दोनो दृष्टियो से जाच करती है। न्यायपालिका यह जाच करती है कि कानून बनाने की प्रक्रिया का अनुसरण

किया गया है अथवा नही तथा कानून के निहिताथ क्या होगे अर्थात न्यायपालिका प्रक्रिया तथा निहिताथ (Procedure and implications) दोनो की जाच करने का अधिकार रखती है। भारत म सर्वोच्च न्यायपालिका को सविधान के अनुसार (According to procedure established by law) शब्दो मे न्यायिक समीक्षा का अधिकार दिया गया है।

भारत म उपरोक्त शब्दो मे केवल एक ही बात की जाच करने का अधिकार दिया गया है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय केवल इसी बात की जाच का अधिकार रखता है कि कानून बनाने की प्रक्रिया का अनुसरण किया गया है अथवा नही। उसे अमेरिकी सर्वोच्च न्यायपालिका की भाति कानून के निहितार्थों की जाच का प्राधिकार नही है। इस प्रकार न्यायपालिका को न्यायिक समीक्षा से सम्बधित शक्तिया भी मिली हुई है।

न्यायाधीश उनकी योग्यता, नियुक्ति और सेवा की दशाए

न्यायाधीशो की योग्यताए

व्यापक रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि न्यायिक प्रशासन की प्रत्यक व्यवस्था म न्यायाधीशो का स्थान केन्द्रीय होता है। तथा प्रशासित न्याय की गुण शीतलता न्यायाधीशो के चरित्र व उनके ज्ञान तथा उनके द्वारा अपने दायित्वो को पूरा करने की रीति पर निभर होती है। न्यायाधीश के भीतर कुशाग्र बुद्धि, विधि का विस्तृत ज्ञान, न्याय की वृत्ति, कुशल निणय, गुरुता और सन्तुलन व्यक्तित्व, निष्पक्षता, ईमानदारी और स्वतन्त्र चरित्र के गुण और योग्यतायें होनी चाहियें। अत यह आवश्यक है कि न्यायाधीशो के चयन, प्रशिक्षण और उनकी नियुक्ति के बारे मे बहुत अधिक सावधानी बरती जानी चाहिये, तथा उन्ह इस प्रकार सेवा की दशाए प्रदान की जानी चाहियें जिससे कि वे अपने कृत्यो को निष्पक्षता, स्वतन्त्रता एव कुशलता के साथ पूरा कर सकें।

न्यायाधीशो का चयन

ससार के विभिन्न देशो म न्यायाधीशो के चयन के लिये तीन मुख्य रीतिया प्रयोग मे लाई जाती है। वे इस प्रकार हैं—(क) विधायिका द्वारा निर्वाचन (ख) जनता द्वारा निवाचन तथा (ग) कायपालिका द्वारा स्वतन्त्र रूप से या एक विधायी सदन अथवा समिति अथवा न्यायाधीशो के मण्डल के परामर्श द्वारा नियुक्ति।

विधायिका द्वारा निर्वाचन

यह पद्धति क्रान्ति के पश्चात् कुछ काल तक अमेरीकय सघ के राज्यो मे अधिक लोकप्रिय थी। इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर तो कायपालिका की सत्ता

से ईर्ष्या की जाती थी दूसरी ओर जनता के प्रति अविश्वास की भावना विद्यमान थी। वतमान काल म यह रीति सयुक्तराज्य अमेरिका के केवल चार राज्या म प्रयाग की जाती है तथा स्विटजरलैंड म भी न्यायाधीश सघीय सभा (विधायिका) द्वारा निर्वाचित किये जाते है।

कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति

ससार के अधिकाश देशा म यही पद्धति प्रचलित है सयुक्तराज्य अमेरिका म भी समस्त सघीय-न्यायाधीशो व सघ के छ राज्या के न्यायाधीशा को नियुक्त करने के लिय यह रीति प्रयोग मे लाई जाती है। उच्चतर स्तरो पर न्यायाधीशो की नियुक्ति के लिये यह रीति अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई है विशेषत उस स्थिति म जबकि कार्यपालिका एक समिति या न्यायाधीशो की बच के परामश से व उसकी सिफारिश पर न्यायाधीशा की नियुक्ति करती है। इस पद्धति को इस कारण आम-तौर से पसन्द किया जाता है क्योकि न्यायाधीशा के लिय आवश्यक विशिष्ट गुणा का प्रमुख कार्यपालिका अधिकारी आसानी से परख सकता है तथा यदि न्यायाधीशो की कोई समिति या मुख्य न्यायाधीश को न्यायाधीशो के चयन म सम्मिलित कर लिया जाता है तो सत्ताधारी राजनीतिक दल का प्रभाव बहुत बडी सीमा तक कम या शक्तिहीन हो जाता है। ऐसी स्थिति मे केवल ऐसे व्यक्ति ही नियुक्ति के लिये छाटे जाते हैं जिनम आवश्यक योग्यता तथा गुण होते है। यह हो सकता है कि व सत्ताधारी दल से सम्बन्धित हा। सयुक्तराज्य अमरिका म सघीय न्यायाधीशो को सिनेट की सहमति से नियुक्त किया जाता है। एसा प्रतीत होता ह सघीय जिला न्यायाधीशो की नियुक्ति के समय राज्यो के दलीय सगठनो व विशेष-कर सम्बन्धित राज्य के दल या सिनेटरो के दृष्टिकोण को बहुत महत्व दिया जाता है।

उनकी सेवा की शर्तें

ससार क समस्त प्रगतिशील दशा म यह अनिवाय माना जाता है कि प्रत्यक राज्य म सवा की दशाय इस प्रकार की हानी चाहिये जिससे कि वे अपने कृत्या को भय या पक्षपात के बिना, निष्पक्षतापूर्वक, प्रतिष्ठा, ईमानदारी, स्वतन्त्रता एव क्षमता के साथ पूरा कर सके। इस उद्देश्य के लिये यह आवश्यक है कि न्यायाधीशा को भली प्रकार वेतन दिया जाये उनके पद निश्चय स्थानान्तर कायकाल तथा निवृत्ति प्रतिधन या निवृत्ति वेतन का सतोषजनक प्रबन्ध हो एव उनकी सेवाआ को समाप्त करने या उन्हे पदच्युत करने के बारे म इस प्रकार क नियम होने चाहिय जो कार्यपालिका की निरकुश कायवाही से उनकी रक्षा कर सकें तथा उन्हें उसके आधीन होने से बचा सकें।

हमारे देश मे इस प्रकार की कोई घटना नही हुई है। सयुक्त राज्य अमरिका क नौ राज्यो मे भी न्यायाधीशो को पदच्युत करने के लिये इसी प्रकार की प्रक्रिया का अनुकरण किया जा रहा है, वहा न्यायाधीशो का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है। यदि किसी राज्य की विधायिका राज्यपाल के सामने इस बारे म आवदन प्रस्तुत करे तो राज्यपाल न्यायाधीश को पदच्युत कर सकता है। सयुक्तराज्य अमेरिका के आठ पश्चिमी राज्यो मे विशेष निर्वाचन के द्वारा न्यायाधीशो के प्रत्यावतन की व्यवस्था है परन्तु इस पद्धति को इन राज्यो मे महत्वपूण न्यायिक पदो के लिये विरले ही प्रयोग किया गया है।

दूसरी रीति महाभियोग के द्वारा पदच्युत करन की है, इसे सयुक्तराज्य अमेरिका की सघ-सरकार मे प्रयोग किया जाता है। सविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि सघीय न्यायाधीशो तथा दूसरे नागरिकों के विरुद्ध देशद्रोह, घूसखोरी या अन्य महान अपराधो व कदाचार के लिय महाभियोग की कायवाही की जायगी। प्रिटचैट ने लिखा है कि प्रतिनिधि सदन द्वारा महाभियोग का आरोप लगाने तथा सिनेट द्वारा महाभियोग की सुनवाई के लिय न्यायालय के रूप मे काय करन की प्रक्रिया के द्वारा न्यायाधीश को पदच्युत करन की पद्धति म न्यायाधीश को इस बात का पूरा अवसर प्राप्त हो जाता है कि वह अपन विरुद्ध लगाये गय आरोपो के विरुद्ध अपना बचाव प्रस्तुत कर सके। सघीय न्यायाधीशो के विरुद्ध महाभियोग की प्रक्रिया का प्रयोग बिरले ही किया गया है।

(क) **वेतन आदि**—न्यायाधीशों के वेतन आदि के बारे में यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि उनकी मात्रा केवल इतनी पर्याप्त ही नहीं होनी चाहिए कि वे उसके द्वारा प्रतिष्ठापूर्वक एवं आराम से रह सकें वरन् वह इतनी अधिक होनी चाहिये कि वे उसके कारण प्रलोभनों से बचे रह सकें। उनके लिये पर्याप्त निवृत्ति वेतन अथवा निवृत्ति प्रतिधन की व्यवस्था भी होनी चाहिये। प्रत्येक राज्य में यह चेष्टा की जाती है कि न्यायाधीशों को वहां प्रचलित जीवन स्तर के अनुसार भली प्रकार वेतन आदि दिये जायें तथा सामान्यतः निवृत्ति वेतन अथवा निवृत्ति प्रतिधन देने की व्यवस्था भी होती है।

(ख) **पद निश्चय और स्थानान्तरण**—न्यायिक सेवाओं में लगे समस्त व्यक्तियों के पद निश्चय, स्थानान्तरण आदि साधारणतया सम्बन्धित उच्च न्यायालय द्वारा बनाये गये नियमों अथवा उसकी सिफारिशों के आधार पर होते हैं, जैसा कि भारत में होता है तथा सामान्यतः ऐसे मामलों में कार्यपालिका का हस्तक्षेप नहीं होता है।

(ग) **कार्यकाल**—संयुक्तराज्य अमरिका के उन राज्यों को छोड़कर जहां न्यायाधीशों का निर्वाचन अल्पकाल के लिये होता है, अन्यत्र निम्न व मध्य-स्तरों पर न्यायाधीशों का कार्यकाल दूसरी लोक सेवाओं के समान ही आजीवन होता है और वे प्रत्येक राज्य में निवृत्ति के लिये निर्धारित आयु पर पहुंचकर निवृत्त होते हैं। हमारे देश में निवृत्ति आयु 55 वर्ष से बढ़ाकर 58 वर्ष कर दी गयी है। यूरोप महाद्वीप के देशों में भी उच्चतर स्तरों पर कार्य करने वाले न्यायाधीशों के बारे में यही पद्धति अपनाई जाती है। तथापि, इंगलैंड और संयुक्तराज्य अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश सद्व्यवहार काल में ही पदासीन रहते हैं—इसका अर्थ आजीवन कार्यकाल या जब वे सेवा निवृत्त होना चाहें तब तक है। हमारे देश में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिये निवृत्ति आयु बढ़ा कर 62 वर्ष कर दी गई है और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिये यह 65 वर्ष है। विरले मामलों में ही उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों को पदच्युत किया जाता है, उसके लिये एक विशेष और बहुत कठिन प्रक्रिया निर्धारित कर दी गई है।

(घ) **पदच्युत करना**—जो न्यायाधीश सद्व्यवहार-काल तक सेवा करते हैं उनके बारे में दो पद्धतियां अपनाई जाती हैं। इंगलैंड में तथा भारत में संसद के दोनों सदनों द्वारा राजा या राष्ट्रपति के सामने संयुक्त आवेदन प्रस्तुत करने पर न्यायाधीशों को पदच्युत किया जा सकता है। स्पष्ट ही है कि संसद के दोनों सदनों के लिये इस प्रक्रिया को आरम्भ करना केवल तभी सम्भव है जबकि शक्ति के दुरुपयोग के कोई बहुत गम्भीर और वास्तविक मामले सामने आयें या कदाचार सिद्ध हो जाये, तथा ऐसे मामले बहुत ही विरले होते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात

हमारे देश म इस प्रकार की कोई घटना नही हुई है। सयुक्त राज्य अमेरिका के नौ राज्यों में भी न्यायाधीशो को पदच्युत करने के लिये इसी प्रकार की प्रक्रिया का अनुकरण किया जा रहा है, वहा यायाधीशो का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है। यदि किसी राज्य की विधायिका राज्यपाल के सामन इस बारे म आवेदन प्रस्तुत करे तो राज्यपाल यायाधीश को पदच्युत कर सकता है। सयुक्तराज्य अमेरिका के आठ पश्चिमी राज्यो मे विशेष निर्वाचन के द्वारा यायाधीशो के प्रत्यावतन की यवस्था है परन्तु इस पद्धति को इन राज्या म महत्वपूण यायिक पदो के लिये विरले ही प्रयोग किया गया है।

दूसरी रीति महाभियोग के द्वारा पदच्युत करन की है इसे सयुक्तराज्य अमेरिका की सघ सरकार मे प्रयोग किया जाता है। सविधान मे यह व्यवस्था की गई है कि सघीय न्यायाधीशो तथा दूसरे लोकसेवको के विरुद्ध देशद्रोह, घूसखोरी या अन्य महान अपराधो व कदाचार के लिय महाभियोग की कायवाही की जायगी। प्रिटचैट ने लिखा ह कि प्रतिनिधि सदन द्वारा महाभियोग का आरोप लगान तथा सिनेट द्वारा महाभियोग की सुनवाई के लिय यायालय के रूप म काय करने की प्रक्रिया के द्वारा यायाधीश को पदच्युत करन की पद्धति म यायाधीश को इस बात का पूरा अवसर प्राप्त हो जाता है कि वह अपन विरुद्ध लगाय गय आरोपो के विरुद्ध अपना बचाव प्रस्तुत कर सके। सघीय यायाधीशो के विरुद्ध महाभियोग की प्रक्रिया का प्रयोग विरले ही किया गया है।

अध्याय 16

शक्तियो का पृथक्करण

वतमान काल मे स्वतत्र देशा की शासन व्यवस्था तीन अगो मे विभाजित है, जि हे तीन शक्तिया भी कहते है। य अग या शक्तिया कायपालिका, विधायिका, एव न्यायपालिका है। परन्तु सदैव य ही परिस्थितिया नही रही हैं। बहुत प्रारम्भिक काल म शासन का एकमात्र काय कायकारी था तथा उनका अथ आज की अपेक्षा अधिक व्यापक समझा जाता था। उस समय विधियो का निमाण करना शासन का काय नही माना जाता था। विधिया या तो विधि निर्माताओ द्वारा बनाई जाती थी या वे प्राचीन प्रथाये होती थी जो दीघ काल तक प्रचलित रहने या जनता द्वारा परिपालन किये जाने क कारण विधि का रूप ले लेती थी। उस समय शासन के कायकारी काय को उसका प्रमुख एव सर्वोच्च काय माना जाता था। इसम झगडो की सुनवाई करने एव उन्हे तय करने, अपराधो के लिये दड देने तथा पुरस्कार एव दड लागू करने की शक्ति भी सम्मिलित है। धीरे धीरे ससार के अधिकाश आधुनिक देशो के शासनो को उपरोक्त तीन अगो मे विभाजित कर दिया गया तथा यह सामान्य धारणा उत्पन्न हुई कि व्यक्ति के हितो के लिए यह अनिवाय है कि वे तीनो शक्तिया पथक पृथक हाथो म सौंपी जायें तथा उन्हे किसी एक ही व्यक्ति या निकाय के हाथो मे केन्द्रित न किया जाये।

शासन के तीन अगो या शक्तियो मे विभाजन एव पृथक्करण अथवा तीनो शक्तियो को पथक् निकायो मे निहित करने की योजना ने इग्लैंड एव फ्रास म नागरिक-स्वतत्रताओ के लिए होने वाले सघष के समय अधिक महत्व प्राप्त कर लिया तथापि, शासन के विविध कार्यों या शक्तियो का अस्तित्व उस समय से बहुत पहले स्वीकार कर लिया गया था। उदाहरणाथ अरस्तू ने अपने ग्रथ "पालिटिक्स" मे शासन के विचारात्मक कायपालनात्मक एव न्याय-सबधी कार्यों

के बीच भेद किया है।[1] उसके अनुसार शासन के विचारात्मक कार्य का क्षेत्र आधुनिक विधायिका के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था। वह "युद्ध, शांति, संधि, विधि निर्माण, वित्त, मृत्युदण्ड देश निष्कासन अथवा सम्पत्ति का जब्त किया जाना आदि प्रश्नों के साथ सम्बन्धित था।" अरस्तू ने जिन अन्य दो अंगों का उल्लेख किया है वे मोटे तौर पर आधुनिक कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के कार्यों के समतुल्य माने जा सकते हैं। इसी प्रकार का भेद पाॅलीबियस, सिसरो तथा यूनान एवं रोम के अन्य राजनीतिक लेखकों ने भी किया था तथापि इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन यूनान या रोम में व्यवहार में शक्तियों का कोई निश्चित पृथक्करण विद्यमान था। वास्तव में एक्लीसिया (सभा) ही ऐथेंस नगरराज्य में तीनों शक्तियों का प्रयोग करती थी तथा रोम में सीनेट को विधायी एवं कार्यकारी दोनों सत्तायें प्राप्त थी। यह सत्य है कि पाॅलीबियस यह मानता था कि रोमन संविधान में अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त निहित था। उसके मतानुसार सीनेट काउंसिल तथा ट्रिब्यून्स के मध्य सत्ता का संतुलन था।

मध्ययुग में शासन के विविध कार्यों के मध्य कोई भेद नहीं किया जाता था तथा समस्त शक्तियां 'सम्राट' के व्यक्तित्व में निहित मानी गईथी।

आधुनिक काल के आरम्भ में बोदां ने शासन के विविध कार्यों के बीच भेद किया तथा उसने इस बात पर विशेष रूप से बल दिया कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखा जाना चाहिए। बोदां ने यह तर्क दिया कि यदि सम्राट विधि निर्माता और न्यायाधीश दोनों हो तो उसका परिणाम यह होगा कि निर्दयी राजा निर्दयतापूर्वक दण्ड देगा तथापि फ्रांस में 18 वीं शताब्दी के मध्य तक, निरंकुश सम्राटों का शासन चलता रहा तथा माॅटेस्क्यू ने शासन की शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

आरम्भ में माॅटेस्क्यू ने शासन के तीन कार्यों के बीच भेद स्पष्ट किया। अपने ग्रन्थ 'स्पिरिट ऑव दी लॉज" में ब्रितानी संविधान का विश्लेषण करते हुए उसने लिखा है कि प्रत्येक शासन व्यवस्था में तीन प्रकार की शक्तियां होती हैं। विधायी शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर निर्भर मामलों के बारे में कार्यपालिका शक्ति तथा राष्ट्रीय विधि पर आधारित मामलों के बारे में कार्यपालिका शक्ति। पहले के अनुसार, राजा या शासक अस्थायी या स्थायी विधियां बनाता है, एवं पहले से ही प्रचलित विधियों का संशोधित तथा रद्द करता है। दूसरे के अनुसार वह युद्ध अथवा शान्ति की स्थापना करता है राजदूत भेजता एवं स्वीकार करता है सार्वजनिक सुरक्षा की स्थापना करता है तथा प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करता है। तीसरे के अनुसार वह अपराधियों को दंड देता है अथवा व्यक्तियों के बीच पैदा होने वाले झगड़ों का निर्णय करता है। इस अंतिम सत्ता को न्यायकारी सत्ता कहा जा सकता है तथा दूसरी शक्ति को राज्य की कार्यपालिका सत्ता मात्र।[2]

अध्याय 16

शक्तियों का पृथक्करण

वर्तमान काल में स्वतन्त्र देशों की शासन व्यवस्था तीन अगों में विभाजित है, जिन्हें तीन शक्तिया भी कहते हैं। ये अग या शक्तिया कार्यपालिका विधायिका, एव न्यायपालिका हैं। परन्तु सदैव ये ही परिस्थितिया नही रही हैं। बहुत प्रारम्भिक काल में शासन का एकमात्र कार्य कार्यकारी था तथा उसका अर्थ आज की अपेक्षा अधिक व्यापक समझा जाता था। उस समय विधियों का निर्माण करना शासन का कार्य नही माना जाता था। विधिया या तो विधि निर्माताओं द्वारा बनाई जाती थीं या वे प्राचीन प्रथायें होती थी, जो दीर्घ काल तक प्रचलित रहने या जनता द्वारा परिपालन किये जाने के कारण विधि का रूप ले लेती थी। उस समय शासन के कार्यकारी कार्य को उसका प्रमुख एव सर्वोच्च कार्य माना जाता था। इसमे झगड़ो की सुनवाई करने एव उन्हें तय करने अपराधों के लिये दड देने तथा पुरस्कार एव दड लागू करने की शक्ति भी सम्मिलित है। धीरे-धीरे ससार के अधिकाश आधुनिक देशों के शासनों का उपरोक्त तीन अगो में विभाजित कर दिया गया तथा यह सामान्य धारणा उत्पन्न हुई कि व्यक्ति के हितो के लिए यह अनिवार्य है कि ये तीनो शक्तिया पथक-पथक् हाथो में सौंपी जायें तथा उन्हें किसी एक ही व्यक्ति या निकाय के हाथों में केन्द्रित न किया जाय।

शासन के तीन अगो या शक्तियो में विभाजन एव पथक्करण अथवा तीनो शक्तियो को पथक निकायो में निहित करने की योजना ने इंग्लैंड एव फ्रास में नागरिक-स्वतन्त्रताओ के लिए होने वाले सघर्ष के समय अधिक महत्व प्राप्त कर लिया तथापि शासन के विविध कार्यों या शक्तियो का अस्तित्व उस समय से बहुत पहले स्वीकार कर लिया गया था। उदाहरणार्थ अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पालिटिक्स' में शासन के विचारात्मक, कार्यपालनात्मक एव न्याय सबधी कार्यों

के बीच भेद किया है।[1] उसके अनुसार शासन के विचारात्मक कार्य का क्षेत्र आधुनिक विधायिका के क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत था। वह "युद्ध, शांति, संधि, विधि निर्माण, वित्त, मृत्यु-दंड, देश निष्कासन अथवा सम्पत्ति का जब्त किया जाना आदि प्रश्नों के साथ सम्बंधित था।" अरस्तू ने जिन अन्य दो अंगों का उल्लेख किया है वे मोटे तौर पर आधुनिक कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के कार्यों के समतुल्य माने जा सकते हैं। इसी प्रकार का भेद पालीबियस, सिसरो तथा यूनान एवं रोम के अन्य राजनीतिक लेखकों ने भी किया था तथापि, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन यूनान या रोम में व्यवहार में शक्तियों का कोई निश्चित पृथक्करण विद्यमान था। वास्तव में एक्लीसिया (सभा) ही ऐथेंस नगरराज्य में तीनों शक्तियों का प्रयोग करती थी तथा रोम में सीनेट को विधायी एवं कार्यकारी दोनों सत्तायें प्राप्त थीं। यह सत्य है कि पालीबियस यह मानता था कि रोमी संविधान में अवरोध एवं संतुलन का सिद्धान्त निहित था। उसके मतानुसार सीनेट काउंसिल तथा ट्रिब्यून्स के मध्य सत्ता का संतुलन था।

मध्ययुग में शासन के विविध कार्यों के मध्य कोई भेद नहीं किया जाता था तथा समस्त शक्तियां "सम्राट" के व्यक्तित्व में निहित मानी गई थीं।

आधुनिक काल के आरम्भ में बोदा ने शासन के विविध कार्यों के बीच भेद किया तथा उसने इस बात पर विशेष रूप से बल दिया कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखा जाना चाहिए। बोदा ने यह तर्क दिया कि यदि सम्राट विधि निर्माता और न्यायाधीश दोनों हों तो उसका परिणाम यह होगा कि निर्दयी राजा निर्दयतापूर्वक दण्ड देगा तथापि फ्रांस में 18 वीं शताब्दी के मध्य तक निरंकुश सम्राटों का शासन चलता रहा तथा मांटेस्क्यू ने शासन की शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

आरम्भ में मांटेस्क्यू ने शासन के तीन कार्यों के बीच भेद स्पष्ट किया। अपने ग्रन्थ 'स्पिरिट आफ दी लाज' में ब्रितानी संविधान का विश्लेषण करते हुए उसने लिखा है कि, प्रत्येक शासन व्यवस्था में तीन प्रकार की शक्तियां होती हैं। विधायी शक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर निर्भर मामलों के बारे में कार्यपालिका शक्ति तथा राष्ट्रीय विधि पर आधारित मामलों के बारे में कार्यपालिका शक्ति। पहले के अनुसार, राजा या शासक अस्थायी या स्थायी विधियां बनाता है, एवं पहले से ही प्रचलित विधियों को संशोधित तथा रद्द करता है। दूसरे के अनुसार वह युद्ध अथवा शान्ति की स्थापना करता है राजदूत भेजता एवं स्वीकार करता है, सार्वजनिक सुरक्षा की स्थापना करता है तथा प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करता है। तीसरे के अनुसार वह अपराधियों को दंड देता है अथवा व्यक्तियों के बीच पैदा होने वाले झगड़ों का निर्णय करता है। इस अंतिम सत्ता को न्यायकारी सत्ता कहा जा सकता है तथा दूसरी शक्ति को राज्य की कार्यपालिका सत्ता मानें।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि तीनों शक्तियों का प्रयोग माटेंस्क्यू के अनुसार राजा या शासक स्वयं ही करता था परन्तु उसके कार्य तीन भिन्न प्रकार के थे। माटेंस्क्यू के बाद के लेखक सामान्यतया शासन के कार्यों के इस त्रिविध विभाजन को मानते रहे हैं। जर्मनी के ब्लुसली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के जे० जे० डेसले आदि कुछ विचारकों ने विधायी एवं कार्यकारी कार्यों को अनेक पृथक पृथक कार्यों में विभाजित करके अधिक विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। दूसरी ओर कुछ आधुनिक फ्रेंच लेखकों ने शासन को कार्यपालिका एवं विधायिका केवल दो भागों में ही विभाजित किया है और वे आगे जाकर कार्यपालिका को पुन तीन शाखाओं में विभाजित करते हैं। विशुद्ध कार्यपालिका प्रशासकीय एवं न्याय पालिका। आधुनिक काल में सामान्यतया वह वर्गीकरण मान्य है जो शासन के कार्यों को तीन शक्तियों—कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका में विभाजित करता है।

शक्तियों के पृथक्करण के बारे में माटेंस्क्यू का सिद्धान्त

शासन के तीन भिन्न कार्यों के बीच भेद करने के बाद माटेंस्क्यू ने अपने समकालीन फ्रांस एवं अन्य यूरोपीय देशों की दशा की तुलना इंगलैंड की दशा के साथ की तथा वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि यूरोप महाद्वीप के देशों में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता एवं अन्य अधिकार इस कारण सुरक्षित नहीं थे क्योंकि वहां तीनों शक्तियां सम्राट के हाथों में केन्द्रित थीं। दूसरी ओर इंग्लैंड की जनता अपने अधिकारों का पूरी तरह से उपभोग कर रही है क्योंकि वहां सम्राट की सत्ता सीमित थी। संसद विधि निर्माण के क्षेत्र में सर्वोच्च है, न्यायपालिका भी कार्यपालिका एवं विधायिका से पृथक एवं स्वतन्त्र है। इसी आधार पर माटेंस्क्यू ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि यदि जनता की स्वतन्त्रता एवं हितों की रक्षा करनी है तो शासन की तीनों शक्तियां पृथक होनी चाहिए। उसने लिखा कि—

'प्रजा की राजनीतिक—स्वतन्त्रता एक प्रकार की मानसिक शान्ति है जिसका जन्म व्यक्ति में उस समय होता है जब कि उसे अपनी सुरक्षा के विषय में भरोसा होता है। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि शासन का निर्माण इस प्रकार से हो कि एक मनुष्य दूसरे से न डरे।

'जब विधायी एवं कार्यपालिका शक्तियां एक ही व्यक्ति या शासकों के एक ही निकाय को दे दी जाती है तो स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि उस स्थिति में यह आशंका पैदा हो सकती है कि एक ही राजा या सिनेट निरंकुश विधियां बना कर उन्हें निरंकुशता-पूर्वक लागू कर सकता है।

"यदि न्यायपालिका शक्ति को विधायिका एवं कार्यपालिका से पृथक नहीं किया जाता तो भी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाएगी। यदि उसे विधायिका के साथ

मिला दिया जाए तो प्रजा का जीवन एवं उसकी स्वतन्त्रता निरंकुश नियन्त्रण के अधीन हो जायेगी क्योंकि न्यायाधीश ही विधि निर्माता बन जायेगा। यदि उसे कार्यपालिका के साथ मिला दिया जाये तो न्यायाधीश हिंसा एवं उत्पीडन का व्यवहार कर सकते है।

"यदि एक ही व्यक्ति या एक ही निकाय, चाहे वह सामन्तों का हो या जनता का हो, इन तीनो शक्तियों का प्रयोग करने लग जाय, अर्थात वही विधियां बनाये, वही उनका पालन कराए तथा वही व्यक्तियों के मुकदमो का तय करता सब कुछ समाप्त हो जायेगा।"

ऐसा प्रतीत होता है कि माटेस्क्यू ने ब्रितानी शासन पद्धति को पूरी तरह नही समझा तथा उसने मन्त्रिमडलात्मक शासन प्रणाली की उपेक्षा की, जो कि उस समय एक निश्चित रूप ले रही थी। अत उसने यह अनुभव नही किया कि इग्लैंड मे कार्यपालिका ससद के समक्ष अधीन एवं उसके प्रति उत्तरदायी है पृथक् एवं स्वतन्त्र नही। साथ ही उसके सिद्धान्त ने शीघ्र ही व्यापक समर्थन एवं लोकप्रियता प्राप्त कर ली तथा ब्रिटेन के तेरह अमेरिकीय उपनिवेशो ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा पर उस सिद्धान्त को सघीय एवं राज्यो के सविधानो म मूर्त रूप देने की चेष्टा की। मस्सेचुसटस के सविधान (1780 ई०) म कहा गया है कि, "विधायी विभाग कभी भी कार्यपालिका एव न्यायपालिका शक्तियो या दोनो मे से किसी शक्ति का प्रयोग नही करेगा तथा कार्यपालिका कभी भी विधायिका एव न्यायपालिका की शक्तियो या दोनो मे से किसी शक्ति का प्रयोग नही करेगी, जिसमे कि विधियो का शासन स्थापित हो सके मनुष्यो का नही।' फ्रांस म 1789 ई० के बाद जारी किये गये 'अधिकारो के घोषणा पत्र" के 16 वे अनुच्छेद म कहा गया है कि—' जिस समाज म शक्तियो का पृथक्करण नही किया गया है, उस समाज का कोई सविधान नही हो सकता।" 1791 ई० के फ्रासिसी सविधान ने कार्यपालिका एव विधायिका को एक दूसरे से स्वतन्त्र बना दिया था तथा न्यायाधीश भी निर्वाचित एव स्वतन्त्र होते थे।[3]

व्यवहार मे इस सिद्धान्त का सशोधन

18 वी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थाश म लोकतन्त्रात्मक आदर्श म शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। इसके भीतर एक मौलिक सत्य निहित है कि जनता के अधिकारो एव उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये यह अनिवार्य है कि न्यायपालिका केवल निष्पक्ष, ईमानदार एव विधि कुशल ही नही वरन वह पृथक, स्वतन्त्र तथा कार्यपालिका एव विधायिका के नियन्त्रण से मुक्त भी होनी चाहिये। वास्तव म, यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति तथा उनमे से जो भ्रष्टाचारी है या जो अपना काम समुचित रूप से करने के लिये

असमय हैं, ऐसे व्यक्तियों को हटाने के लिये कोई प्रबन्ध होना चाहिए तथापि यह बात अब व्यापक तौर पर स्वीकार कर ली गई है कि न्यायपालिका शेष दो अंगों से पृथक एवं स्वतन्त्र होनी चाहिए।

यह नहीं कहा जा सकता कि कार्यपालिका एवं विधायिका की स्वतन्त्रता के बारे में तथा इन दो अंगों के मध्य क्या सम्बन्ध होना चाहिए। यह कहा जा चुका है कि शासन एक सावयव ईकाई है तथा यह सम्भव नहीं है कि उसके विविध अंगों को पृथक एवं स्वतन्त्र रखा जा सके। न्यायपालिका के बारे में यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि उसे जहां तक सम्भव हो अधिक-से अधिक स्वतन्त्र रखा जाय तथापि ऐसे अनेक अवसर आते हैं जिनमें उसका सम्पर्क कार्यपालिका एवं विधायिका के साथ होता है तथा इन तीनों में पारस्परिक हस्तक्षेप भी होता है। उदाहरण के लिए यद्यपि न्यायाधीश का कार्यकाल स्थायी होता है तथापि उनकी नियुक्ति सामान्यतया कार्यपालिका के द्वारा की जाती है कार्यपालिका को दया के नाम पर क्षमा प्रदान करने का अधिकार भी होता है। इसका परिणाम यह होता है कि दया, न्यायकल्पना एवं कानूनी न्याय की अपेक्षा वास्तविक न्याय की आड़ में न्यायाधीशों के निर्णयों को कार्यपालिका द्वारा उलट दिया जाता है। इसके अतिरिक्त जिन देशों में विधि शासन प्रचलित होता है वहां शासकीय अधिकारियों पर अपने कर्तव्यपालन के सिलसिले में किए गए कार्यों के लिए प्रशासकीय न्यायालयों की अपेक्षा देश के साधारण न्यायालयों में ही मुकदमे चलाये जाते हैं। विधायिका द्वारा निर्माण की जाने वाली विधियों की व्याख्या एवं उनको लागू करने का काम न्यायालय करते हैं। अतः इस काम के सिलसिले में वे कभी कभी उनमें वृद्धि कर देते हैं। इस प्रकार न्यायाधीशों द्वारा निर्मित विधियों का जन्म होता है। यदि विधियों की न्यायालयों द्वारा की जाने वाली व्याख्या विधायिका की इच्छाओं के विपरीत हो या उससे विधि के कुछ दोष या अभाव प्रकट होते हों तो विधायिका उन विधियों को संशोधित या परिवर्द्धित कर सकती है अथवा उस विषय में नई विधियों का निर्माण कर सकती हैं। संघीय या अध्यक्षात्मक शासन पद्धति वाले राज्यों में न्यायपालिका को यह अधिकार होता है कि वह विधियों तथा कार्यपालिका के कार्यों एवं आदेशों की विहितता के बारे में निर्णय करें। इस प्रकार कुछ रीतियों से न्यायपालिका एवं अन्य दोनों अंग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।[4]

यह अनुभव किया गया है कि कार्यपालिका एवं विधायिका के सम्बन्ध न्यायपालिका के साथ सरकार के शेष दो अंगों के सम्बन्धों की अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ हैं तथा उनके कार्य कहीं अधिक आपस में सम्बन्धित व एक-दूसरे पर निर्भर हैं। यदि विधायिका ऐसी विधि बनाने से मना कर दे जो कार्यपालिका की दृष्टि में बहुत आवश्यक हो या वह आय के साधनों अथवा कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित व्यय की मांगों को अस्वीकार कर दे तो कार्यपालिका उस स्थिति में कोई कार्य ही

नही कर सकती। विधायिका भी कायपालिका के सहयोग के बिना अपना काम नही कर सकती क्योकि कायपालिका को ही यह पता होता है कि राज्य की विधियो मे क्या परिवतन होने चाहिए तथा किन नई विधियो को पारित किया जाना चाहिए। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'रिप्रेजेन्टेटिव गवनमट' म लिखा है कि यदि शासन का एक विभाग दूसरे विभागो से पूणतया पृथक् कर दिया जाये तो उसका परिणाम यह होगा कि विभाग विपरीत लक्ष्यो के लिए काय करने लगेंगे तथा प्रशासकीय-क्षमता का ह्रास होगा। विशेषकर जहा कायपालिका एव विधायिका के सम्बन्ध अच्छे नही हैं अथवा उनम राजनीतिक मतभेद है वहां ऐसा होना निश्चित है। "जान बूझकर या बिना जाने-बूझे कायपालिका राज्य की विधियो का पालन उस भावना से नही करायेगी जिस भावना मे उनका निर्माण किया गया था।'

सयुक्तराज्य अमेरिका म कायपालिका को विधायिका से पथक् करने एव दोना का स्वतन्त्र तथा सत्ता म समान बनाये रखने की चेष्टा की गई ह। वहा शासन व्यवस्था को खडित होने से बचाने मे दलीय व्यवस्था महत्त्वपूण काय करती ह दल कायपालिका एव विधायिका के मध्य सम्बन्धो की स्थापना करता है। यह नही भुलाना चाहिए कि सयुक्त राज्य अमरिका म भी कायपालिका एव विधायिका मध्यपूण पथक्करण नही है। राष्ट्रपति काग्रेस के नाम सदेश भेजता है तथा कभी-कभी स्वय वहा भाषण भी देता है साथ ही उसे विधियो के बारे म सीमित निषेधाधिकार भी प्राप्त हैं। वह सिनेट की एक समिति के साथ विचार विमश करके विदेशी सम्बन्धो का सचालन करता है तथा राष्ट्रपति द्वारा की गई अनेक नियुक्तियो क लिए सिनट द्वारा स्वीकार किया जाना अनिवाय होता है। राष्ट्रपति के द्वारा की गई सधिया काग्रेस द्वारा स्वीकार कर ली जाने पर ही लागू की जाती है।[8]

शक्तियो के पथक्करण के सिद्धान्त के विषय मे एक अन्य बात की ओर यहा ध्यान दिलाया जा सकता है। माटेस्क्यू ने यह मान लिया था कि तीनो शक्तियो का स्तर एक समान है तथा उनकी सत्ता भी समान है। परन्तु व्यवहार म वैसा नही है। ससदात्मक शासन पद्धति वाले देशो मे विधायिका की उच्चता तथा जनता की प्रतिनिधि होने के नाते उसकी सर्वोपरिता को व्यापक तौर पर स्वीकार किया गया है। वस्तुत ब्लुश्ली इससे भी आगे निकल गया है। वह कहता है कि "जिस प्रकार पूण ईकाई अपने किसी अग या सदस्य से कुछ-न-कुछ अधिक होती ह उसी प्रकार विधायी सत्ता अन्य किसी विशेष सत्ता की अपेक्षा उच्च होती है।" गिल क्राइस्ट का मत है कि 'विधायिका की सत्ता वित्तीय-सत्ता के कारण विशेषत सिद्ध हो जाती है। चाहे सैद्धान्तिक दष्टि से कायपालिका कितनी भी स्वतन्त्र हो वित्तीय व्यवस्था पर अपने नियन्त्रण के द्वारा विधायिका उसकी शक्ति को सीमित तथा नियन्त्रित करती है। इसके अतिरिक्त अध्यक्षात्मक या सघात्मक देशो मे

न्यायपालिका को कार्यपालिका एवं विधायिका की अपेक्षा विलक्षण तथा उच्चतर स्थान प्राप्त होता है। गिलक्राइस्ट ने कहा है कि, "क्योंकि संवैधानिक विधि (संविधि) साधारण विधि की अपेक्षा उच्चतर होती है अतः न्यायालयों को यह निर्णय करना होता है कि विधायिका एवं कार्यपालिका के कार्य असंवैधानिक तो नहीं हैं अर्थात् वे विधायिका की हैं। संवैधानिक क्षमता के भीतर हैं या नहीं। यही बात न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के सम्बन्धों के बारे में भी सही है। वास्तव में न्याय का तत्त्व इतना सर्वव्यापक है कि पूर्ण पृथक्करण सम्भव ही नहीं है।

अतएव व्यवहार में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को संशोधित करना पड़ा है। तथा वर्तमान समय में केवल इस बात पर ही आग्रह किया जाता है कि न्यायपालिका को जहां तक सम्भव हो सके अधिकतम स्वतन्त्रता दी जाये।

शक्ति पृथक्करण के साथ नियन्त्रण एवं सन्तुलन का सिद्धान्त

जैसा कि कहा जा चुका है पूर्ण शक्ति पृथक्करण न सम्भव ही है और न ही आवश्यक। सरकार एक सावयवी की भांति कार्य करती है अतः सरकार के तीनों अंगों में कार्य विभाजन रखते हुए भी यह आवश्यक है कि इनमें परस्पर सम्बन्ध और सम्पर्क सूत्र इस प्रकार बनाया रखा जा सके जिससे वे एक दूसरे पर नियन्त्रण एवं सन्तुलन बनाये रख सकें। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को एक अन्य सिद्धान्त, नियन्त्रण एवं सन्तुलन के सिद्धान्त के साथ संयुक्त कर इसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है जिससे शक्तियों के पृथक्करण होने से होने वाली हानियों से बचा जा सके तथा शासन के प्रत्येक अंग को एक दूसरे पर भी इस प्रकार निर्भर कर दिया जावे जिससे कोई भी अंग अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहते हुए मनमानी नहीं कर सके। इससे शासन के विभिन्न भाग एक-दूसरे से सन्तुलित हो जाते हैं क्योंकि किसी भी अंग के द्वारा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग दूसरे अंग के नियन्त्रण से रोक दिया जाता है। शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को नियन्त्रण एवं सन्तुलन के सिद्धान्त के साथ अमली जामा सर्वप्रथम अमेरिकी राजनीति की व्यवस्था में पहनाया गया है। कार्यपालन सम्बन्धी कार्यों का दायित्व कार्यपालिका (राष्ट्रपति) का, विधायन सम्बन्धी कार्य विधायिका (कांग्रेस) तथा न्यायपालन सम्बन्धी शक्तियों का ब्यौरा सर्वोच्च न्यायपालिका द्वारा किया जाता है। लेकिन इस कार्य विभाजन के बावजूद भी तीनों अंग एक-दूसरे पर नियन्त्रण रखते हुए सन्तुलन की स्थिति बनाये रखते हैं। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति का कार्य है शासन का संचालन करने के लिए उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करना, बाहरी देशों से सन्धि एवं समझौते करना, लेकिन इस सन्दर्भ में राष्ट्रपति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है उसे इन नियुक्तियों, सन्धियों तथा समझौतों पर सीनेट की स्वीकृति लेनी होती है। इसी प्रकार कांग्रेस का कार्य है विधान निर्माण लेकिन कोई भी विधेयक बिना राष्ट्रपति

के हस्ताक्षरो के कानून का रूप धारण नही कर सकता। काग्रेस द्वारा बनाये गये विधेयक पर राष्ट्रपति हस्ताक्षर कर अपना नियत्रण स्थापित करता है इससे काग्रेस जो चाहे कानून नही बना सकती। इसी प्रकार व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका दोनो पर नियत्रण सर्वोच्च न्यायपालिका द्वारा रखा जाता है। इस प्रकार अमेरिका मे शक्ति पृथक्करण के साथ साथ नियत्रण एव सतुलन के सिद्धान्त को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सदर्भ मे सोचा गया है।

शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त मे नवीन प्रवृत्तिया—

लेसली लिपसन[6] (Leslie Lipson) एव एम० जे० सी० वाइले[7] (M J C Vile) ने कहा है कि आज के सदर्भ मे शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त पुराना (Out dated) पड गया है। आज शक्तियो के पृथक्करण का परिवेश, परिस्थितिया एव सरचनाए बदल गयी हैं। इसका प्रारम्भिक स्वरूप आज समाप्त हो गया है अथवा वैसा नही रह गया है जैसा कि पहले था। इसीलिए एम० जे० सी० वाइले का कहना है कि 'शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त आज भी किसी न किसी रूप मे बना हुआ है परन्तु जिन धारणाओ पर वह आधारित है वे धारणाए पुरानी पड गयी है।'[8] सक्षेप मे आज शक्ति पृथक्करण का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। इस सदर्भ मे सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि ऐसे कौन से कारण रहे है जिन्होने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को 'आउट डेटेड' (Out dated) बना दिया है। यहा हम उन कारणो का उल्लेख करना उचित समझेंगे जिन्होने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को पुराना बना दिया है। वाइले एव लेसली लिपसन ने शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के स्वरूप मे परिवर्तन के लिए निम्नलिखित कारणो को उत्तरदायी ठहराया है—

1 एम० जे० सी० वाइले एव लिपसन दोनो की ही मान्यता है कि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को सबसे ज्यादा धक्का राजनीतिक दलो ने पहुचाया है। जब राष्ट्रपति जिस दल का प्रतिनिधि होता है और यदि उसी दल का बहुमत काग्रेस मे है तो जैसा राष्ट्रपति कहता है काग्रेस मान लेती है और जैसा काग्रेस कहती है राष्ट्रपति वैसा ही कर देता है। अत शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त मूलत इस बात पर आधारित था कि विधायिका एव कार्यपालिका मे शक्तियो का विभाजन होना चाहिए। दोनो एक-दूसरे पर नियत्रण रखते हुए सतुलन अवश्य स्थापित करें परन्तु उनमे आपस मे कोई सम्बन्ध नही होने चाहिए परन्तु आज व्यवहार मे स्थिति उस समय परिवर्तित हो जाती है जब राष्ट्रपति का दल वही हो जिसका काग्रेस मे बहुमत है। अत राजनीतिक दलो ने

कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका को जोड दिया है। इसके अति रिक्त शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को सीनेट की सौहार्द्रता (Senatorial courtesy) जैसी विकसित परम्पराओ म भी नुकसान पहुचाया है।

2 लेसली लिपसन का यह भी कहना है कि आज सरकार के तीन परम्परागत अगो (विधायिका कार्यपालिका एव न्यायपालिका) की अपेक्षा एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनौपचारिक अग अथवा शाखा विकसित हो गयी है जिसने इन तीनो अगो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। सरकार के तीनो अगो की क्रियाशीलता भूमिका एव महत्ता इसी शाखा की क्रियाशीलता भूमिका एव महत्ता पर निर्भर करती है। इसीलिए लार्ड ह्यूवट ने कहा है कि आज नौकरशाही अपने विशेष ज्ञान के कारण व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एव न्यायपालिका पर छाने लगी है।[9] अत आज सरकार के इन तीनो परम्परागत अगो की अपेक्षा नौकर शाही का महत्त्व काफी अधिक बढ गया है और यहा तक कि तीनो अग बिना नौकरशाही की सहायता के कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सकते।

3 लिपसन का यह भी कहना है कि शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त मूलत तीनो अगो की समान शक्ति के सिद्धान्त पर आधारित था अर्थात शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की मान्यता है कि तीनो अगो की शक्तिया समान है अत तीनो अगोको अलग अलग कार्यों का सम्पादन करना चाहिए। तीनो अग एक दूसरे से स्वतन्त्र रहने चाहिए तथा किसी भी अग को दूसरे अगो के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। अत परम्परागत शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि सरकार के तीनो अगो की शक्तिया समान हैं लेकिन आज राजनीति विज्ञान की दुनिया म होने वाले परिवर्तनो ने विषय मे अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं। आज एक ओर व्यवस्थापिका की शक्तिया घट रही हैं।[10] तो दूसरी ओर कार्यपालिका की शक्तियो म भारी वृद्धि हो रही है।[11] अत जिस आधारशिला पर, कि सरकार के तीनो अगो की शक्तिया समान होनी चाहिये आज वह आधार शिला ही समाप्त होती जा रही है। अत कार्यपालिका शक्तियो मे वृद्धि तथा विधायिका के कार्यों मे कमी ने भी शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को पुराना बना दिया है।

4 सरकार को एक सावयवी (Organic) कहा जाता है अत चूंकि सरकार एक सावयवी है अत सावयवी के अग एक-दूसरे से जुडे हुए तथा परस्पर निभर होने चाहिये । यही स्थिति विधायिका, कार्यपालिका एव न्याय पालिका की है। सरकार के ये तीनों अग अपने कार्यों के निष्पादन मे एक-दूसरे पर इतने अधिक निभर रहने लगे है कि उनका पृथक्करण करना अप्राकृतिक होगा। अत आज आवश्यकता शक्तियों के पृथक्करण की नही अपितु उनमे सहयोग एव समन्वय स्थापित करने की है। आज सरकार की संस्थाओं एव संरचनाओं पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता। आज महत्त्व इस बात का है कि वास्तविक राजनीतिक प्रक्रियाएं किस प्रकार की हैं ? अत आज सरकार के अग अथवा सरचनाए मात्र औपचारिक बनकर रह गयी है। आज संस्थाओं व संरचनाओं के स्थान पर प्रक्रियाओं की प्रधानता के कारण आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था मे शक्तियों के पृथक्करण का कही स्थान ही नही रह जाता है।

5 इसी प्रकार इस सन्दर्भ मे सेमली लिपसन का कहना है कि आज निर्णय लेना बहुत अधिक जटिल हो गया है (Complexities of the decision making) तथा उनका क्रियान्वयन उससे भी अधिक दुष्कर हो गया है। परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार निर्णय लेना, नीति निर्माण करना तथा योजनाओं का निर्माण करना विधायिका का काय था लेकिन आज निर्णय प्रक्रिया की जटिलता के कारण तथा निर्णय लेने तथा निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए एक विशेष प्रकार की विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त निर्णय लेने एव निर्णयों का सम्यक क्रियान्वयन हो रहा है अथवा नही, इसकी जाच के लिए विशेषज्ञता के साथ-साथ पर्याप्त समय की अपेक्षा होती है। विधायिका के पास न तो इतनी विशेषज्ञता ही है और न ही इतना समय कि वह उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा मे सकारात्मक कदम उठा सके। अत आज सरकार के सभी अग नौकरशाही के साथ निर्णय लेने मे सलग्न हैं।

6 तार्किक दृष्टिकोण से भी परीक्षण करने से परिलक्षित होता है कि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का कोई औचित्य नही रह गया है। अब राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों के लक्ष्य सामान्य होते हैं। चाहे सरकार किसी भी दल की बने, समाज एव सरकार के

लक्ष्यों मे कोई विशेष अन्तर नही रह सकता। अत लोकतान्त्रिक शासनो म सरकार के विभिन्न अग एक दिशा मे जाने के लिए प्रेरित हो, इसके लिए पृथक्करण अनावश्यक हो जाता है। चूंकि सरकार के सभी अगो के उद्देश्य सामान्य हैं अत उनमे शक्ति पृथक्करण करना तर्कसगत नही होगा।

7 एम० जे० सी० वाइले का कहना है कि आज शक्ति-पृथक्करण से सम्बन्धित अवधारणा म भी परिवर्तन हो चुका है। शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त मूलत जिस "शक्ति" की अवधारणा पर आधारित था आज उस "शक्ति" का ही अर्थ बदल गया है। आज शक्ति का केवल राजनीतिक पहलू ही नही अपितु आज इसके सामाजिक आर्थिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि स्वरूप विकसित हो गये हैं। आधुनिक प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओ म राज शक्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण शक्ति जन शक्ति हो गयी है जिसके सामने सभी प्रकार की शक्तियो को झुकना पडता है। यहा तक कि जन शक्ति की अवहेलना ज्यादा समय तक तानाशाही-व्यवस्था में भी नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त आजकल जन शक्ति के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति का भी अभ्युदय हो गया है जिसके समक्ष कभी-कभी जन शक्ति को भी झुकना पडता है और वह है आर्थिक शक्ति। इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति का भी नियत्रण एव निर्देशन होता है।

इस प्रकार अनेक कारणो ने आज शक्ति-पृथक्करण की जगह शक्ति सहयोग एव शक्ति समन्वय की भावना को पैदा कर दिया है जिससे शक्ति पृथक्करण का परम्परागत सिद्धान्त पुराना-सा पड गया है।

पाद टिप्पणी

1 अरस्तु दि पॉलिटिक्स (ट्रासलेटेड) अरनस्ट बार्कर, न्यूयार्क, आक्सफोर्ड प्रेस 1946 बुक IV

2 मोण्टेस्क्यू दि स्पिरिट आफ दि लाज, बुक XI लन्दन 1966, चेप्टर VI

3 वही,

4 स्ट्राग सी० एफ०, माडन पलिटिकल कान्स्टीट्यूशन्स, लन्दन, सिजविक एण्ड जेक्सन, 1972 प 200

5 वही,
6 लेसली लिपसन, ग्रेट इस्यूज ग्रॉफ पॉलिटिक्स,
7 वाइले एम० जे० सी० कान्स्टीटयूशनलिज्म एण्ड सेपरेशन ग्रॉव पावर्स, लन्दन, 1967
8 वही,
9 वही,
10 वही,
11 वही।

अध्याय 17

राजनीतिक दल नए सदर्भ, बदलते क्षितिज

आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था के युग म राजनीतिक दलो की भूमिका वही है जो भूमिका शरीर म रक्त की होती है। बिना राजनीतिक दलो के लोकतान्त्रिक व्यवस्था की कल्पना भी नही की जा सकती। इन्हें राजनीतिक चेतना के केन्द्र तथा राजनीतिक विकास एव आधुनिकीकरण के वाहन के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। एडमण्ड बर्क सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होने यह अनुभव किया कि स्वतन्त्र शासन के सचालन के लिए राजनीतिक दल अनिवार्य है।[1] उन्होने लिखा है कि चाहे राजनीतिक दल श्रेष्ठ कार्य करें अथवा निकृष्ट उन्हे स्वतन्त्र शासन (उत्तरदायी शासन) से पृथक नही किया जा सकता। लोकमत का सग्रह करने से लेकर नीतियो के निर्धारित अवस्था तक राजनीतिक दल आवश्यक तथा अपरिहार्य हैं। उनके अभाव म निर्वाचकगण एक असगठित भीड का रूप ले लेते हैं। यह अनिवार्य है कि किसी-न किसी प्रकार मतदाताओ के सामने कुछ विकल्प रखे जाएँ जिनम से किसी एक को वे चुन सकें। दल ऐसे विकल्प हैं। वे निर्वाचको के सम्मुख दो या अधिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं तथा वे विशिष्ट राजनीतिक नेताओ के साथ सम्बद्ध होते हैं जो यह वचन देते है कि यदि उन्हे सत्ता प्रदान की गई तो वे उन कार्यक्रमो को क्रियान्वित करेंगे।

राजनीतिक दलो से अभिप्राय

राजनीति विज्ञान म राजनीतिक दल की परिभाषा करना वास्तव म एक बहुत बडी समस्या है। अनेक राजनीति वेत्ताओ ने इसकी अनेक प्रकार से परिभाषा देने के प्रयास किए हैं। इन सन्दर्भ मे सर्वप्रथम हम एडमण्ड बर्क को लेते हैं जिनका कहना है कि 'राजनीतिक दल व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य

सामान्य सिद्धान्तो पर सहमत हो तथा सामूहिक प्रयत्नो द्वारा राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करने के लिए एकता के सूत्र म बधे हो।" लेकिन आज के सदर्भ मे यह परिभाषा उचित प्रतीत नही होती। इसी प्रकार मैकाइवर ने भी "दि माडन स्टेट' मे राजनीतिक दल की परिभाषा देते हुए कहा है कि "राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो किसी सिद्धान्त अथवा नीति का समथन करने के लिए सगठित किया जाता है तथा है तथा जो सविधानिक साधनो का प्रयोग करके शासन का निर्माता बनने की चेष्टा करता है।'[3] अत सक्षेप मे राजनीतिक दलो की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है

'राजनीतिक दल एक ही विचारधारा विशेष से सम्बन्धित व्यक्तियो का एक ऐसा समुदाय है जो सविधानिक साधनो के माध्यम से शासन सत्ता प्राप्त कर सविधानिक साधनो के माध्यम से ही उसकी क्रियान्विति करता है। इस सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल व्यक्तियो का एक ऐसा समूह है जो विचारधारा विशेष के आधार पर एक दूसरे से जुडे हुए रहते हैं जो विचारधारा का अनुसरण करते हुए एक कायक्रम विशेष लेकर जनता के सम्मुख जाते है और सविधानिक तथा शाति पूण तरीको (निर्वाचन) से जनता की सहमति एव स्वीकृति प्राप्त कर राजनीतिक सत्ता अपने हाथो मे लेते है और उसका सचालन करते है। इस सन्दभ म यह भी उल्लेखनीय है कि राजनीतिक दल दबाव समूह नही होते, इन दोनो म गहरा अन्तर पाया जाता है।

राजनीतिक दल एव दबाव समूहो मे अन्तर

राजनीतिक दल एव दबाव समूहो मे गहरा अन्तर यह है कि [illegible] दलो के सगठन का आधार विचारधारा विशेष होती है जबकि दबाव [illegible] अपनी कोई विचारधारा नही होती। राजनीतिक दलो का एक मात्र [illegible] है राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर उसका सचालन करना, लेकिन [illegible] प्राप्त करने के साधन साविधानिक हो यह अनिवाय होता है [illegible] उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना न होकर केवल [illegible] बात के लिए दबाव डालना है कि उनके हितो के [illegible] तथा उनकी मागो की पूर्ति की दशा म प्रयास [illegible] नीतिक दल स्थायी होते हैं जबकि दबाव समू [illegible] देश म होने वाले निर्वाचनो मे भाग लेने [illegible] तक काय करते हैं जब तक कि उनकी [illegible] माग पूरी होती है त्यो ही दबाव [illegible] दल तथा दबाव समूह म [illegible] आधारभूत अन्तर विद्यमान है।

राजनीतिक दलों का जन्म तथा विकास

एम० दुवरजिये ने अपनी पुस्तक "पॉलिटिकल पार्टीज" में कहा है कि यद्यपि "दल" शब्द का प्रयोग प्राचीन गणतन्त्र के गुटों तथा पुनर्जागरण काल के इटली में संविधानिक गुटों व क्रांतिकारी सभाओं के सदस्यों तथा क्लबों के लिए भी किया गया है क्योंकि इन सब संगठनों का उद्देश्य राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना व उसका प्रयोग करना था तथापि आधुनिक अर्थ में, उन्हें राजनीतिक दल कहना सही नहीं होगा। वे आगे कहते हैं कि वास्तविक अर्थ में राजनीतिक दलों का निर्माण हुए मुश्किल से एक शताब्दी बीती है। सन 1850 में संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़कर संसार के किसी भी देश में आधुनिक अर्थ में राजनीतिक दलों का निर्माण नहीं हुआ। उस समय विभिन्न विचारधाराओं में या सम्प्रदायों में लोक मनोरंजन गृहों, दार्शनिक समुदायों तथा संघीय समूहों के रूप में तो संगठित थे परन्तु तब तक वास्तविक दलों का निर्माण नहीं हुआ था। सन 1850 तक अनेक राष्ट्रों में राजनीतिक दलों का निर्माण हो चुका था तथा जिन देशों में ऐसा नहीं हुआ था वहां उनका निर्माण करने की चेष्टा की जा रही थी।[4]

आधुनिक स्वरूप में राजनीतिक दलों का विकास लोकतन्त्र के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। लोकमताधिकार तथा संसदीय विशेषाधिकारों के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध है। ज्यों ज्यों संसदों की शक्तियां तथा उनके कार्य बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों उनके सदस्य इस बात की आवश्यकता अनुभव करते जाते हैं कि समान सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने की दृष्टि से उन्हें परस्पर समूहों का निर्माण कर लेना चाहिए। मताधिकार का विस्तार हो जाने के साथ ही यह आवश्यक हो जाता है कि मतदाताओं को ऐसी समितियों में संगठित किया जावे जो उम्मीदवारों (प्रत्याशियों) का प्रचार कर सकें तथा उनके लिए मत प्राप्त कर सकें। इस प्रकार राजनीतिक दलों का उद्भव संसदीय दलों एवं निर्वाचक समूहों व समितियों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।[5]

राजनीतिक दलों के कार्य

राजनीतिक दल लोकतान्त्रीकरण एवं आधुनिकीकरण की सन्तति है। लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। दल की संरचना, उप-संरचनाओं की विद्यमानता तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति एवं विशेषताओं के द्वारा दल के कार्यों एवं भूमिका का निर्धारण होता है। सामान्यतः राजनीतिक दलों के कार्यों का निम्न प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है—

सरकार एवं जनता के बीच सम्पर्क सूत्र

राजनीतिक दल सरकार एवं जनसामान्य (मतदाताओं) के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। सरकार की किसी भी विषय में क्या नीति है अथवा वह क्या निर्णय लेने जा रही है इसकी जानकारी मतदाताओं को तथा किसी भी विषय विशेष में मतदाताओं का क्या दृष्टिकोण अथवा माग है इसकी जानकारी सरकार तक सम्प्रेषित करना राजनीतिक दलों के कार्य क्षेत्र में ही आता है। वह सरकार की नीतियों की व्याख्या करता है तथा सरकार के कार्यों के बारे में जनता को समझाता है। राजनीतिक व्यवस्था में उठने वाली मागों को दल सरकार तक पहुचाते हैं एवं सत्ता प्राप्त करने अथवा सत्ता में बने रहने के लिए लोकमत का नाडी ज्ञान प्राप्त करने में लगे रहते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों को जनमत का वाहक, सरकार एवं मतदाताओं का मध्यस्थ आदि अनेक रूपों में जाना जाता है।

वैकल्पिक कार्यक्रमों की प्रस्तुति

राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था में नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्माण कर्त्ता एवं सचालनकर्त्ता की भूमिका भी निभाते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल चुनावों के समय अपनी अपनी नीतियां एवं कार्यक्रम तैयार कर, उसे जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं और उन नीतियों एवं कार्यक्रमों पर जनता का मत प्राप्त कर या तो सरकार बनाते हैं अथवा विरोध में बैठते हैं। चुनावी प्रतियोगिता में जनता के समक्ष अनेक नीति विकल्प प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें से जनता एक का चयन कर दल विशेष को शासनाधिकार प्रदान करती है। इस प्रकार सरकारों को क्या करना है, किस दिशा में समाज को ले जाना है वह सब राजनीतिक दल जनता से तय कराने के लिए अनेक विकल्प वाले कार्यक्रम प्रस्तुत कराने के साधन होते हैं।

शासन की वैधता सरकार पर नियन्त्रण

शासन सत्ता की वैधता एवं सरकार पर नियन्त्रण रखने सम्बन्धी कार्य भी राजनीतिक दलों द्वारा सम्पादित होते हैं। शासन सत्ता का स्रोत क्या है? यह राजनीतिक दलों द्वारा ही निर्धारित होता है। शासक शासन सत्ता में जनसहमति के माध्यम से आये हैं अथवा उन्होंने सत्ता वैसे ही हथियाली है, यह निर्धारण राजनीतिक दलों द्वारा ही किया जाता है। राजनीतिक दल जन सहमति प्राप्त करने हेतु अपने अपने उम्मीदवार मैदान में उतारते हैं और जिसे जनता शासन सत्ता सौंपती है वह दल शासन सचालन करता है। इतना ही नहीं राजनीतिक दल सरकार पर नियन्त्रण स्थापित करते हैं। जो दल सत्तारूढ़ है वह कोई जन हित विरोधी कदम न उठाने इसके लिए विरोधी दल सदैव सत्तारूढ़ दल पर

अपना नियन्त्रण रखते हैं और उन्हें जनहित विरोधी नियन्त्रण लेने से रोकते हैं। इस रूप में दल विरोध की भूमिका अदा करते हैं।

राज नेताओं का चयन तथा निर्वाचनों का कार्यान्वयन

यह राजनीतिक दलों का अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है। राजनीतिक दल यह सुविधा प्रदान करते हैं कि विभिन्न दलों के उम्मीदवारों का चयन कर उनको राष्ट्र के नेतृत्व की बागडोर सौंपते हैं। राजनीतिक दल, प्रतियोगी चुनावों में विभिन्न प्रत्याशियों के रूप में मतदाता के सामने अनेक विकल्प प्रस्तुत कर जन-प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। ये जन-प्रतिनिधि राजनेताओं का रूप धारण कर लेते हैं तथा शासन का संचालन करते हैं। अतः राजनीतिक दल निर्वाचनों का कार्यान्वयन कर, निर्वाचनों के माध्यम से नेताओं की भर्ती एवं चयन कर उन्हें शासन की बागडोर सौंपते हैं तथा उनसे जन इच्छाओं के अनुसार शासन का संचालन करवाते हैं। वे शासन के लिए योग्य व्यक्तियों को चुनते एवं प्रशिक्षित करते हैं।

शासन के विभिन्न अंगों में सहयोग

राजनीतिक दलों द्वारा शासन कार्य में समन्वय स्थापित करने सम्बन्धी कार्यों का भी सम्पादन किया जाता है। एपस्टीन का कहना है कि राजनीतिक दलों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है शासन के विभिन्न अंगों में सहयोग एवं समन्वय की भावना पैदा कर उन्हें क्रियाशील रखना है। संसदीय शासन में तो राजनीतिक दलीय अनुशासन के कारण कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता ही है, अध्यक्षीय शासन में भी राष्ट्रपति एवं कांग्रेस में उस समय मधुर सम्बन्ध होते हैं जब कांग्रेस में उसी दल का बहुमत होता है जिस दल का राष्ट्रपति होता है। अतः दल सरकार के अंगों में सहयोग एवं समन्वय की भावना पैदा करते हैं तथा उसे बढ़ाने में योगदान करते हैं।

समाज में एकता का स्थापक

समाज में एकता स्थापित करने, एकीकरण स्थापित करने सम्बन्धी कार्य भी राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक समाज में अनेक समूह एवं हित होते हैं। इनकी आवश्यकताएं एवं मांगें बार बार एक-दूसरे के प्रतिकूल बनकर पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न करती हैं। पारस्परिक विरोधी मांगें राजनीतिक व्यवस्था को तोड़ने का कार्य करने लगती हैं। राजनीतिक दल, विरोधी समूह मांगों में चुनावी प्रतियोगिता की प्रक्रिया के द्वारा तालमेल स्थापित करने का कार्य करते हैं। दल एकीकरण करने के साथ ही पार्थक्य को बनाए रखने का कार्य भी करते हैं।

पति मार्शल अयूब खाँ द्वारा सत्ता का अपहरण किये जाने से लेकर जुलाई 1962 तक जबकि वहाँ नगरपत-असेम्बली की स्थापना की गई, और आज भी, जब पाकिस्तान के सभी दल प्रतिबन्धित हैं पाकिस्तान एक ऐसा ही राज्य है। द्वितीय वे राज्य हैं जिनमें राजनीतिक दलों का अस्तित्व तो है, परन्तु वे सभी अविकसित अवस्था में हैं अर्थात भली प्रकार संगठित नहीं हैं। ऐसी स्थिति अफ्रीका के राज्यों, पश्चिम एशिया के देशों तथा कुछ लातीनी अमेरिकी राज्यों में पाई जाती है। अन्य राज्यों में, जिन्हें हम आधुनिक या विकसित राज्य कह सकते हैं, चाहे वे लोकतन्त्रात्मक हों अथवा एकाधिकारवादी शासन का सचालन सुगठित राजनीतिक दलों की सहायता से होता है। यह सच है कि एकाधिकारवादी राज्यों में केवल एक ही राजनीतिक दल होता है जिसे शासक दल भी कहा जा सकता है उन देशों में अन्य कोई दल न तो सगठित ही किया जा सकता है न खुले रूप में कार्य ही कर सकता है। इसका कारण यह है कि एकाधिकारवादी राज्यों में अन्य राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, तथा जनता को समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता तथा अन्य मौलिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है। दूसरी ओर समस्त लोकतान्त्रिक राज्यों में अनेक राजनीतिक दल होते हैं जिनकी संख्या कभी कभी दर्जनों हो जाती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में नागरिकों को मौलिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं जिनमें मुक्त रूप से समुदाय और संघ बनाने की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है।

लोकतन्त्रात्मक राज्यों में दो प्रकार की दलीय-व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं—द्विदलीय व्यवस्था तथा बहुदलीय व्यवस्था। यह विभाजन बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह शासन के सचालन तथा उसके स्थायित्व को बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित करता है। यद्यपि यह दावा किया जाता है कि बहुदलीय व्यवस्था अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण होती है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका अधिक सुदृढ़ व स्थायी होती है तथा उसकी कार्य तुलनात्मक दृष्टि से बहुत अधिक सामंजस्यपूर्ण, शान्तिपूर्ण एवं सुगम होती है। बहुदलीय व्यवस्था के बारे में कहा जाता है कि राष्ट्र का प्रतिनिधित्व द्विदलीय व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक सही रूप में करती है अतः वह तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लोकतन्त्रात्मक होती है। यद्यपि यह सही है कि बहुदलीय ... आन्तरिक तनावों, दबावों, मतभेदों तथा संघर्षों के कारण कार्यपालिका ... होती है, मिश्रित-कार्यपालिका का निर्माण करने ... तथा ... प्रश्नों पर मतभेद हो जाने से परस्पर विरोधी ... अस्तित्व सकट में पड़ जाता है और कार्यपा... यह नहीं है कि इस व्यवस्था में हर समय ... प्रतिबिम्बित होते हैं।

द्विदलीय व्यवस्था एक आकलन

दो राजनीतिक दलों के अन्तर्गत समूचे राष्ट्र को संगठित करने के विचार के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है, कि मनुष्यों के स्वभाव और उनकी मानसिक-प्रवृत्तियों के आधार पर उन्हें मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—इन वर्गों के चिन्तन पर आयु का प्रभाव साधारणतः प्रमुख माना जाता है। यह कहा जाता है कि कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही प्रगतिवादी साहसी, उग्र तथा परिवर्तन नवीनता को पसन्द करने वाले होते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वभावतः रूढ़िवादी तथा सतर्क होते हैं, एवं जिन्हें हरदम यह भय लगा रहता है कि कहीं बहुत तीव्र गति से बढ़ने व अनजान क्षेत्रों में छलांग लगाने के परिणामस्वरूप उनकी प्राचीन परम्पराओं संस्कृति तथा संस्थाओं को कोई हानि न पहुंच जाए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही क्रान्तिकारी तथा कुछ रूढ़िवादी होते हैं। यह भी माना जाता है कि ज्यों-ज्यों व्यक्ति की आयु बढ़ती जाती है त्यों त्यों वह अधिक सतर्क और रूढ़िवादी होता जाता है। नवयुवक अपेक्षाकृत अधिक साहसी तथा प्रगतिशील होता है क्योंकि मध्य आयु वाले तथा वृद्ध व्यक्ति पर जीवन संघर्ष एवं पारिवारिक तथा सार्वजनिक दायित्व का इतना भार होता है कि कष्टपूर्ण जीवन बिताना उतना सहज नहीं रह जाता। व्यावहारिक जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव भी व्यक्ति को अधिक गम्भीर एवं सतर्क बना देता है। पर इतिहास में जहां वृद्ध सुकरात की कहानी मिलती है जिन्होंने अपने विचारों के कारण, जब उन्हें जहर का प्याला दण्डस्वरूप मिला, तो झुके नहीं उसे पी गए, वहां भगतसिंह और उनके युवासाथियों का प्रेरणाप्रद प्रसंग मिलता है जो सहर्ष बलिवेदी पर चढ़ गए ताकि सुप्त 'स्वाधीनता की चेतना' जग उठे।

साधारणतया दोनों दलों में अनेक समूह होते हैं जिनके मतों में विभिन्न मात्राओं में मतभेद पाया जाता है पर गुणात्मक मतभेद की गुंजाइश नहीं होती। किन्हीं देशों में जनता के बीच छोटे-छोटे मतभेदों का विस्तार दल प्रवृत्ति धर कर जाती है तथा उन्हें मर्यादित, संयमित तथा व्यावहारिक सीमाओं में रखने के स्थान पर सैद्धान्तिक मतभेद मान लिया जाता है। ऐसी दशा में जनता के भीतर यह वृत्ति पाई जाती है कि वह छोटे-छोटे राजनीतिक दलों में विभक्त हो जाती है।

यह प्रवृत्ति तब और भी अधिक प्रबल हो जाती है जब जनता में समरसता का अभाव हो तथा यह प्रजापति, धर्म, जाति तथा सम्प्रदाय आदि के भेदभाव में बंधी हुई हो। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में, विशेषतः नगरों में, श्रमिकों व पूंजीपतियों के दो विरोधी वर्ग बन गए हैं जिनके मध्य संघर्ष बना रहता है, तथा दोनों दो सिद्धांतों व सामाजिक आदर्शों पूंजीवाद तथा समाजवाद—का सहारा लेकर अपने आपको संगठित कर लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विविध

राज्यों में राजनीतिक दलों की संख्या में और भी वृद्धि हो जाती है। जब तक एक दीर्घ परम्परा तथा अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टिकोण का विकास न हो जाये जो कि छोटे-मोटे मतभेदों का निर्णय कर सके, तथा लोकमत दो प्रमुख विचारधाराओं में प्रवाहित न होने लग जाये तब तक अधिकांश लोकतान्त्रिक देशों में निश्चित रूप से बहुदलीय-व्यवस्था का विकास होने लगता है। द्वितीय प्रणाली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण आंग्ल सैक्सन राष्ट्र हैं जिन्हें लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक संस्थाओं के सफल संचालन का एक दीर्घ अनुभव है जैसे ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका।

बहुदलीय व्यवस्था का पक्ष

बहुदलीय-व्यवस्था के विकास का एक कारण यह भी है कि आधुनिक काल में अनेक राज्यों ने समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को अपनाया है। इस विवाद-ग्रस्त विषय के पक्ष और विपक्ष दोनों के बारे में दीर्घ विचार करने के उपरान्त भी सुवराजिय इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि "इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन कर रहा है उससे इस विचार का समर्थन होता है। उदारवादी विचारकों के मतानुसार ब्रिटेन में राज-नीतिक प्रतिनिधित्व की वर्तमान व्यवस्था अर्थात् एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में एकमत प्रणाली संसद के भीतर जनता के प्रतिनिधित्व का सही चित्र प्रस्तुत नहीं करती। अपने इस विचार के पक्ष में वे मतगणना के आंकड़े प्रस्तुत करते हैं जो बहुत प्रभावोत्पादक हैं। यह कथन बहुत सही है कि देश भर में उदारवादी-दल को जितने कुल मत प्राप्त होते हैं संसद के भीतर उसे उन मतों के अनुपात से कहीं कम स्थान मिल पाते हैं। उदारवादी प्रत्याशी निर्वाचनों के समय अधिकांश निर्वाचन-क्षेत्रों में बहुत थोड़े मतों से ही पराजित हो जाते हैं। यदि ब्रिटेन में समानुपातिक प्रति-निधित्व प्रणाली होती तथा वहां के निर्वाचन क्षेत्र में बहुल-सदस्यीय होते तो ऐसा नहीं हो सकता था प्रत्येक दल को संसद में उस अनुपात में ही स्थान मिलते जिस अनुपात में उस निर्वाचनों के समय मत प्राप्त होते।

ब्रिटिश उदारवादी दल के इस आरोप का आज तक कभी खंडन नहीं किया गया। इसके विपरीत यह कहा जाता है कि संसदात्मक लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए गणित की दृष्टि से समानुपातिक प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं होती, वरन् वह हानिकारक ही सिद्ध होता है क्योंकि उसके परिणामस्वरूप बहुदलीय प्रणाली का उदय हो जाता है जिससे स्थिर नीति और स्थिर कार्यपालिका का निर्माण संभव नहीं रहता। प्रतिनिधित्व की दृष्टि से केवल इतना पर्याप्त है कि देश में प्रचलित विविध विचारधाराओं का संसद में प्रतिनिधित्व हो जाए तथा द्विदलीय शासन प्रणाली बनी रह सके। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक

दलों की संख्या में वृद्धि होती चली जाये तथा संसद के भीतर जनता का बहुरंगी प्रतिनिधित्व हो। इस संदर्भ में यह विचार बहुत सही प्रतीत होता है कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विशुद्धतः सैद्धान्तिक दृष्टि से सोचने की अपेक्षा अत्यन्त व्यवहारिक दृष्टि से विचार करना चाहिए।

द्विदलीय व्यवस्था : अमेरिकी संदर्भ

यह व्यवस्था वर्तमान समय में अपेक्षाकृत कम ही राज्यों में प्रचलित है। जिन देशों में यह व्यवस्था प्रचलित है वहां राजनीतिक जीवन का नियंत्रण प्रधानतः दो प्रमुख राजनीतिक दलों के हाथों में रहता है। सामान्य निर्वाचनों के समय जनता अपना मत जिस प्रकार अभिव्यक्त करती है उसके अनुसार समय-समय पर इन दोनों दलों में से एक शासन का संचालन करता है तथा दूसरा संसद के भीतर रह कर सरकार का विरोध करता है। दोनों ही दल सार्वजनिक-नीतियों के निर्धारण तथा शासन के संचालन में प्रभावशाली योगदान देते हैं। सत्ताधारी दल का कार्य शासन करना है तथा विरोधी दल का कार्य है विरोध करना। विरोधी दल का प्रमुख कार्य यह है कि वह इस बात की सावधानी रखे कि शासन दल उन नीतियों के अनुसार ही शासन का संचालन करे जो निर्वाचकों द्वारा स्वीकार की गई हों, तथा वह सार्वजनिक हित के प्रतिकूल कोई कार्य न करने पाये। इस कार्य की पूर्ति के लिए विरोधी दल को निरन्तर सतर्क रहना व आलोचना करनी होती है। इस संदर्भ में यह स्मरण रखना चाहिए कि आलोचना का अर्थ विध्वंसात्मक तथा अनुत्तरदायी आलोचना नहीं है। एक उत्तरदायी विरोधी दल जिसे यह आशा होती है कि निकट भविष्य में ही अपनी सरकार बना सकेगा विध्वंसात्मक तथा अनुत्तरदायी आलोचना कभी नहीं करेगा। दो राजनीतिक दलों की प्रमुखता का यह अर्थ नहीं है कि देश में अन्य राजनीतिक दल होते ही नहीं। इसका केवल यह अर्थ है कि दूसरे राजनीतिक दल इतनी शक्ति का संग्रह नहीं कर पाते अथवा जनता का उतना समर्थन प्राप्त नहीं कर पाते कि वे राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण भाग ले सकें। उदाहरणार्थ, हम यहां संयुक्त राज्य अमेरिका के पिछले समस्त इतिहास में शासन का संचालन दो राजनीतिक-दलों की रचना का वर्णन करेंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका के पिछले समस्त इतिहास में शासन का संचालन दो राजनीतिक दलों—डिमॉक्रेटिक तथा रिपब्लिकन दलों ने किया है। कभी कार्यपालिका का अध्यक्ष अर्थात राष्ट्रपति डिमाक्रेटिक दल का सदस्य होता है तथा कभी रिपब्लिकन दल का। वहां की कांग्रेस तथा उसके दोनों सदनों के बहुमत की भी यही स्थिति रहती रही है। इन दो विशाल राजनीतिक-दलों के अतिरिक्त यहां अनेक छोटे राजनीतिक दल भी रहे हैं, जैसे—श्रमिक दल, समाजवादी दल, कृषक-दल, मद्यनिषेधवादी तथा प्रगतिशील-दल। कभी-कभी ये कांग्रेस में भी

कुछ स्थान प्राप्त कर लेते हैं,परन्तु विशाल परम्परागत दलों की अपेक्षा उनका प्रभाव नगण्य है। उसका कारण यह है कि वे स्थानीय तथा अस्थायी होते हैं और उनके पीछे जनता के समर्थन का बल नहीं होता।

ब्रितानी सदर्भ

दूसरा महत्त्वपूर्ण द्विदलीय राज्य ब्रिटेन है, परन्तु द्विदलीय शासन का उसका इतिहास इतना प्रगाढ़ नहीं है जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका का। 1688 की क्रान्ति से लेकर 1918 तक ब्रिटेन में पूर्णतया द्विदलीय व्यवस्था थी, अर्थात् वहां इस काल में राजनीतिक सत्ता कभी रूढ़िवादी-दल के हाथों में होती थी तो कभी उदारवादी दल के हाथों में आ जाती थी। परन्तु 1918 में उनके राजनीतिक क्षेत्र में एक तीसरे राजनीतिक-दल के रूप में श्रमिक का आविर्भाव हुआ। श्रमिक का निर्माण 1900 में हुआ था परन्तु 1918 के बाद से वह एक शक्तिशाली तत्त्व बन गया। लगभग बीस वर्ष तक ब्रिटेन में तीन प्रमुख राजनीतिक दल थे, तथा ब्रितानी दलीय-व्यवस्था को त्रिदलीय प्रणाली के नाम से पुकारा जाता था। कनाडा सरीखे कॉमनवल्थ देशों में भी यह प्रणाली प्रचलित है। श्रमिक-दल व उदारवादी दल के मध्य संक्षिप्त संघर्ष के उपरान्त ब्रितानी-नागरिकों ने प्रमुख राजनीतिक संघर्ष में से उदारवादी दल को बहिष्कृत कर दिया तथा देश में द्विदलीय-व्यवस्था की स्थापना कर दी। वैसे तो उदारवादी-दल अभी तक विद्यमान है तथापि, वह राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लेता। 1934 के पश्चात् से संसद के भीतर उसका प्रतिनिधित्व नगण्य हो गया। 1907 में ब्रितानी लोकसभा के 500 सदस्यों में से 376 सदस्य उदारवादी-दल के थे, यह एक प्रभावशाली बहुसंख्या थी जिसके कारण 1915 तक उसने शासन का संचालन किया। 1915 में प्रथम विश्व युद्ध का संचालन कुशलतापूर्वक करने के लिए मिश्रित शासन का निर्माण किया गया। 1923 के निर्वाचनों में रूढ़िवादी दल विजयी हुआ, परन्तु उदारवादी दल प्रमुख विरोधी दल रहा, उसे 159 स्थान प्राप्त हुए। अगले सामान्य निर्वाचनों में श्रमिक दल ने उदारवादी दल को पछाड़ना आरम्भ कर दिया तथा उसकी सदस्य-संख्या निरन्तर घटती चली गई—1924 में वह केवल 40 स्थान ही प्राप्त कर सका, 1935 में यह संख्या केवल 22 रह गई 1945 में और भी घटकर यह केवल 11 ही रह गई तथा 1951 में 9 और 1950 में केवल 6 उदारवादी सदस्य ही लोकसभा में चुने गए।

डुवेरजिये का मत है कि यह कहना सही नहीं होगा कि द्विदलीय-व्यवस्था विशेषतः एक ऐंग्लो सैक्सन प्रणाली है। अनेक ऐंग्लोसैक्सन देशों में बहुदलीय, व्यवस्था पाई जाती है इसके विपरीत तुर्की तथा अनेक लातिनी अमरिकन देशों में द्विदलीय-व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य करती रही है। जर्मनी तथा इटली जैसे

इसके अतिरिक्त उन देशों में जहां द्वितीय मतदान प्रणाली अथवा समानुपातिक निर्वाचन की व्यवस्था प्रचलित है, तथा जहां जनता के मध्य प्रजातीय, धार्मिक जातीय तथा अन्य सामाजिक भेदभाव हैं अथवा जो देश अत्यधिक व्यक्तिवादी परम्पराओं से घिरे हुए हैं अनेक राजनीतिक दलों के निर्माण की प्रवृत्ति पाई जाती है। दुवेरजिये कहते हैं—

'बहुदलीय-व्यवस्था को जन्म देने वाले अनेक तत्त्वों के साथ ही एक सामान्य तत्त्व भी है। यह तत्त्व है किसी देश की निर्वाचन प्रणाली। प्रायः यह देखा गया है कि साधारण बहुमत और एकल मतदान की व्यवस्थायें द्विदलीय प्रणाली के विकास में योग देती हैं, इसके विपरीत साधारण बहुमत के साथ द्वितीय मतदान तथा समानुपातिक-प्रतिनिधित्व प्रणाली ये दोनों ही बहुदलीय व्यवस्था को प्रोत्साहित करते हैं।" वे अपने वक्तव्य के पक्ष में अनेक उदाहरण देते हैं जैसे फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड, स्विटजरलैण्ड तथा इटली आदि देशों का उदाहरण देते हुए वे बताते हैं कि जिस समय वहां द्वितीय मतदान प्रणाली प्रचलित थी तब वहां किस प्रकार बहुदलीय व्यवस्था का विकास हुआ, तथा समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ने किस प्रकार इसमें योग दिया है इसका उदाहरण देते हुए वे फ्रांस, हॉलैण्ड, डेनमार्क, स्विटजरलैण्ड तथा जर्मनी के अनेक राज्यों का उल्लेख करते हैं।

एक दलीय व्यवस्था : ऐतिहासिक सन्दर्भ

एकदलीय व्यवस्था का उदय बीसवीं शताब्दी में हुआ है। अधिनायकवादी शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोकतन्त्रात्मक देशों में विकसित दलीय कार्यविधि का प्रयोग करने की दृष्टि से एकदलीय व्यवस्था का निर्माण किया गया है। यह आवश्यक नहीं है कि एकदलीय-व्यवस्था को अधिनायकवादी दल अथवा साम्यवादी देशों की एकदलीय प्रणाली का समरूप मान लिया जाय। जर्मनी व इटली तथा तुर्की में भी प्रचलित रह चुकी है। एशिया व अफ्रीका के कुछ नवस्वाधीन देशों में भी एकदलीय व्यवस्था को अपनाया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि ये 'एक-दल' पहले बहुदलीय व्यवस्था के भीतर विरोधी दलों के रूप में कार्य कर रहे थे। बाद में उन्होंने अपने आपको अधिनायकवादी रूप में विकसित कर लिया तथा उनके मन में यह इच्छा पैदा हो गयी कि अपने राज्यों में वे ही एकमात्र राजनीतिक दल रह जावें तथा दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। वर्तमान समय में एकदलीय व्यवस्था ने अपने पृथक् एवं विशिष्ट लक्षणों का विकास कर लिया है। उनका वर्णन अलग से करना उचित होगा।

तुर्की, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली में जब एकदलीय-व्यवस्था के

संस्थापकों की दृष्टि में सत्ता हथियाने की व्यवहारिक उपयोगिता सिद्ध हो गयी तब उन्होंने उसके पक्ष का समर्थन करने के लिए सैद्धांतिक तर्कों की खोज की। इसके सैद्धांतिक पक्ष का अनुसंधान आरम्भ में इटली और जर्मनी में किया गया तथा उसका विस्तृत विश्लेषण पहली बार 1936 में प्रस्तुत किया गया।

एकदलीय व्यवस्था ही क्यों चाहिए ?

राष्ट्रीय एकता का सूत्रधारी—इस व्यवस्था के समर्थक यह दावा करते हैं कि इसका दोहरा लाभ यह है कि 'एक-दल' 'प्रबुद्ध वर्ग' तो है ही उसके साथ ही वह एकता का सूत्रधार भी है। उसका ध्येय परम्परागत प्रबुद्ध वर्ग के स्थान पर नये प्रबुद्ध वर्ग का निर्माण करना है। उसका उद्देश्य नये शासक वर्ग को जन्म देना है। जनसाधारण के भीतर शासन संचालन की क्षमता नहीं होती अतः एकदल का उद्देश्य ऐसे राजनीतिक-नेताओं का निर्माण करना व उन्हें संगठित करना है जिनमें देश को एकता के सूत्र में पिरोने की सामर्थ्य हो। दल एक ऐसी छलनी का काम करता है जिसमें नवयुवक-संगठनों उत्तरोत्तर संगठन तथा सदस्यों का दल में भर्ती करने के माध्यमों अथवा एक प्रतीक्षाकाल की पूर्ति वरिष्ठ सदस्यों द्वारा समर्थन तथा परीक्षाओं के पश्चात दल के भीतर प्रवेश की नियन्त्रित रीतियों के द्वारा केवल प्रबुद्ध वर्ग ही दल के भीतर रह जाता है तथा अनावश्यक तत्त्व बाहर निकल जाते हैं। साथ ही दल अपने सदस्यों का शिक्षण भी करता है, वह उनके भीतर अपने दायित्वों की पूर्ति के लिए क्षमता उत्पन्न करता है। वह उन्हें स्थायी रूप में संगठित करता है, वह उन्हें एक ढांचा तथा एक उत्तरोत्तर पदक्रम प्रदान करता है। इस प्रकार छांटा गया तथा 'प्रशिक्षित किया गया प्रबुद्ध वर्ग नेतृत्व' का कार्य पूर्ण कर सकता है। इस प्रबुद्ध वर्ग का मन्त्रिमण्डल से लेकर छोटी-से-छोटी स्थानीय व विशेष समिति, तथा लोक-सेवाओं से लेकर श्रमसंघों, सहकारी समितियों, सांस्कृतिक समुदायों इत्यादि की सदस्यता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त यह भी दावा किया जाता है कि यह वर्ग जनता के साथ दोहरा सम्पर्क बनाये रखता है। यह सम्पर्क दलीय इकाइयों तथा विभागीय-संगठनों के द्वारा बनाये रखा जाता है। जिस प्रकार 'वायरलैस' (बेतार का तार) केन्द्र संदेश देने व प्राप्त करने का दोहरा कार्य करते हैं उसी प्रकार एक दलीय व्यवस्था भी नेता के लिए यह अवसर उपलब्ध करा देती है कि वह देश की आवाज को सुन सके तथा उस तक अपना सन्देश पहुंचा सके।

प्रचार तथा दमन के साधन हैं ?

दूसरी ओर, इस व्यवस्था के विरोधियों की धारणा है कि 'एकदलीय-संगठन' बहुत पुराने ढंग के समाजशास्त्रीय-स्वरूप का प्रतीक है। यह उस देहाती चौकीदार

के समान है जो निरकुश शासक की अधिनायकवादी सत्ता मे वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त दल की सदस्यता प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने के लिये व्यक्तिगत योग्यता की उतनी आवश्यकता नही है जितनी कि इस बात की कि सदस्यता का इच्छुक व्यक्ति अधिनायक के प्रति कितनी उत्कट निष्ठा रखता है। दलीय अनुशासन, नेता की पूजा, तथा दलीय पदक्रम के प्रत्येक स्तर पर नेताओ की खुशामद करने की आवश्यकता, ये सब ऐसे तत्त्व है जिनके कारण अनिवायत सत्य विकृत हो जाता है तथा वह सही रूप म जनता से सर्वोच्च नेता तक तथा नेता से जनता तक नही पहुच पाता। यह व्यवस्था अपनी शक्ति दो प्रधान स्रोतो से प्राप्त करती है—प्रचार तथा निदय-दमन। 'एक-दलीय व्यवस्था' के भीतर सब व्यवस्थाओ की अपेक्षा अधिक कुशल प्रचार-पद्धति का निर्माण होता है। इसका उल्लेख हम विगत अध्याय म भी कर चुके हैं। दल एक पुलिस सगठन के रूप में भी काय करता है, तथा इस विषय मे भी इसकी मौलिकता उतनी ही विलक्षण है। एक अच्छे कायकर्ता के दो अनिवाय कत्तव्य माने गये है—जासूसी करना तथा दल की सूचनाए देना। दल आतक स्थापित करने का एक साधन है। यह आतक दल के भीतर तथा जनता पर दोनो ओर स्थापित किया जाता है तथा आन्तरिक आतक बाह्य आतक की अपेक्षा प्राय अधिक कठोर होना है। एकदलीय राज्यो मे दल से पथक भी एक पुलिस सगठन होता है, जैसे गैस्टापो, ये लक्षण एकदलीय-व्यवस्था की विलक्षणता तथा मौलिकता प्रकट करते है।

एकदलीय-व्यवस्था के पक्ष म विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है। सवप्रथम यह कहा जाता है कि एक दल राष्ट्रीय-एकता का प्रतीक है। फासीवाद का समथन करनेवाले लेखक ऐसा मानते है कि लोकतन्त्र का बहुलवाद (अनेक राजनीतिक दलो का सगठन) निजी व वर्गीय हितो की बलिवेदी पर जन साधारण के हितो को बलिदान कर देता है। 'दलो के खडित शीशे म देश स्वय अपने प्रतिबिम्ब को पहचानने म असमथ रहता है।" एक दल राष्ट्र की एकता की रक्षा करता है तथा समस्त समस्याओ को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखता है।

द्वितीय, यह कहा जाता है कि दल जनता की सामाजिक एकता को प्रतिबिम्बित करता है। मावस ने राजनीतिक दलो को विविध सामाजिक वर्गों की राजनीतिक अभिव्यक्ति माना है। दुवेरजिय इस विषय मे लिखते है कि, "एक-दल विषयक साम्यवादी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति इस प्रकार की जा सकती है—(अ) प्रत्येक दल एक सामाजिक-वग की राजनीतिक अभिव्यक्ति है, (ब) सोवियत सघ इस समय एकवर्गीय समाज बन गया है, (स) अत सोवियत सघ मे केवल एक दलीय व्यवस्था ही स्थापित हो सकती है।"

अन्त मे मनोयलिस्कों के शब्दो म कहा जा सकता है कि एक दलीय राज्य निष्पक्ष राज्य नही होता, वह आदर्शों का सवाहक, एक आस्था तथा एक नैतिक-

व्यवस्था का प्रतीक होता है। "एक निष्पक्ष राज्य मे जो समस्त नैतिक मा यताम्रा का समान आदर करता हो यह आवश्यक है कि वहा अनेक राजनीतिक दल हा। पर तु जो राज्य किसी एक निश्चित नैतिक-व्यवस्था का एक नये धम की भाति स्वीकार कर लेता है, वहा उस व्यवस्था की रक्षा करन के लिए केवल एक राजनीतिक दल की ही आवश्यकता होती है। दुवेरजिय ने लिखा है "आधुनिक जगत मे राज्य धर्मों ने नया स्वरूप ग्रहण कर लिया है। एक दलीय प्रणाली का विकास उस समय ही हुआ जबकि नये प्रकार के राज्य धर्मों का पुनज म हो रहा था, जो कि वतमान समय म पाये जाते है। वतमान समय म राज्य धर्म के पद पर धार्मिक राज्य का विकास हो गया है।

पाद टिप्पणी

1 मारटाऊ, आर० एच०, इण्ट्रोडक्शन टु पॅलिटिक्स (लागमे स, ग्रीन एण्ड कम्पनी) 1952 प० 918, 99 म उदत
2 वही
3 मेकाइवर आर० एम०, दि माडन स्टेट (आक्सफड यूनिवर्सिटी प्रेस लण्दन) पृ० 396
4 दुवरजिए एम० पॅलिटिकल पार्टीज (मैथ्यून एण्ड कम्पनी, लिमिटेड ल दन 1955) प 14,
5 वही,
6 वही,
7 न्यूमेन, माडन पॅलिटिकल पार्टीज
8 वही।

अध्याय 18

राजनीति का नया आयाम दबाव समूह

वर्तमान राजनीतिक युग की एक महत्त्वपूर्ण देन दबाव-समूहों का विकास है जो लगभग सभी लोकतान्त्रिक देशों में पाए जाते हैं। कार्ल फ्रेडरिख ने दबाव समूहों को "दलों के पीछे सक्रिय जन" की संज्ञा दी है।[1] पहले इन समूहों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें ऐसी पापात्मक शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़ों पर प्रहार करती हो। किन्तु अब स्थिति बदल गई है और उन्हें आवश्यक बुराई के रूप में तथा राजनीतिक क्रियाशीलता के लिए जरूरी समझा जाने लगा है। राजनीतिक क्षेत्र में नीति निर्धारण और प्रशासन में दिन प्रतिदिन इनके बढ़ते हुए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण सभी देशों में इनका अध्ययन किया जा रहा है।

दबाव समूह क्या हैं ?—दबाव समूह विशिष्ट हितों से सम्बंधित व्यक्तियों के ऐसे समूह होते हैं जो विधायकों को प्रभावित करके अपने उद्देश्यों और हितों के पक्ष में समर्थन प्राप्त करते हैं। ये राजनीतिक दल अथवा संगठन नहीं होते यद्यपि इनकी गतिविधियों में इस प्रकार का भ्रम होना अस्वाभाविक नहीं है। आडगार्ड के शब्दों में "एक दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और जो घटनाओं के विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और प्रशासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करें कि उनके अपने हितों की रक्षा और वृद्धि हो सके।" दबाव समूह की प्रथा विश्व के उन सभी देशों में पाई जाती है जहाँ नागरिकों को स्वतन्त्र ऐच्छिक समुदाय बनाने का अधिकार है। मुख्यतः दबाव-समूहों को दो भागों (वर्गों) में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम श्रेणी में मत-समूह आते हैं। मत-समूह वे समूह कहलाते हैं जो किसी नैतिक या सैद्धान्तिक उद्देश्य के लिए

स्वाथ की भावना से प्रेरित हुए बिना काय करते हैं। दूसरी श्रेणी म वे समूह आते हैं जो अपने स्वाथ की भावना से प्रेरित होकर अपने आर्थिक हितो के लिए कार्य करते हैं, इन्हें हित-समूह के नाम स अभिहित करते हैं। उदाहरण के लिए नशाबन्दी के लिए आन्दोलन करने वाला दवाव-समूह मत समूह कहलायेगा लेकिन मजदूरो के आर्थिक हित के लिए काय करने वाला श्रमिक सघ हित समूह के नाम स जाता जाता है।

आथर वेण्टले न अपनी पुस्तक म[3] अमेरिकी शासन प्रणाली म दवाव समूहो की गतिविधियो पर सवप्रथम प्रकाश डाला। आथर वेण्टले का मत है कि राजनीति वास्तव म हित समूहो द्वारा सरकार, ससद प्रशासन और राजनीतिक दलो पर दवाव डालने की प्रक्रिया है। वेण्टले राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन मे समूह-सिद्धान्त के प्रतिपादक माने जाते है। डेविड ट्रूमैन न भी अपनी पुस्तक[4] म समूह सिद्धान्त की बहुलात्मक दृष्टिकोण स परिभाषा प्रस्तुत की है। डेविड ट्रूमैन ने दो राष्ट्रीय स्तर के हित समूहो के सन्तुलनकारी कार्यों पर ध्यान दिया है। लोकतान्त्रिक प्रणाली मे उद्योगपति और औद्योगिक मजदूर ही नही अपितु, अन्य सभी वग के लाग अपने हितो की रक्षा के लिए दवाव समूह बनाते है। उद्योगपति आर मजदूर भी अलग अलग उद्योगो म लगे होने के कारण अनक सगठन बनाते है। इन अनगिनत दवाव-समूहो का मुख्य उद्देश्य निणय करने वाले सत्ताधारियो पर प्रभाव डालकर अपने हितो के एक अश की पूर्ति करना होता है। अगर ये दवाव समूह न हो तो कुछ वर्गों के हितो के सरक्षण की कोई व्यवस्था ही नही होगी।[5] यहाँ इनके अतिरिक्त यह वात भी ध्यान म रखने योग्य है कि दवाव समूह, राजनीति दलो की भाँति किसी कायक्रम के आधार पर निर्वाचको को प्रभावित नही करते, वरन्, किन्ही विशेष मसलो अथवा हितो से सम्बन्धित होते हैं। वे पूणत राजनीतिक सगठन नही होते और न ही चुनाव के लिए उम्मीदवार खडे करते हैं। वे तो अपने समूह विशेष के लिए सरकारी नीतियो और राजनीतिक ढाँचे को प्रभावित करते है। राजनीतिक दल न होते हुए भी वे दलों की भाँति शक्ति सगठन है जिनकी निजी सदस्यता उद्देश्य, सगठन एकता, प्रतिष्ठा और साधन होत हैं। सामान्यत द्विदलीय व्यवस्था म ये अधिक जागरूक और शक्ति सम्पन्न होते हैं किन्तु बहुदलीय व्यवस्था म अधिक प्रभावशाली नही बन पाते।

अमेरिकी सन्दभ—अमरिका म दवाव-समूह के प्रतिनिधियो को 'लाबिइस्टस' कहा जाता है। प्रत्येक व्यवस्थापिका सदन के साथ लगे हुए कमरे अथवा बरामदे को 'लावी' या प्रकोष्ठ कहा जाता है जहाँ विधायक अवकाश के समय आकर बैठते हैं। दवाव समूह के प्रतिनिधि इन प्रकोष्ठो म विधायको स सम्पक स्थापित करके उन्हे अपने पक्ष मे प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। यह प्रभाव कवल प्रत्यक्ष सम्पक द्वारा ही नही वल्कि, जनमत और प्रचार द्वारा भी डाला जाता

हैं। इस निमित विशाल धनराशि व्यय की जाती है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनता में अपने पक्ष में सहानुभूति पैदा करने के लिए अपने उद्देश्य प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वाले लोगों को अपने पक्ष में आकर्षित करने के लिए दबाव समूह अथवा वर्गीय एवं आर्थिक हितों के प्रभावशाली संगठन, प्रेस, रेडियो, टेलिविजन, सावजनिक सम्बन्ध विशेषज्ञों की सेवाओं आदि का उपयोग करते हैं। वे अपने साहित्य को वितरित करते हैं और अपने तर्कों से विशेष दावों के पक्ष में समर्थन प्राप्त करते हैं।

दबाव समूह की तकनीक अथवा कार्य प्रणालियाँ

दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए कई तरीके अपनाते हैं जिन्हें उनकी तकनीक कहा जाता है। ये तरीके अथवा दबाव-समूह की कार्य प्रणाली मुख्यतः निम्न है—

1 **राजनीतिक सहभागिता**—दबाव समूह चुनावों में उन उम्मीदवारों के पक्ष में प्रचार करते हैं जिनसे उन्हें यह आशा होती है कि वे संसद या सरकार में पहुँचकर उनके (दबाव समूह) हितों की रक्षा करेंगे। ये समूह अपने पक्ष के राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देते हैं और व्यवस्थापिका या कार्यपालिका में अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए पर्दे के पीछे खेल खेलते हैं।

2 **प्रचारात्मक भूमिका**—दबाव समूह जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए विभिन्न प्रचार साधनों का प्रयोग करते हैं। प्रचारात्मक साहित्य प्रकाशित किया जाता है। प्रेस रेडियो, टेलिविजन सावजनिक सम्बन्धों के विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग किया जाता है। अपने पक्ष में जनमत का निर्माण करके दबाव-समूह सरकारी यन्त्र पर प्रभाव डालते हैं। अमरिकी मेडीकल एसोसियेशन ने करोड़ों डालर अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा के विरुद्ध प्रचार करने में व्यय कर दिये थे—क्योंकि उसे भय था कि इस योजना में दवाईयों का उपयोग सरकार के नियन्त्रण में चला जायगा।

3 **तथ्य संकलन**—दबाव समूह सरकारी नीति निर्माताओं के समक्ष प्रभावशाली रूप में अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए विश्वसनीय आंकड़े एकत्रित और प्रकाशित करते हैं। इस उपाय से वे जनमत को अपने पक्ष में जाग्रत कर अधिकारियों पर दबाव डालने में सफल होते हैं।

4 सगोष्ठियों का आयोजन—साधन सम्पन्न दबाव समूह समय-समय पर मगोष्ठियो, सेमिनारो, भाषणमालाओ, वार्ताओ आदि का आयोजन करते हैं जिनम समद सदस्यो और प्रकाशकीय अधिकारियो को आमन्त्रित किया जाता है। इन गोष्ठियो आदि के द्वारा दबाव-समूह लोगो के सामने अपने उद्देश्यो का प्रभावशाली रूप म व्यक्त करते है। सरकारी अधिकारी दबाव समूहो की व्यापकता और उनकी साधन सम्पन्नता से परिचित हो जाते है और प्राय ऐसे कदम उठान स बचने की कोशिश करते हैं जिनस कि दबाव-समूहो से टकराव की नौबत आ जाएगी।

5 सम्पक एव मन्त्रणा—दबाव-समूह लाबिइग' द्वारा सरकार पर सीधे दबाव डालने का प्रयास करते हं, दबाव-समूहो के प्रतिनिधि ससद् के जनकक्षा मे जाकर प्रत्यक्ष रूप म विधायका से सम्पर्क स्थापित करते है और उन पर विभिन्न उपायो से यह जार डालत है कि व ऐसा कोई कानून पारित न होने दें जिससे उनके (दबाव-समूहो) हितो को हानि पहुँचती हो। ये प्रतिनिधि अपने दबाव समूहो के पक्ष म विधि निर्माण करवाने के लिए ससद् सदस्यों को प्रभावित करन है।

6 निणय कर्ताओ का घेराव—दबाव समूह न केवल उपरोक्त तरीको को ही काम मे लेते हैं अपितु, ये अपनी बात मनमाने के लिए निणय कर्ताओ का घेराव कर दबाव डालत हैं और निणयकर्ताओ को इस बात के लिए बाध्य करते हैं कि वे ऐसा कोई निणय न लें जिनसे उनके हितो का उल्लघन हो।

7 हडताल अमोघ अस्त्र है—जब घेराव जैसे क्रान्तिकारी साधन से उद्देश्य प्राप्ति न हो तो दबाव-समूह अपने अग्रिम शस्त्र हडताल का सहारा लेते हैं। हडताल के माध्यम से निणयकर्ता सत्ताधिकारियो पर दबाव डालकर अपने हितो के अनुरूप निणय करवाने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार दबाव-समूह अपने हितो की पूर्ति की दिशा मे उचित, अनुचित, शान्तिपूर्ण अथवा क्रान्तिकारी सभी प्रकार की तकनीको को काम मे लाते हैं।

पाद टिप्पणी

1 फ्रेडरिख कार्ल जे०, कान्स्टीट्यूशनल गवनमेण्ट ऐण्ड डिमोक्रेसी

2 आशीर्वादम् राजनीति विज्ञान, पृ० 485

3 बेण्टले आथर, दि प्रासिस आव् गवनमेण्ट, ए स्टडी ऑव सोशल प्रेशर्स

4 ट्रूमैन डेविड, दि गवनमेन्टल प्रासिस पॉलिटिकल इन्टेरेस्ट्स एण्ड पब्लिक आपिनियन

5 वही।

अध्याय 19

निर्वाचन एवं प्रतिनिधित्व

आधुनिक राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का प्रचलन है। लोकतन्त्र की प्रारम्भिक अवस्था में[1] सभी नागरिक प्रत्यक्षत नीति-निर्माण एव नीति क्रियान्वयन म भाग लेते थे लेकिन आज के इतने बड़े विस्तृत एव लम्बे-चौड़े राज्यो म सम्पूर्ण नागरिक एक ही जगह मिलकर शासन सचालन कर यह सर्वथा असम्भव है। अत आज मतदाता अपने मतो के आधार पर अपने प्रतिनिधियो का शासन सचालन की बागडोर सौंपते है। लेकिन इस सन्दर्भ मे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते है जैसे—इन प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास कब और कैसे हुआ ? जन प्रतिनिधि कैसे चुने जाएँ—अर्थात् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त क्या हो ? मतदाता किन्हे तथा किस आधार पर प्रतिनिधियो का निर्वाचन करें। मतदाताओ एव प्रतिनिधियो दोनो की क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ? किन्हे मत दान का अधिकार प्रदान किया जाये ? क्या सभी लोगो को मताधिकार प्रदान कर दिया जाए ? अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के क्या आधार हो ? आदि अनेक प्रश्न इस सन्दर्भ मे समय-समय पर उठते रहे हैं। इन प्रश्नो का सक्षेप मे हम निम्न प्रकार से विश्लेषण कर सकते हैं—

ऐतिहासिक सन्दर्भ —प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास कब और कैसे हुआ, इस बात के कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही हैं।[2] सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि जब मध्ययुग मे कुछ राजाओ को धन की आवश्यकता हुआ करती थी, तो व करारोपण के सम्बन्ध में मन्त्रणा लेने के लिए सर्वसाधारण के कुछ प्रतिनिधियो को बुलाया करते थे। इस प्रकार धीरे धीरे भिन्न देशो मे भिन्न नामो से एक सस्था स्थापित हुई जिसे इंगलैण्ड मे पार्लियामेण्ट, फ्रास म एस्टेटस जनरल, स्पेन मे कोर्टेस और जर्मनी मे डायट कहा गया। ये सस्थाएँ 13वी शताब्दी के अन्त

में और 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्पन्न हुईं। शीघ्र ही ये संस्थाएँ अपने अपने देश में महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य सम्पादित करने लगीं। किन्तु प्रारम्भ में किसी देश की विधायिका का स्वरूप लोकतन्त्रात्मक नहीं था। इन सभाओं में जनता के कुछ वर्गों का ही प्रतिनिधित्व था। मध्ययुग के समाप्त होते ही राष्ट्रीय चेतना के राज्यों की स्थापना हुई जिनमें राजतन्त्र सबल थे। उन्होंने सभाओं को या तो बिल्कुल मिटा नहीं था या उन्हें मामान्य औपचारिक विधायिकाएँ मात्र मान लिया। किन्तु ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की स्थिति भिन्न थी। क्रॉमवेल और चार्ल्स के बीच जो संघर्ष हुआ था उसके फलस्वरूप पार्लियामेण्ट विजयी होकर निकली। 1688 की महान् क्रान्ति ने भी सिद्ध कर दिया कि संसद सर्वोच्च सत्ता है और राजा उसका अनुचर है। फिर भी ब्रितानी पार्लियामण्ट का स्वरूप लोकतन्त्रीय नहीं था। लेकिन शनैः शनैः ब्रितानी पार्लियामेण्ट सहित सभी विधायिकाओं का स्वरूप लोकतान्त्रिक हो गया। आजकल प्रत्येक लोकतान्त्रिक देश में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ हैं जो शासन के अभिन्न और महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में कार्य कर रही हैं। जनता की सरकार का विचार इतना लोकप्रिय हो गया है कि कुछ अधिनायकवादी सरकारों ने भी प्रतिनिधिक संस्थाओं की व्यवस्था की है जिन्हें वे लोक इच्छा का प्रतिनिधि कहने का दावा करते हैं। हिटलर और मुसोलिनी ने भी नाम मात्र की संसदें बनाकर रख छोड़ी थीं।

मताधिकार के दो आधार—मताधिकार का सही आधार क्या हो, यह भी लोकतन्त्र की सर्वाधिक कठिन समस्याओं में से एक है। इस सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण विचारपथ हमारे समक्ष आते हैं। पहले पथ के अनुसार प्रभुसत्ता अन्ततः लोगों में निहित होती है और प्रत्येक नागरिक का मतदान और सरकार की नीति का निश्चय करने में भाग लेने का जन्मसिद्ध अधिकार है। लोकतन्त्र मनुष्य की समानता की स्थापना करता है और राजनीतिक समानता केवल तभी हो सकती है जब सब नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। दूसरे पथ के अनुसार मताधिकार नागरिकों का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। राज्य ही यह अधिकार नागरिकों को देता है। चूंकि मताधिकार एक पवित्र अधिकार है, अतः यह केवल विवेकशील लोगों को ही दिया जा सकता है। मूर्ख एवं अज्ञानी इसका दुरुपयोग कर लोकतन्त्र का भविष्य अन्धकारमय बना देंगे।

आज एक देश के उन सभी नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया गया है जो वयस्कता प्राप्त कर चुके हैं तथा जो पागल दिवालिए एवं विदेशी नहीं हैं।

कुछ राज्य ऐसे भी रहे हैं जो मताधिकार का आधार शिक्षा एवं सम्पत्ति को मानते रहे हैं। एक निश्चित सीमा तक शिक्षा ग्रहण करना अथवा एक सीमा तक सम्पत्ति अर्जन कर उसका कर चुकाना, मताधिकार की शर्त रखी गईं, लेकिन आज इन शर्तों को करीब-करीब सभी देशों में हटा दिया गया है।

न केवल आयु भेद बल्कि लिंग भेद के आधार पर भी मताधिकार तय किया जाता है अभी थोडे दिन पहिले तक स्विटजरलैण्ड मे मतदान का अधिकार केवल पुरुषो तक ही सीमित था, स्त्रियो को मताधिकार प्राप्त नही था। अमेरिका मे स्त्रियो को पूर्ण मतदान का अधिकार 1920 मे, ब्रिटेन म 1918 मे सीमित तथा 1928 मे पूर्ण मतदान का अधिकार प्रदान किया गया।

निर्वाचन क्षेत्रों मे निर्धारण के आधार—इसी प्रकार निर्वाचन से सम्बन्धित एक अन्य समस्या है कि निर्वाचन क्षेत्रो का निर्धारण कैसे किया जाय। निर्वाचन क्षेत्रो को निर्धारित करने के लिए भी दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। प्रथम एक सदस्यीय निर्वाचित क्षेत्र विधि तथा द्वितीय बहुल सदस्यीय निर्वाचिन विधि। प्रथम विधि मे एक निर्वाचन क्षेत्र म एक सदस्य चुना जाता है। जितने सदस्य चुन जाने हैं, उतन ही क्षेत्रा मे देश को बाँट दिया जाता है। ऐसे सब निर्वाचन क्षेत्र आकार मे प्राय समान होते हैं। दूसरी विधि को साधारण टिक्ट प्रणाली अथवा बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली कहा जाता है। इसम सारे देश को उतने निर्वाचन क्षेत्रा मे नही बाँटा जाता जितन प्रतिनिधि चुन जाने हैं बल्कि कुछ थोडे निर्वाचन क्षेत्र बना लिए जाते है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र मे एक से अधिक सदस्यो का निर्वाचन होता है। इस प्रणाली के अन्तगत प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है, जितने कि उस निर्वाचन क्षेत्र से प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

इसी प्रकार चुनाव विधियो के सम्बन्ध म भी विवाद की स्थिति पायी जाती है। प्रतिनिधियो को चुनने की मुख्यत दो विधिया है। यदि मतदाता चुनाव मे प्रत्यक्षत भाग लेते हैं और अपने प्रतिनिधियो को चुनते हैं तो यह चुनाव की प्रत्यक्ष विधि कहलाती है। यदि मतदाता अपन प्रतिनिधियो के चुनाव मे प्रत्यक्षत भाग नही लेते, केवल उस माध्यमिक सस्था का ही चुनते है, जो प्रतिनिधियो का चुनाव करती है तो चुनाव की यह प्रणाली अप्रत्यक्ष कहलाती है। निर्वाचको की यह माध्यमिक सस्था साधारणतया निर्वाचक मण्डल कहलाता है।

अल्पसख्यको का प्रतिनिधित्व

सामान्यत यह कहा जाता है कि प्रतिनिधित्व की वतमान प्रणाली सम्पूण जनता का प्रतिनिधित्व नही करती। जा उम्मीदवार मता की बहुसख्या प्राप्त करता है, उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है और वह व्यवस्थापिका मे केवल उन निर्वाचका के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, जिनके मता को वह प्राप्त कर सका है। प्रतिनिधित्व की एसी प्रणाली, जहाँ केवल बहुमत को ही प्रतिनिधित्व मिलता हो, लोकतन्त्र पर पूरी तरह आधारित नही है। अत लोकतन्त्र की माँग है कि देश के राजनीतिक प्रशासन म सभी वर्गों का हिस्सेदारी मिलनी चाहिए। लोकतन्त्र मे सभी वर्गों को शासन मे प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए अन्यथा अल्पमत

1 हेयर-प्रणाली अथवा एकल सक्रमणीय मत प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व से साधारणतया सम्बन्धित योजना अथवा प्रयोग हेयर प्रणाली कहलाता है। टॉमस हेयर ने इस प्रणाली का सर्वप्रथम 1851 म प्रतिपादन किया अत इसे हेयर प्रणाली कहा जाता है।" इसे एण्ड्रे प्रणाली के नाम से भी जाना जाता है। एण्ड्रे न 1855 मे इसे डेनमार्क मे लागू किया। कुछ लोग इसे एक सक्रमणीय मत प्रणाली भी कहते हैं क्योकि उन उम्मीदवारो का मत आधिक्य जो निर्वाचित घोषित हो चुक्त हैं, उन उम्मीदवारो का दे दिया जाता है, जिन्हे उससे सहायता हो सकती है। उस वरीयता के कारण, जो एक मतदाता उम्मीदवारो को प्रदान करना चाहता है, उस आधार पर इसे वरीय प्रणाली कहत हैं।"

इसमे मुख्यत निम्न बाते सम्मिलित होती है—

(i) मतदाता इसमे वरीयता के रूप में मतदान करते हैं। वरीयता एक से अधिक दी जा सकती हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हैं।

(ii) इसम वरीयतायें स्थानान्तरित होती रहती हैं।

(iii) इसमे एक कोटा निश्चित कर दिया जाता है, जिसन निश्चित कोटा जितन मत प्राप्त कर लिए हो तो उसे विजयी घोषित किया जाता है। कोटा निश्चित करने की विधि निम्न है—

$$\text{कोटा} = \frac{\text{वैधमत}}{\text{उम्मीदवारो की सख्या} + 1} + 1$$

मतदाता मतपत्र म अपनी पसन्द उम्मीदवारो के नाम के आग 1, 2, 3, 4, 5 आदि अक लिखकर प्रकट करता है। मतदान के बाद जोडा जाता है कि किस उम्मीदवार को 1 नम्बर की पसन्दें कितनी मिली हैं। जिन उम्मीदवारो को निश्चित कोटा के बराबर मत मिल जाते हैं उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है। यदि किसी को कोटे स अधिक मत मिले हैं तो उन मतो का भी लाभ उठाया जाता है, उन्हे मतपत्र की सूची म क्रम मे दूसरे उम्मीदवारो को दे दिये जाते हैं। मतपत्र मे प्रकट की गयी पसन्द क्रम म न केवल उन्ही उम्मीदवारो के बचे हुए मत क्रमिक रूप स दूसरे उम्मीदवारो को दिए जात हैं जिन्हे आवश्यकता से अधिक मत मिले हैं बल्कि, जिन्होंने सबसे कम मत प्राप्त किये हैं तथा जिनके विजयी होने की कोई आशा नही है उन उम्मीदवारो को भी पहली पसन्द के जितने मत मिले हैं, वे क्रमिक ढग से दूसरों का दे दिये जाते हैं। उनके मत-पत्रों की छानबीन उन्हें प्राप्त दूसरी तीसरी,

वर्गों को नाम मात्र का प्रतिनिधित्व दे देने से क्या लाभ ? जब अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होगा तो विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों को जनता की अधिकतम सहमति प्राप्त नहीं हो सकेगी। जहाँ कानून बनाने में लोगों की सहमति नहीं होती, वहाँ कानूनों की अनुपालना में भी कठिनाई होती है। जिन अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलता— वे बहुसंख्यकों के शासन व अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं क्योंकि आज के राजनीतिक असन्तुष्ट वर्ग व क्रान्तिकारी बन जाते हैं।[4] अतः प्रतिनिधित्व का कोई एक ऐसा सिद्धान्त अपनाया जाना चाहिए जिससे समाज में जितने भी वर्ग निवास कर रहे हैं, उन सभी वर्गों का उनके अनुपात में विधायिका में प्रतिनिधित्व हो जाय। जे० एस० मिल का कहना है कि समाज के सभी वर्गों का उनके अनुपात में प्रतिनिधित्व का सबसे अच्छा सिद्धान्त आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त है।[5] अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए मुख्यतः निम्न प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ सम्मिलित की हैं—

(i) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
(ii) सीमित मतदान की योजना,
(iii) वैकल्पिक अथवा सभाव्य मतदान प्रणाली
(iv) साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व,
(v) संचित मतदान प्रणाली, तथा
(vi) द्वितीय मत प्रणाली।

लेकिन इन सभी प्रणालियों में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ही ज्यादा प्रचलित एवं लोकप्रिय है अतः यहाँ हम इसी पर विस्तार से विचार करेंगे।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है जे० एस० मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का सबसे ज्यादा समर्थन किया है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व का लक्ष्य सभी वर्गों को उनके मतदान की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक वर्ग को जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से साधारण से शब्दों में तात्पर्य है कि समाज में प्रतिनिधित्व का आधार जनता के अनुपात में होना चाहिए। जिस वर्ग के जितने लोग समाज में निवास करते हैं, उन लोगों के अनुपात में उनका राजनीतिक शासन में प्रतिनिधित्व होना चाहिए। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के केवल दो ही भेद हैं—(1) हेयर की एकल संक्रमणीय मत प्रणाली और (2) सूची-प्रणाली।

1 हेयर-प्रणाली अथवा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व से साधारणतया सम्बन्धित योजना अथवा प्रयोग हेयर-प्रणाली कहलाता है। टामस हेयर ने इस प्रणाली का सर्वप्रथम 1851 में प्रतिपादन किया अतः इसे हेयर प्रणाली कहा जाता है।[6] इसे एण्ड्रे प्रणाली के नाम से भी जाना जाता है। एण्ड्रे ने 1855 में इसे डेनमार्क में लागू किया। कुछ लोग इसे एक संक्रमणीय मत प्रणाली भी कहते हैं क्योंकि उन उम्मीदवारों का मत आधिक्य जो निर्वाचित घोषित हो चुके हैं उन उम्मीदवारों को दे दिया जाता है, जिन्हें उससे सहायता हो सकती है। उस वरीयता के कारण, जो एक मतदाता उम्मीदवारों को प्रदान करना चाहता है, उस आधार पर इसे वरीय प्रणाली कहते हैं।[7]

इसमें मुख्यतः निम्न बातें सम्मिलित होती हैं—

(i) मतदाता इसमें वरीयता के रूप में मतदान करते हैं। वरीयता एक से अधिक दी जा सकती हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हैं।

(ii) इसमें वरीयतायें स्थानान्तरित होती रहती हैं।

(iii) इसमें एक कोटा निश्चित कर दिया जाता है जिसने निश्चित कोटा जितने मत प्राप्त कर लिए हों तो उसे विजयी घोषित किया जाता है। कोटा निश्चित करने की विधि निम्न है—

$$\text{कोटा} = \frac{\text{वैधमत}}{\text{उम्मीदवारों की संख्या} + 1} + 1$$

मतदाता मतपत्र में अपनी पसन्द उम्मीदवारों के नाम के आगे 1, 2, 3, 4, 5 आदि अंक लिखकर प्रकट करता है। मतदान के बाद जोड़ा जाता है कि किस उम्मीदवार को 1 नम्बर की पसन्द कितनी मिली हैं। जिन उम्मीदवारों को निश्चित कोटा के बराबर मत मिल जाते हैं उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है। यदि किसी को कोटे से अधिक मत मिले हैं तो उन मतों का भी लाभ उठाया जाता है, उन्हें मतपत्र की सूची में क्रम से दूसरे उम्मीदवारों को दे दिये जाते हैं। मतपत्र में प्रकट की गयी पसन्द क्रम में न केवल उन्हीं उम्मीदवारों के बचे हुए मत क्रमिक ढंग से दूसरे उम्मीदवारों को दिए जाते हैं जिन्हें आवश्यकता से अधिक मत मिले हैं वरन्, जिन्होंने सबसे कम मत प्राप्त किये हैं तथा जिनके विजयी होने की कोई आशा नहीं है उन उम्मीदवारों को भी पहली पसन्द के जितने मत मिले हैं, वे क्रमिक ढंग से दूसरों को दे दिये जाते हैं। उनके मत-पत्रों की छानबीन उन्हें प्राप्त दूसरी तीसरी

चौथी आदि पसन्दों की गणना की जाती है, और उसी के अनुसार मत दूसरों को स्थानान्तरित किए जाते हैं। मतों का यह दोहरा हस्तान्तरण निर्वाचन प्रतियोगिता से बाहर न हो जाने वाले उम्मीदवारों के बीच तब तक चलता रहता है जब तक आवश्यक कोटा पाने वाले उम्मीदवारों की संख्या उतनी नहीं हो जाती जितने प्रतिनिधि उस निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने हैं। ऐसी स्थिति आ जाने पर मतों का हस्तान्तरण रोक दिया जाता है और परिणाम घोषित कर दिए जाते हैं।

सूची-प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व का एक अन्य स्वरूप सूची प्रणाली है। इस योजना के अनुसार सब उम्मीदवारों को उनके दल के अनुरूप सूचीबद्ध किया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए, प्रत्येक दल पूर्ण की जाने वाली सीटों की संख्या तक अपने उम्मीदवारों की सूची उपस्थित करता है। मतदाता मनपसन्द की सूची के मतदान करता है और सूची लिखित व्यक्तिगत उम्मीदवारों के पक्ष में डाले गए मत स्वतः ही सूची के लिए मत के रूप में गिने जाते हैं। इसका आशय यह है कि मतदाता दल के लिए अथवा दल द्वारा बनायी गयी सूची के लिए मतदान करता है, न कि उम्मीदवार के लिए और सीटों का प्रत्येक सूची के लिए प्राप्त मतों की संख्या के अनुपात में दलों में विभाजित किया जाता है। उम्मीदवार के लिए आवश्यक मतों की संख्या या कोटा हेयर प्रणाली की भाँति निश्चित कर दिया जाता है इसके बाद प्रत्येक दल सूची द्वारा प्राप्त मतों की कुल संख्या को कोटा द्वारा विभाजित किया जाता है और उसका भजनफल प्रतिनिधियों की वह संख्या होती है जिसका प्रत्येक दल अधिकारी होता है।

सूची प्रणाली अत्यन्त सरल है। इसमें मतदाता को केवल दल का निर्वाचन करना होता है। ज्यों ही वह दल का निर्वाचन करता है वह उस दल के सभी प्रत्याशियों को अपने मत दे देता है। इस प्रथा द्वारा दलों के नेताओं का महत्व आवश्यकता से ज्यादा बढ़ जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली एक मूल्यांकन

इस प्रणाली के प्रशंसकों का मानना है कि यह निर्वाचन अत्यधिक लोकतान्त्रिक प्रणाली है। यह एक ऐसी विधि है, जो छोटे या बड़े सभी दलों का प्रतिनिधित्व का भरोसा प्रदान करती है और वह भी उनके मतदान की राशि के अनुपात में। इस तरह संसद सब लोगों की राय का आईना (Mirror) बन जाता है। लार्ड

एक्टन का कहना है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के विषय म कहते हैं कि 'यह प्रणाली अत्यधिक प्रजातान्त्रिक है। इसम उन सहस्रो व्यक्तियो की आवाज का महत्त्व बढ जाता है, जिनकी, अन्यथा, शासन मे कोई आवाज ही नही हो सकती थी, और इसके द्वारा एक ऐसे उपाय से जिससे कि कोई भी मत व्यर्थ नही जाता, मनुष्य को समानता के अधिक निकट ला दिया जाता है और प्रत्येक मतदाता अपना एक सदस्य ससद म ले आने मे योगदान करता है।

इस प्रणाली म दलो को सुरक्षा और राजनीतिक सन्ताप की भावना बढती है। इस व्यवस्था मे इसीलिए राजनीतिक दलो की सख्या बढ जाती है और परिणामस्वरूप दबाव समूहो की सख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है। अनेक दल मिल-जुल कर सविद सरकार (Coalitional Government) निर्माण करते हैं। लेकिन इन प्रशसाओ की अपेक्षा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की आलोचनाएँ ही ज्यादा की गयी हैं। इस सम्बन्ध म सवप्रथम लास्की के विचारो का उल्लेख करना युक्तिसगत होगा। लास्की का कहना है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली जन-जीवन के सम्मान को उन्नत करने म असफल रही है क्योकि यह छोटे दलो को जन्म देती है जो सम्बद्ध सावजनिक मत की प्राप्ति असम्भव कर देते है। बहुदलीय प्रणाली दुबल सरकार की द्योतक है और दुबल सरकार का अन्तत अर्थ है—अनुत्तरदायी सरकार। ऐसी सरकार म दलबदल, भ्रष्टाचार राजनीतिक अनैतिकता, स्वार्थपरता एवम् पक्षपात जैसी बुराइयो का बोलबाला बढ जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली पर्याप्त रूप मे जटिल और औसतन मतदाता की समझ स बाहर है। हयर प्रणाली (एकल सक्रमणीय मत पद्धति) म मतो की गणना और पुनगणना, उसका स्थानान्तरण आदि एक जटिल एवम् दुगम समस्या है और उसके साथ ही मतो सम्बन्धी वरीयताएँ (Preferences) की गणना भी पचीदगी है।

इस प्रकार आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के पक्ष एव विपक्ष मे अनेक तक प्रस्तुत किय गये हैं परन्तु यदि इस प्रणाली को ढग से उपयोग म लाया जाये तो इससे उत्पन्न होने वाली समस्याओ का कम किया जा सकता है तथा राजनीतिक व्यवस्था को और अधिक प्रजातान्त्रिक बनाया जा सकता है। यदि देश म प्रजातान्त्रिक मूल्य हैं, यदि देश के नागरिक सही मायने मे प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना मे विश्वास करते हैं तो यह प्रणाली सर्वाधिक उपयुक्त साबित हो सकती है।

पाद टिप्पणी

1 यहाँ आज से अढ़ाई हजार वर्ष यूनान के नगर राज्यों में प्रचलित प्रजातांत्रिक व्यवस्था से तात्पर्य है।
2 प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में नागरिकता सम्बन्धी अधिकार कुछ ही लोगों तक सीमित थे। स्त्रियों एवम् दासों को नागरिकता सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नहीं थे।
3 सैट ई० एम, पॉलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० 467-499
4 मिल जे० एस०, रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेण्ट।
5 वही,
6 हेयर टॉमस, इलेक्शन आव रिप्रजेन्टेटिवज।
7 वही।

अध्याय 20

लोकमत आधुनिक परिवेश मे जन-ब्रह्मास्त्र

आधुनिक लोकतन्त्र एवम् लाकमत दोनो म गहरा सम्ब ध है। व्यापक मताधिकार, राजनीतिक दलो के सगठन और लोकमत पर आधारित विधायिकाएँ इन सबने लाकमत के महत्व को बहुत अधिक बढा दिया है। यद्यपि राजनीतिज्ञ "लाकमत" शब्द का उपयोग राजनीति विज्ञान के अन्य शब्दो की भाति व्यापक रूप मे करते ह। तदापि इस शब्द के विविध और कभी-कभी विरोधी अर्थ किय जाने की सम्भावनाएँ है। यथा एक आधुनिक लेखक ने लिखा है, "यह एक अस्पष्ट शब्द है जिसका उपयोग लेखकगण राजनीतिक और आर्थिक मसलो की चर्चा करते समय मनमाने ढग से किया करते हैं। अत इस शब्द का प्रयोग काफी सोच समझ के बाद किया जाना चाहिए।"

लोकमत दो व्याख्याएँ

लोकमत के दो महत्वपूर्ण विचार है—(अ) लोकमत सिद्धात न होकर विश्वास है। (ब) लोकमत समूची जनता से बनता है। लियनॉर्ड ड्यूब का कहना है, "लोकमत का अर्थ एक ही सामाजिक गुट के सदस्यो के रूप मे जनता का किसी प्रश्न या समस्या के प्रति रुख या विचार है।"[1] विल्हेल्म बाबर वास्तविक लोकमत और जनता मे अभिव्यक्त मत म अन्तर बतलाते है।[2] जनता द्वारा अभिव्यक्त मत तो वास्तविक मे वैयक्तिक होता है जबकि लोकमत एक बहुत ही व्यापक सुसगठित शक्ति है। लोकमत मे मुख्यत चार बातें निहित हाती हैं

(1) लोकमत समुदाय या जनता की भावना पर आधारित होते हैं।

(ii) समुदाय के इन सदस्यों का अर्थात् जनता के कुछ सामान्यहित या समस्याएँ होती हैं जिनके सम्बन्ध में वे एक दूसरे से विचार विमर्श करते हैं, भले ही कभी कभी किसी हद तक वे एक-दूसरे से मतभेद भी रखें।

(iii) एक या अधिक नेता होते हैं जिनका काम समय-समय पर उत्पन्न मसलों पर अपना मत स्थिर करना और फिर गुट के सदस्यों अर्थात् जनता का ध्यान उस मत की ओर आकर्षित करना होता है।

(iv) गुट के सदस्यों द्वारा इस मत को स्वीकार किया जाना है और इस मत से उत्पन्न जरूरी कार्यवाही का समर्थन करना है।

कुछ अन्य लेखकों की मानना है कि वाद विवाद लोकमत का सार है। परस्पर विरोधी विचारों और शक्तियों की अन्त क्रिया से लोकमत बनता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लोकमत शिक्षामूलक होता है। अनेक बार सोचकर ही जनता सोचना सीख सकती है। आज कोई भी सरकार साधारणत लोकमत की अवहेलना नहीं करेगी, क्योंकि ऐसा करने का अंतिम परिणाम जनता का कोपभाजन बनना होगा।

लोकमत मूल्यांकन

लोकमत की पहिचान हमेशा आसानी से नहीं होती और पहिचान लेने पर भी यह निश्चय करना आसान नहीं होता कि उसमें 'लोक' और 'मत' दोनों हैं ही। यदि हम चाहते हैं कि लोकमत से सचमुच जनता को लाभ हो तो हम सही लोकमत और गलत लोकमत में अन्तर करना होगा। आजकल जो कुछ लोकमत मान लिया जाता है उसका बहुत बड़ा अंश बहुत ही कृत्रिम परिस्थितियों से बनता है। यह मत किसी न किसी प्रकार के दबाव डालने वाले गुटों एवम् निहित स्वार्थों का मत होता है। लोकमत वही है जो बिना किसी बाहरी दबाव एवम् निःस्वार्थ की भावना पर आधारित हो तथा जो स्वत जन मानस में विकसित होता हो। स्वस्थ लोकमत के निर्माण में अनेक तत्त्व योगदान देते हैं जिनमें स्वस्थ प्रचार समाचार-पत्र सुसगठित राजनीतिक दलों आदि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन सभी सस्थाओं को विधेयात्मक कदम उठाते हुए स्वस्थ लोकमत की दिशा में प्रयास करना चाहिए। यदि लोकमत को सार्थक बनाना है तो यह जरूरी है कि वह विचारपूर्ण, सुबोध और व्यापक हो। उसे इस योग्य होना चाहिए कि उसका प्रतिपादन किया जा सके और उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सके कि समझ में आ जाए। स्वस्थ लोकमत के निर्माण और प्रसार के लिए आवश्यक है कि नेताओं एवम् जनता दोनों में निष्पक्ष दृष्टिकोण, शान्त विचार और प्रौढ विवेक हो। यदि

लोकमत के निर्माण मे जनता का महत्त्वपूण भाग लेना है तो यह जरूरी है कि लोग सुशिक्षित हों, विचारशील हो, और पूव-धारणाओ द्वेष आदि से मुक्त हो और उन्ह इतना अवकाश हो कि वे प्रमाणो की परख करके एक सुविचारित निणय तक पहुच सकें। यद्यपि लोकमत की सही सही खोज कठिन होती है फिर भी वही एक एक मजबूत आधारशिला है जिसपर स्थायी लोकतन्त्र का निर्माण किया जा सकता है।

अध्याय 21

कानून की अवधारणा

सम्प्रभुता' का विचार राजनीति विज्ञान के अध्ययन का आधार है। यह वह रीढ़ की हड्डी है जिसने राज्य को शक्तिशाली बनाये रखा है तथा अन्य समुदायों की तुलना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिला रखा है। सम्प्रभुता के प्रत्येक विचार विमर्श में कानून का सवाल ही सदैव मौजूद रहता है। सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति यदि कानून के रूप में तथा इसका उपयोग कानून के रूप में न हो तो इसका कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाएगा। अतः राज्य सम्प्रभुता पर और सम्प्रभुता कानून के निर्माण एवम् क्रियान्वयन पर आधारित होती है।

अंग्रेजी भाषा में कानून का समानार्थी शब्द ला (law) है गिलक्राइस्ट ने बताया है कि इस 'ला' शब्द की उत्पत्ति पुरानी ट्यूशन (जर्मन) भाषा की लेग (lag) धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'वह जो स्थिर और सर्वत्र समान रहे।" मैकाइवर का भी इस सन्दर्भ में कहना है कि कानून का शासन सर्वत्र है कानून सर्वव्यापी है। जहाँ कहीं जीवन है वहाँ उसके सर्वव्यापी कानून हैं और प्रत्येक प्रकार के जीवन के अनुरूप उसके अपने कानून भी हैं।

कानून' शब्द का उपयोग अनेक अर्थों में किया जाता है जैसे कि —(i) वैज्ञानिक कानूनों के रूप में जिनमें किसी कार्य का और उसके कारण का सम्बन्ध कायम किया जाता है। (ii) सामाजिक कानून—इस श्रेणी में वे कानून आते हैं जो व्यक्ति का समाज के एक सदस्य के रूप में मार्ग प्रदर्शन करते हैं। इन्हें रीति रिवाज या प्रथायें कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। (iii) नैतिक कानून—ये वे कानून हैं जो सत् असत् की मौलिक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। नैतिक नियमों का सम्बन्ध अन्तःकरण अथवा विवेक होता है। (iv) राजनीतिक कानून —इस श्रेणी में वे कानून आते हैं जो व्यक्ति के व्यवहार का राज्य के एक सदस्य के रूप में नियन्त्रण एवम् पथ प्रदर्शन करते हैं।

कानून की परिभाषा

कानून के शास्त्रीय सिद्धान्त के प्रणेता आस्टिन का कहना है कि कानून वह आदेश है जो कि राजनीतिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली द्वारा राजनीतिक दृष्टि से कम शक्तिशाली को दिया जाता है। लेकिन इस परिभाषा में समाज में प्रचलित प्रथाएँ अथवा परम्पराएँ नहीं आ पाती। अतः कुछ विचारक जैसे सर हेनरी मेन आदि इसे एक संकीर्ण परिभाषा मानते हैं। जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण में विश्वास रखने वाले विचारक हैं उनकी दृष्टि में कानून विभिन्न सामाजिक बलों का परिणाम है। इसी प्रकार वुडरो विल्सन का कहना है कि 'कानून हमारे वे आचार-विचार हैं जिनको सर्वत्र समान नियमों के रूप में निश्चित मान्यताएँ मिल जाती हैं और जिनको सरकार की शक्ति और सत्ता का समर्थन प्राप्त रहता है।'

इस प्रकार कानून की इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि कानून किसी राज्य की सामाजिक दशा को प्रतिबिम्बित करता है। वह नियमों का एक सकलन मात्र है, वह व्यक्ति के बाहरी व्यवहार का नियन्त्रण करने वाली शक्ति है और उसमें दबाव का तत्त्व निहित है जिसमें नैतिक दबाव की अपेक्षा भौतिक दबाव अधिक है।

कानून के स्रोत

राज्य की भाँति कानून का विकास भी शनैः शनैः हुआ है और उसके विकास में अनेक कारकों का योगदान रहा है। कानून के निम्नलिखित स्रोत बताये गये हैं—

राज्य की भाँति कानून भी इतिहास की उपज है। यह विकास के विभिन्न स्तरों में से निकलता है तथा इसके विकास में अनेक अंशों ने योगदान किया है। इन सब अंशों को कानून का स्रोत कहा जा सकता है। ये प्रमुख स्रोत निम्न हैं—

परम्पराओं, रूढ़ियों तथा रीतियों को कानून का प्राचीनतम स्रोत कहा जा सकता है। विधि शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय रूढ़ियों के कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत मानने में वास्तविक सहमति रखते हैं। परन्तु राजनीतिक शब्दावली की दृष्टि से रूढ़ियाँ कानून नहीं हैं किन्तु जब राज्य इन रीति रिवाजों को बन्धन के रूप में स्वीकार कर लेता है तो वे कानून के स्तर को ग्रहण कर लेती हैं। कोई भी राज्य अपने देश के रीति रिवाजों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्राचीन समाजों में प्रथायें एवं रीति रिवाज ही कानून थी और कानून धर्म था। कानून एवं धर्म दोनों इतने घुले मिले थे कि जीवन के सब नियमों को धार्मिक मान्यता थी। भारत में वर्तमान हिन्दू कानून का सर्वाधिक प्रभावकारी आधार मनु की संहिता है तथा मुसलमानी कानून का स्रोत शरीअत है।

अध्याय 22

स्वतन्त्रता की अवधारणा

स्वतन्त्रता की धारणा राजनीतिक सिद्धान्त की उन अवधारणाओ में से है जो एक लम्बे इतिहास के दौरान विकसित हुई है। विश्व की अनेक क्रान्तियो, और समाज मे तरह-तरह के परिवर्तनो का कारण स्वतन्त्रता की आकांक्षा ही रही है। कोई भी भावना व्यक्ति को इतनी प्रभावित नही करती, जितनी कि स्वतन्त्रता की भावना। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता का अत्यधिक महत्व है। इसके बिना व्यक्ति स्वयं को भरा पूरा महसूस नही करता। स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति पिंजरे मे बन्द पक्षी के समान है, जिसके जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग छीन लिया गया हो। स्वतन्त्रता शब्द का शाब्दिक अर्थ है अपना 'तन्त्र' अर्थात् आत्म अनुशासन अपने ऊपर अपना शासन। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी रोक टोक के अपने विवेक एवं इच्छानुसार कार्य करने की छूट रहे। स्वतन्त्रता उच्छृंखलता की पर्यायवाची नही है, मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं चाहता। स्वतन्त्रता को बन्धन हीनता मानना स्वतन्त्रता की गलत व्याख्या करना है। स्वतन्त्रता का अर्थ है 'व्यक्तित्व के विकास के अवसर'। लास्की स्वतन्त्रता का अर्थ देते हुए स्वतन्त्रता का सकारात्मक मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा अवसर प्राप्त करने का अधिकार है। नागरिक सदा ही भौतिक नैतिक तथा व्यक्तित्व के विकास के इच्छुक होते हैं। ऐसा वे तभी कर पाते हैं जब सर्वाधि कुछ नियमों द्वारा उनके हितो की रक्षा कर सकें। अब

के पालन कर पाने मे है। लास्की न

कि आवश्यकता है केवल वर्ग उस याता

मिल सके।

स्वत

राज्य के बन्धनों से पूर्णतः स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए। इनका दावा है कि व्यक्ति राज्यविहीन समाज में ही अपनी क्षमता के अनुसार उन्नति के सुअवसर प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार कानून को स्वतन्त्रता के विरुद्ध माना गया है।

इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि स्वतन्त्रता के मार्ग में कानून बाधा नहीं अपितु स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिए सम्बल प्रदान करते हैं। स्वतन्त्रता का सार कानून है। राज्य के कानून स्वाधीनता को घटाने के बजाय उसे बढ़ाते और कायम रखते हैं। यदि हत्यारे को दण्ड दिया जाता है तो इसका अर्थ भी स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही है। जो कानून हत्यारे को दण्ड दिलाता है, वही जनता के अधिकारों की व्याख्या करता है और उनका संरक्षण भी करता है। वस्तुतः स्वतन्त्रता के ऊपर बन्धन लगने से मनुष्यों की प्रसन्नता में वृद्धि होती है।

संक्षेप में कहने का अर्थ यह होगा कि राज्य के नियमों से स्वतन्त्रता का विनाश नहीं होता। वे स्वतन्त्रता के साधक हैं और यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि राज्य द्वारा लगाये गए नियन्त्रण से, जनता की स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है। यदि बन्धन एक सीमा से ज्यादा है, तो निश्चय ही उन्हें मनुष्य की स्वतन्त्रता का घातक कहना होगा। अतः स्वतन्त्रता पर कानून का नियन्त्रण होना चाहिए लेकिन इतना अधिक नहीं स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाए और न ही यह होना चाहिए कि स्वतन्त्रता कानूनों के अभाव में उच्छृंखलता का स्वरूप धारण कर ले। इसीलिए डयूवी का कहना है कि "उत्तरदायित्व के बन्धन से हीन स्वतन्त्रता उच्छृंखलता बन जाती है। स्वतन्त्रता से असंयमित उत्तरदायित्व स्वेच्छाचारी शक्ति का रूप धारण कर लेता है। इसलिए प्रश्न यह नहीं कि क्या स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व मिलें, प्रत्युत प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार मिल सकते हैं और उनसे किस प्रकार अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है।"

रूढ़ियों, धर्म आदि के अतिरिक्त न्यायिक निर्णय भी कानून के महत्त्वपूर्ण स्रोत कहे जा सकते हैं। प्रारम्भिक समाजों में जब लड़ाई झगड़े होते थे तो उनके निपटारे का उत्तरदायित्व कुछ विद्वान् लोगों को सौंपा जाता था तथा उनके निर्णय को माना जाता था उन्हें दृष्टान्त समझा जाता था। जब सामाजिक संगठन अधिक जटिल हो गया और अलिखित रीति रिवाजों से काम नहीं चलने लगा तो उन्हें लेखबद्ध कर दिया गया। न्यायधीशों की संस्थाओं ने जन्म लिया। वे समय-समय पर जो निर्णय लेते थे, टीका लिखते थे उससे भी कानून के कलेवर में वृद्धि हुई।

वैज्ञानिक भाष्य भी कानून के स्रोत रहे हैं। बड़े-बड़े न्याय वेत्ताओं के वैज्ञानिक विवादों से भी कानून का संशोधन एवं विकास होता है। प्रत्येक राज्य में न्यायाधीश एवं पत्रकार दोनों ही विधि-वेत्ताओं की सम्मतियों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। न्याय-वेत्ता भूतकालीन रीतियों, निर्णयों और कानूनों का संग्रह करते हैं और दार्शनिक रूप से उनका क्रम निश्चित करते हैं। वे वर्तमान विधियों पर विचार करते हैं, उनकी व्याख्या करते हैं और जहां वे अस्पष्ट हों, उन्हें स्पष्ट करते हैं। ऐसा करते हुए, वे इस विषय में अपना मत प्रकट करते हैं कि कानून कैसा होना चाहिए और समाज पर उसका क्या प्रभाव होगा। भूत एवं वर्तमान कानून के आधार पर वे भावी विधान निर्माण का पथ प्रदर्शन करते हैं। जब न्यायाधीश न्याय-वेत्ताओं की सम्मति को स्वीकार कर लेते हैं तो यह वर्तमान कानून का अंश बन जाती है।

कानून एवं स्वतन्त्रता

कानून एवं स्वतन्त्रता दोनों के सम्बन्धों में सम्बन्ध में प्रमुखतः दो विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। एक विचारधारा का मानना है कि कानूनों के अभाव में ही स्वतन्त्रता सम्भव है क्योंकि राज्य के कानून मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कम करते हैं तथा व्यक्ति के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। इसके बिल्कुल विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों की मान्यता है कि कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध नहीं अपितु, वे स्वतन्त्रता के साधक हैं। व्यक्तिवादी, अराजकतावादी विचारकों का मत है कि कानून एवं स्वतन्त्रता, दोनों को मिलाया नहीं जा सकता। जहां कानून होगा, वहां स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। राज्य की प्रभुत्व शक्ति जीवन के हर पहलू पर प्रभाव डालती है। अतः पद पद पर, मनुष्य को राज्य के कानूनों की आज्ञा माननी पड़ती है। इस प्रकार मनुष्यों की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है और उसका कार्य करने का उत्साह मारा जाता है इसीलिए व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। राज्य को शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं करना चाहिए। अराजकतावादी इससे एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं और कहते हैं कि समाज को

राज्य के बन्धनों से पूर्णतः स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए। इनका दावा है कि व्यक्ति राज्यविहीन समाज में ही अपनी क्षमता के अनुसार उन्नति के सुअवसर प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार कानून को स्वतन्त्रता के विरुद्ध माना गया है।

इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि स्वन्तत्रता के मार्ग में कानून बाधा नहीं अपितु, स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिए सम्बल प्रदान करते हैं। स्वतन्त्रता का सार कानून है। राज्य के कानून स्वाधीनता को घटाने के बजाय उसे बढ़ाते और कायम रखते है। यदि हत्यारे का दण्ड दिया जाता हैं तो इसका अर्थ भी स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही है। जो कानून हत्यारे को दण्ड दिलाता है, वही जनता के अधिकारों की व्याख्या करता है और उनका संरक्षण भी करता है। वस्तुतः स्वतन्त्राओं के ऊपर बन्धन लगने से मनुष्यों की प्रसन्नता में वृद्धि होती है।

संक्षेप में कहने का अर्थ यह होगा कि राज्य के नियमों से स्वतन्त्रता का विनाश नहीं होता। वे स्वतन्त्रता के साधक है और यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि राज्य द्वारा लगाये गए नियन्त्रण से जनता की स्वतन्त्रता में वद्धि होती है। यदि बन्धन एक सीमा से ज्यादा है, तो निश्चय ही उन्हें मनुष्य की स्वतन्त्रता का घातक कहना होगा। अतः स्वतन्त्रता पर कानून का नियन्त्रण होना चाहिए लेकिन इतना अधिक नहीं स्वतन्त्रता ही समाप्त हो जाए और न ही यह होना चाहिए कि स्वतन्त्रता कानूनों के अभाव में उच्छृंखलता का स्वरूप धारण कर ले। इसीलिए ड्यूवी का कहना है कि "उत्तरदायित्व के बन्धन से हीन स्वतन्त्रता उच्छृंखला बन जाती है। स्वतन्त्रता से असयमित उत्तरदायित्व स्वेच्छाचारी शक्ति का रूप धारण कर लेता है। इसलिए प्रश्न यह नहीं कि क्या स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व मिलें, प्रत्युत प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार मिल सकते है और उनसे किस प्रकार अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है।"

अध्याय 22

स्वतन्त्रता की अवधारणा

स्वतन्त्रता की धारणा राजनीतिक सिद्धान्त की उन अवधारणाओं में से है जो एक लम्बे इतिहास के दौरान विकसित हुई है। विश्व की अनेक क्रान्तियों और समाज में तरह-तरह के परिवर्तनों का कारण स्वतन्त्रता की आकांक्षा ही रही है। कोई भी भावना व्यक्ति को इतनी प्रभावित नहीं करती, जितनी कि स्वतन्त्रता की भावना। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता का अत्यधिक महत्व है। इसके बिना व्यक्ति स्वयं को भरा पूरा महसूस नहीं करता। स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति पिंजरे में बन्द पक्षी के समान है, जिसके जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग छीन लिया गया हो। स्वतन्त्रता शब्द का शाब्दिक अर्थ है अपना 'तन्त्र' अर्थात आत्म अनुशासन, अपने ऊपर अपना शासन। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी रोक टोक के अपने विवेक एवं इच्छानुसार कार्य करने की छूट रहे। स्वतन्त्रता उच्छृंखलता की पर्यायवाची नहीं है मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं चाहता। स्वतन्त्रता का बंधन हीनता मानना स्वतन्त्रता की गलत व्याख्या करना है। स्वतन्त्रता का अर्थ है 'व्यक्तित्व के विकास के अवसर'। लास्की स्वतन्त्रता का अर्थ देते हुए स्वतन्त्रता को सकारात्मक मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा अवसर प्राप्त करने का अधिकार है। नागरिक सदा ही भौतिक नैतिक तथा व्यक्तित्व के विकास के इच्छुक होते हैं। ऐसा वे तभी कर पाते हैं जब समाज कुछ नियमों द्वारा उनके हितों की रक्षा कर सके। अब स्वतन्त्रता की सम्भावना उन्हीं नियमों के पालन कर पाने में है। लास्की ने स्वतन्त्रता की परिभाषा देते हुए कहा है कि स्वतन्त्रता से मेरा अर्थ उस वातावरण से है जिसमें व्यक्ति को अपने सर्वोच्च विकास का अवसर मिल सके।

विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियां राज्य द्वारा ही प्रदान की जाती हैं। इस रूप मे स्वतन्त्रता राज्य की ही देन है। स्वतन्त्रता, अधिकारों का परिणाम है। विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो पर आधारित राज्य ही अपने नागरिकों को स्वतन्त्र वातावरण प्रदान कर सकता है। ऐसे ही समाज मे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की पहिचान और समाज कल्याण की ओर उचित योगदान दे सकता है। व्यक्ति का यह निश्चय होना चाहिए कि सरकार के निर्णय समाज की अत्यधिक भलाई के लिए है। अत लास्की कहते हैं कि अधिकारो के बिना स्वतन्त्रता सम्भव नही है क्योंकि अधिकारो के बिना व्यक्ति एक ऐसे कानून के अधीन होगा जो उसके व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकताओं की अवहेलना करता है। अत स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए कुछ सामाजिक बन्धनों की आवश्यकता है। समाज के उचित नियमों के पालन म ही वास्तविक स्वतन्त्रता निहित है।

प्राचीन काल मे भी स्वतन्त्रता के प्रति अज्ञानता नही थी। यह एक ऐसी धारणा थी जिसकी विद्वानो ने अपने रूप म व्याख्या की। प्राचीन भारत मे 'स्वधर्म' का चिंतन इसी दिशा म था। स्वधर्म पालन म ही स्वाधीनता है और 'स्वधर्म' शासक एव शासित दोनों को अपने दायरे म रखता था। स्वधर्म से च्युत मनुष्य रक्षणीय नही रहता था। यूनानी विचारक स्वतन्त्रता को समाज से अलग नही मानते थे। परिक्लीज के अनुसार "स्वतन्त्रता का अर्थ नागरिक का विकास तथा राजनीतिक गतिविधि मे भाग लेना है।" सुकरात ने कानून के पालन को ही स्वतन्त्रता माना। मध्य युग म स्वतन्त्रता ने एक नया अर्थ ग्रहण किया, यह था आत्मा तथा विचार की स्वतन्त्रता। इस धारणा का लाभ धार्मिक अधिकारियो ने भरपूर उठाया और भगवान की पूजा और विश्वास मे ही स्वतन्त्रता का अस्तित्व माना। इस विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही थी। यह नई विचारधारा राजनीतिक स्वतन्त्रता स सम्बंधित थी। अधिकारो और स्वतन्त्रता को प्राकृतिक अधिकार मान कर राजा से इनकी माग की गई और मिलने पर क्रान्तियो का सहारा लिया। परन्तु यह स्वतन्त्रता की नकारात्मक धारणा थी। स्वतन्त्रता स अर्थ लिया जाता था, व्यक्ति के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता। राजा का हस्तक्षेप किसी भी क्षेत्र मे अनुचित माना जाता था। यह नकारात्मक स्वतन्त्रता केवल पूंजीपतियों के लिए ही लाभदायक थी। समाज ने इसके विरुद्ध सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता की माग की, जिसका परिणाम हुआ स्वतन्त्रता की सकारात्मक भावना का उदय। इस रूप म स्वतन्त्रता के लिए उन सामान्य नियमो को स्वीकार किया जाता है जिसके पालन से सभी व्यक्ति स्वय को स्वतन्त्र पा सकें। स्वतन्त्रता के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए कुछ विशिष्ट विचारकों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं के अध्ययन से

पहले स्वतन्त्रता की अवधारणा के विकास का परिशीलन करना समीचीन होगा।

स्वतन्त्रता की अवधारणा का विकास

पश्चिमी राजनीतिक परम्परा मे आम तौर पर स्वतन्त्रता का अभिप्राय समाज म मानव जीवन के लिए "स्वतन्त्र और सुखद वातावरण" समझा जाता रहा है। प्राचीन यूनान के लोगों ने अपने स्वतन्त्र राज्यों और पूर्वी देशो के तानाशाही राज्यो मे अन्तर किया तो उनका अभिप्राय स्वतन्त्रता के इसी पक्ष से था। इसी तरह मेक्यावेलि ने भी जब स्वतन्त्रता और परतन्त्रता म अन्तर स्पष्ट किया तो उसका सकेत भी गणराज्यों मे रहने वाले लोगों के "स्वतन्त्र और सुखद वातावरण की ओर था जो बुरे राजाओ के शासन म उपलब्ध नही था। आधुनिक युग म लास्की ने भी स्वतत्रता की परिभाषा एक वातावरण विशेष की सुरक्षा के रूप म की है। मेकफरसन न इस प्रकार का वातावरण जुटान तथा उसे वास्तविक रूप देने के उपायो की विस्तृत चर्चा की है। हन्ना अरेन्ड न अपनी पुस्तक "दि ह्यूमन कडीशन" तथा हाइक न अपनी पुस्तक "रोड टू सफडम' मे भी स्वतन्त्रता के लिए उपयुक्त ढाचो का ही उल्लेख किया है। वामपथी लेखको की रचनाओं मे स्वतत्रता की धारणा के दो पक्षो का प्रमुखता दी गई है —

1 मुक्ति दिलाना अर्थात् स्थापित समाज म उत्पीडन के सुदृढ ढाचो को छिन्न भिन्न करना और उनसे मुक्ति प्राप्त कराना तथा

2 एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना जिसम व्यक्ति ऐतिहासिक प्राणी होने के नाते अपने प्रयत्नो से अपने अनुकूल विश्व का निर्माण कर सके।

स्वतन्त्रता की धारणा के सन्तुलित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम इसमे निहित समस्याओ को समझने की कोशिश करें। स्वतन्त्रता की धारणा म इन समस्याओ का अध्ययन तीन स्तरों पर किया जा सकता है —

1 स्वतन्त्रता के लिए व्यक्तिगत पहल की समस्या,

2 स्वतन्त्रता का सुरक्षित रखन वाली सस्थाओ की समस्या एव

3 स्वतन्त्रता की प्राप्ति म आने वाली बाधाओ की समस्या।

प्रारम्भिक उदारवादी लेखको ने स्वतन्त्रता का अर्थ लगाया, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत सुख और कल्याण के लिए अपनी इच्छा से काय करने की स्वतत्रता होना। इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए व उन सभी सस्थाओ के समर्थक थे, जो व्यक्ति की राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक प्रेरणा को अभिव्यक्त कर सके। अत उन्होने प्रतिनिधि सरकार कानून के शासन राजनीतिक अधिकारो, शक्तियो के पथक्करण, न्यायपालिका

की स्वतन्त्रता आदि पर बल दिया। स्वतन्त्रता के क्षेत्र म उदारवाद की महत्वपूर्ण दन सविधानवाद, कानून का शासन तथा अधिकारो की विज्ञप्ति है।

इसी प्रकार उदारवादियो के बिलकुल विपरीत मार्क्सवादी विचारक हैं जिन्होंन स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे अपने वाली बाधाओ की समस्याओ के सम्बन्ध म अपन विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार व्यक्ति की खुशहाली तथा स्वतन्त्रता के मार्ग म सबसे बडी और विकट बाधाए हैं—युद्ध, गरीबी, अज्ञान, बीमारी, भुखमरी तथा पलायनवाद आदि। इन बाधाओ पर विजय पाने के लिए व्यक्तिगत पहल के स्थान पर मार्क्सवाद मानव जाति के सामूहिक प्रयत्न की अपेक्षा करता है।

स्वतन्त्रता से तात्पर्य

हॉब्स् ने स्वतन्त्रता को 'बन्धनो का अभाव' माना है। परन्तु मकेन्जी ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि "स्वतन्त्रता बन्धनो का अभाव नही अपितु, अविवेकपूर्ण बन्धनो के स्थान पर विवेकपूर्ण बन्धनो का होना है।" लास्की, ' आधुनिक सभ्य समाज म मनुष्य की प्रसन्नता के लिए आवश्यक परिस्थितियो पर बन्धन के न होन" को ही स्वतन्त्रता मानते है। सीले के अनुसार "अति शासन का विपरीत ही स्वतन्त्रता है।" हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करन का स्वतन्त्र है, यदि वह दूसरे व्यक्ति के समान इच्छा को छीनन का प्रयत्न न करता हो।" अर्नेस्ट बार्कर की परिभाषा अत्यधिक स्पष्ट और व्यावहारिक मानी जाती है। "स्वतन्त्रता का अर्थ है कि राज्य सभी नैतिक व्यक्तियो को स्वतन्त्र और अपन ढग से अपनी योग्यताओ को विकसित कर पाने के लायक मान कर, ऐसे विकास के लिए सभी आवश्यक सुविधाए और अधिकार प्रदान करे।"

इन परिभाषाओ से हम स्वतन्त्रता के उचित अर्थ को समझ पाये हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ यदि असीमित स्वतन्त्रता नही है तो इसका अर्थ अनुचित कानूनो का पालन करना भी नही है। लास्की का कहना है कि नियमो का पालन तभी किया जाता है जब वे लाभदायक या व्यक्तिगत भलाई के लिए सहायक मान जाते हैं। लास्की, राज्य के हस्तक्षेप के सीमा निर्धारण के लिए के विचार का खडन करते हैं। उनके अनुसार स्वतन्त्रता उन अवसरो का नाम है जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक सिद्ध हो चुके हैं।

इस रूप में स्वतन्त्रता की कुछ विशिष्ट विशेषताओ का वर्णन किया जा सकता है—

1 स्वतन्त्रता केवल 'बन्धनों का अभाव' नहीं। बन्धन हीन समाज एक पशु समाज कहलायेगा। उचित बन्धनो का नाम ही स्वतन्त्रता है।

2 स्वतन्त्रता समाज म ही सम्भव है समाज के बिना स्वतन्त्रता का कोई अ नहीं रह जाता ।

3 व्यक्ति को स्वतन्त्रता अधिकारों द्वारा ही प्राप्त होती है । राज्य द्वारा दी गए अधिकारो स ही पता चलता है कि कौन सी स्वतन्त्रताए उपलब्ध हैं ।

4 स्वतन्त्रता प्राप्ति का अथ यह भी है कि ' सरकार के लिए अपने कार्यों के औचित्य को सिद्ध करना आवश्यक है ' । जब भी सरकार अधिकारो को छीनने का प्रयत्न करे, उसे एसा करन से रोका जा सके ।

5 स्वतन्त्रता, विशेषाधिकारो की स्थिति म भी सम्भव नही हो सकती । किसी एक वग को विशेषाधिकार प्राप्त होन का अथ है कि वह अपनी इच्छा नुसार बन्धन लगायगा और अधिकतम जनता की न्यूनतम स्वतन्त्रता भी छीन ली जाएगी ।

6 स्वतन्त्रता उन परिस्थितियो म भी सम्भव नही हो सकती जहा जनता के अधिकार कुछ लोगो की प्रसन्नता पर निभर करते है । अत समाज म योजना, न्याय, समानता इत्यादि के आधार पर ही शासन होना चाहिए, व्यक्तिगत इच्छा के आधार पर नही ।

7 कानून और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नही है । कानून के पालन म ही वास्तविक स्वतन्त्रता निहित होती है । व्यक्ति को सदा सावधान रहना होगा कि सरकार ऐसे कानून लागू न कर सक जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रताओ म कोई बाधा पडे ।

स्वतन्त्रता के प्रकार—

लास्की ने स्वतन्त्रता के मुख्य तीन प्रकार माने हैं —

1 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता स उनका अथ उन अवसरो की प्राप्ति से है जिनका प्रभाव स्वय व्यक्ति पर ही पडता है । व्यक्ति के विचार, विश्वास, धारणाए ही उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताए हैं और राज्य को इनमे हस्तक्षेप करन का प्रयत्न नही करना चाहिए । एक गरीब व्यक्ति जब उचित न्याय प्राप्त करन के अयोग्य हो तो उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे बाधा माना जाएगा । व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जीवन का वह तत्व है जिसका प्रभाव उसके समूचे जीवन पर पडता है । अत व्यक्तिगत विकास और मन की सतुष्टि के लिए उसे वे सभी सुविधाए प्राप्त होनी चाहिए जिनसे वह स्वावलम्बी हो सके और अपने व्यक्तित्व का ऐच्छिक विकास कर सक ।

2 राजनीतिक स्वतन्त्रता

राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है, राज्य के मामलों में सक्रिय भाग लेना। अपने विचार व्यक्त करने और सामान्य प्रशासन में इच्छानुसार भाग लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इन अधिकारों द्वारा जनता द्वारा शासन नियन्त्रण रूप से भाग लेने और आलोचना करने के अधिकार भी सम्मिलित हैं। लास्की के अनुसार इस स्वतन्त्रता के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। (1) जनसाधारण को उचित शिक्षा प्राप्त हो जिससे वे स्वयं को व्यक्त कर पाने में समर्थ हों। शिक्षा के अवसरों को किसी एक वर्ग तक सीमित रखना या ऐसी परिस्थितियां पैदा करना, जहां कोई जन समूह इन अवसरों की प्राप्ति से वंचित रह जाए, राजनीतिक स्वतन्त्रता के विपरीत होगा। (2) इसकी दूसरी आवश्यकता स्पष्ट और भेदभाव रहित समाचारों की प्राप्ति है। राज्य द्वारा गलत और पक्षपाती समाचार दिए जाने का अर्थ होगा, जनता को जानबूझकर अज्ञानी रखना और ऐसी जनता स्वतंत्र नहीं कहला सकती।

3 आर्थिक स्वतन्त्रता

आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है, अपनी इच्छानुसार जीविका कमाने के साधन जुटाना। भविष्य की चिन्ता और लूटमार की परेशानी से रहित व्यक्ति ही एक अच्छा नागरिक सिद्ध हो सकता है। इस स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति गुलाम ही कहला सकते हैं। आधुनिक समाज में आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है न्यूनतम वेतन, काम पाने का अधिकार, बेरोजगारी भत्ता, बीमारी आदि की दशा में सुविधाएं, इत्यादि। लास्की आर्थिक स्वतन्त्रता को औद्योगिक समानता के अनुरूप ही पाते हैं। उनका कहना है कि औद्योगिक प्रशासन भी नागरिक प्रशासन के समान ही होना चाहिए। अतः उद्योगपतियों को सहयोग और न्याय के आधार पर अपने कारीगरों को अधिकार प्रदान करने चाहियें। ये अधिकार उत्पादन के साधनों पर निर्भर करते हैं। काम करने के लिए वातावरण भय का नहीं, बल्कि विश्वास और कार्यशीलता का होना चाहिए। उद्योगपतियों को शोषण और मजदूर वर्ग की कमजोरी का लाभ उठाने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

इन तीन प्रकारों के अतिरिक्त हम स्वतन्त्रता की नागरिक, धार्मिक और सांविधानिक व्याख्या भी कर सकते हैं।

नागरिक स्वतन्त्रता

समाज के सदस्य होने के नाते शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए

आवश्यक सुविधाओं की प्राप्ति ही नागरिक स्वतन्त्रता कहलाती है। जीवन का अधिकार, भ्रमण करने, विचार व्यक्त करने इत्यादि की स्वतन्त्रताएं ही नागरिक स्वतन्त्रताएं कहलाती हैं। विधि के शासन से ही प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को स्वतन्त्र और सुरक्षित अनुभव करता है। ये स्वतन्त्रतायें सामाजिक हैं और इनका प्रयोग सामाजिक कल्याण के लिए ही किया जाता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता

धार्मिक स्वतन्त्रता भी व्यक्तिगत जीवन की एक मूलभूत स्वतन्त्रता है। इसका अर्थ है अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म में विश्वास, पूजा-पाठ, आर्थिक सहायता देने इत्यादि की स्वतन्त्रता। शासन का आधार धर्म नहीं होना चाहिए। शासन द्वारा नियमों का निर्धारण न्याय और जन-कल्याण का ध्यान में रखकर होना चाहिए। न किसी विशेष धर्म के सिद्धान्त पर।

सांविधानिक स्वतन्त्रता

बीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्रता का अर्थ है लोकप्रिय सरकार। लोकतन्त्र का आधार राष्ट्रीय स्वतन्त्रता है। व्यक्ति तथा प्रशासनिक अंगों की स्वतन्त्रता संविधान पर ही आधारित है। यह माना जाता है कि व्यक्तिगत अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते हैं जबकि उन्हें संविधान में सम्मिलित किया जाये। इस प्रकार कोई भी सत्ता निरंकुशता प्राप्त कर शोषण नहीं कर पायेगी।

स्वतन्त्रता के मुख्यतः दो पक्ष पाये जाते हैं—सकारात्मक तथा नकारात्मक। प्रारम्भिक उदारवादी विचारकों ने स्वतन्त्रता के नकारात्मक पहलू पर ही अधिक बल दिया। जान लाक, ऐडम स्मिथ, थामस पेन, हरबर्ट स्पेन्सर, जे०एस० मिल इत्यादि इसी विचारधारा के समर्थक थे। इन विचारकों का मत यह नहीं था कि स्वतन्त्रता सभी प्रकार के बन्धनों से रहित होनी चाहिए। ये विचारक इस बात को मानते थे कि अराजकता की स्थिति में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु ये विद्वान राज्य के कामों को कम से कम रखना चाहते थे जिससे कि व्यक्ति अपनी चेतना के अनुसार जीवन नियमित कर सके। इनका कहना था कि कानून जितने अधिक होंगे, व्यक्ति की स्वतन्त्रता उतनी ही कम होगी। मनुष्य समाज में रहता है अतः वह पारस्परिक सम्बन्धों, अन्तःक्रियाओं तथा अन्य भावनाओं से अछूता नहीं रह सकता। फिर भी व्यक्तिगत सम्बन्धों पर समाज का नियन्त्रण अवांछनीय है। लॉक ने मनुष्य के सामाजिक अधिकारों का आधार प्राकृतिक बताया। एक आदर्श अवस्था को छोड़ने का एकमात्र कारण इन अधि--कारों की सुरक्षा ही थी। लॉक ने इन अधिकारों पर इतना बल दिया कि राज्य

का अस्तित्व जनता की प्रसन्नता तक ही है। इसी प्रकार ऐडम स्मिथ, हरबर्ट स्पेंसर, मैकाले और रिकार्डो इत्यादि लेखकों ने भी व्यक्तिवाद के महत्व पर जोर देते हुए "अकेला छोड दो" की नीति का समर्थन किया। राज्य केवल पुलिस राज्य ही है। उसका काम व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करना है, उसके व्यक्तिगत जीवन मे हस्तक्षेप करना नही। राज्य को स्कूल, हस्पताल इत्यादि चलाने का कोई काम नही करना चाहिए। ये विचारक पूंजीवाद व्यवस्था को महत्व देते हुए अधिक पूँजी पर कर लगाने या आर्थिक समानता लाने के प्रयत्नों का विरोध करते हैं। मिल ने व्यक्ति के कार्यों को दो भागो मे बाटा था—व्यक्तिगत तथा सामाजिक। व्यक्तिगत कार्य वे हैं जिनका प्रभाव केवल व्यक्ति पर ही पड़ता है अत इन पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य होने चाहिये। सामान्य हित को ध्यान मे रखते हुए कम से कम बन्धन लगाये जाने चाहिए। यदि व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित मे विरोध होता है तो सामाजिक हित ही मुख्य माना जाना चाहिए। उदारवाद के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति समाज मे हुए भी अलग अस्तित्व रखता है। अत मिल का कहना है कि वह अपना भला बुरा स्वय सोच सकता है। सरकार को उसके निजी निर्णयो के प्रति बताने की कुछ आवश्यकता नही। बाद मे उदारवादी विचारकों ने आर्थिक समानता को महत्व दिया। परन्तु फिर भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महत्व समानता से अधिक ही माना गया। सर ईसीहा बर्लिन के अनुसार एक व्यक्ति को उसकी अनिच्छा या असमर्थता की अपेक्षा भी शिक्षा, धन या अन्य सुविधायें देना व्यर्थ है। अत नकारात्मक स्वतंत्रता मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, क्षमता, शक्ति, आत्म निर्णय इत्यादि तत्वो को प्रमुख महत्व दिया जाता है।

नकारात्मक स्वतन्त्रता की विचारधारा के प्रति जो विरोध की भावना जागृत हुई उसम समाज को व्यक्ति से महत्वपूर्ण माना गया। अत इस विचारधारा के आलोचक व्यक्ति को इतना अधिक महत्व दिये जाने का विरोध करते हैं। सम्पत्ति की असीमित स्वतन्त्रता पर भी आलोचना की गई है। इस स्वतन्त्रता का अर्थ है, एक शक्तिशाली वर्ग को शोषण का अधिकार देना। गरीब के शोषण की अनुमति प्राप्त समाज स्वतन्त्र नही कहला सकता। यह स्वतन्त्रता केवल एक चुने हुए वर्ग की स्वतन्त्रता होगी। इन विचारकों ने अधिकारों को इतना महत्व दिया कि कर्तव्यो की ओर बिलकुल ध्यान ही नही दिया। अत यह विचारधारा सामाजिक न होकर व्यक्तिगत प्राथमिकता को है अत मान्य नही है।

सकारात्मक सिद्धान्त के विचारक इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही करते। उसके अनुसार सच्ची स्वतंत्रता विवेक के अनुसार कार्य करने म है? मनुष्य समाज में रहता है अत समाज हित के लिए सामाजिक नियमो का पालन आवश्यक है। सकारात्मक विचारधारा के लेखक समाज से हटकर प्राप्त स्वतन्त्रता

को उचित नहीं मानते। बेन्थम और मिल स्वतन्त्रता के समर्थक होते हुए भी न्याय, शिक्षा कारीगरी की सुविधाओं इत्यादि के लिए व्यवस्था को उचित मानते थे। "अकेला छोड़ दो" की नीति के विपरीत बेन्थम समाज में सुधार कानूनों के माध्यम से लाना चाहते थे। उन्होंने कानूनों को स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं अपितु, सुधारों का साधन माना है। इस सिद्धान्त के अन्य विचारकों में रूसो, ग्रीन, कान्ट, लास्की इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। रूसो, और ग्रीन का कहना था कि सच्ची स्वतन्त्रता "सामान्य इच्छा" के अनुसार कार्य करने में है। कान्ट को भी आधुनिक युग के आदर्शवादी लेखकों में माना जाता है। उनके अनुसार जो व्यक्ति बिना किसी रोक टोक कुछ भी करने को स्वतन्त्र है, वह वास्तव में स्वतन्त्र नहीं, गुलाम है। स्वतन्त्र तो केवल उसी व्यक्ति को माना जाता है, जो सवमान्य तार्किक बुद्धि के अनुसार कार्य करता है। ग्रीन इस मत के अत्यधिक समर्थक थे। वे बन्धन हीन स्वतन्त्रता के अत्यन्त विरोधी थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार कुरूपता का अभाव सौन्दर्य नहीं कहला सकता, वैसे ही बन्धनों का अभाव स्वतन्त्रता नहीं कहला सकता। अतः ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का सही अर्थ है उन कार्यों को करने या उन सुखों को भोगने की क्षमता जो वास्तव में भोगने योग्य है।

इस दृष्टिकोण से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन आदर्शवादी दार्शनिकों का दृष्टिकोण सकारात्मक था। कानून और नियम *स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं* बल्कि, सहायक हैं। रूसो का कहना था कि स्वतन्त्रता कानूनों पर निर्भर है, इसका मुझे पक्का विश्वास है। व्यक्ति केवल "सामान्य इच्छा" के पालन में ही स्वतन्त्र रह सकता है। लास्की भी स्वतन्त्रता को उन अवसरों से सम्बन्धित मानते हैं जिनके बिना व्यक्तित्व का विकास सम्भव न हो सके और ये अवसर राज्य द्वारा ही प्रदान किये जा सकते हैं। अधिकारों के बिना स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता केवल कानूनों के पालन से ही नहीं होती। व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति चेतना और उचित कानूनों की जानकारी होनी आवश्यक है। सरकार उत्तरदायी होनी चाहिये, जो ऐसी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ उपस्थित करे जिनसे व्यक्तित्व के विकास के अवसर मिल सकें। मकाइवर के अनुसार सकारात्मक स्वतन्त्रता एक पूर्ण मानव के रूप में कार्य करने की स्वतन्त्रता है। यह मानव को अपना विकास करने की शक्ति है। एक बीमार समाज की बीमार सामाजिक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण की कल्पना न की जा सके। ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए कुछ लोगों को अपने विशेषाधिकारों का त्याग करना पड़ेगा। मेकाइवर राज्य के कार्यों का वर्णन करते हुए इसे मानव की भलाई का साधन

मानते हैं। उनके विचार मे लोकहितकारी राज्य ही उत्तम राज्य है और ऐसा राज्य लोगो को मनमानी करने की स्वतत्रता नही दे सकता। हॉब हॉउस व्यक्ति के लिए स्वतत्रता को आवश्यक मानते हुए इस बात की अनुमति देना नही चाहते कि वह स्वतत्रता समाज विरोधी हो। दोनो के मध्य एक उचित सामजस्य का विद्यमान होना आवश्यक है।

अत सकारात्मक स्वतत्रता के सिद्धात म मुख्य तीन बातें हैं—शक्ति, अवसर और योग्यता। अत राज्य का काम है उचित अवसर प्रदान करना और बिना उचित सामाजिक परिस्थितियो तथा अधिकारो के स्वतत्रता की कल्पना नही की जा सकती। व्यक्ति का भी कत्तव्य है कि राज्य के उचित नियमो का पालन करते हुए स्वतत्रता केवल अपने लिए ही नही बल्कि, अन्य व्यक्तियो के लिए भी सम्भव बनाए। स्वतत्रता व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की मौलिक आवश्यकता है, इसके बिना आदश समाज सम्भव नही।

स्वतत्रता का मार्क्सवादी सिद्धात

मार्क्सवादी लेखक स्वतत्रता की व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार स्वतत्रता एक सामूहिक भावना है। एक व्यक्ति की निर्बाध स्वतत्रता समाज हित म न होकर समाज विरोधी ही कहलायेगी। सामूहिक हितो की सुरक्षा के लिए व्यक्ति पर जो भी प्रतिबध लगान पडे, उचित ही कहलायेगे। इन लेखको के अनुसार सभी समस्याओ की जड यह आर्थिक असमानता है और जब तक आर्थिक असमानता को समाप्त नही किया जाता, और उत्पादन के साधनों पर समाज का नियत्रण नही होता है स्वतत्रता, न्याय, इत्यादि की बात करना व्यथ है। इनके अनुसार उदारवादी विचारों मे कोई सामजस्य दिखाई नही देता। एक ओर तो वे आर्थिक शक्ति की छूट देते हैं और दूसरी ओर समाज कल्याण और स्वतत्रता जसे बडे बडे आदर्शों को सम्मुख रखते हैं। पूजीवादी व्यवस्था मे नैतिकता और समाज कल्याण इत्यादि शब्दों का कोई मूल्य नही। वास्तविक स्वतत्रता तो आवश्यकताओ की पूर्ति का नाम है। मार्क्स का कहना था कि लोकतत्रीय क्रान्तिया द्वारा व्यक्ति को राजनीतिक स्वतत्रता तो प्राप्त हुई, परन्तु पूजीवादी व्यवस्था के आ जाने से आर्थिक स्वतत्रता से वे हीन रहे। किसी सम्पत्ति को समाप्त किए बिना स्वतत्रता के प्रति विचार भी नही किया जा सकता।

मार्क्स व्यक्ति को अकेला और समाज से हटकर कोई विशेष व्यक्तित्व मानने को तयार नही। उनके अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका हित समाज हित म ही है। मनुष्य द्वारा प्राप्त किया ज्ञान भी उसकी

व्यक्तिगत पूंजी नही है। यह ज्ञान उसे समाज के माध्यम से प्राप्त होता है। अत समाज को उस पर भी पूरा हक है। ऐंजिल्स के शब्दो मे केवल समाज म ही प्रत्येक व्यक्ति को दूसरो के साथ मिलकर अपने गुणो को हर दिशा म आगे बढ़ाने का अवसर मिल सकता है, इसलिए समाज म ही स्वतन्त्रता सम्भव है। ऐसे समाज का निर्माण किया जाना चाहिए जहा सबसे पहले व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो। एक भूखे और शोषित समाज के लिए मत देने के अधिकार और विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता का क्या महत्व।

मार्क्सवादी लेखक मुख्य रूप से वग विभेद के विरुद्ध है। जब तक समाज दो वर्गों मे बटा रहेगा, शोषण समाप्त नही हो सकता और न ही स्वतन्त्रता ही पाई जा सकती है। समाजवादी दार्शनिक एक राज्य विहीन समाज की कल्पना करते हैं, जहा न कोई राज्य होगा न कोई वग। उत्पादन के सभी साधन समाज के होंगे और उनका प्रयोग सावजनिक हित के लिए किया जायेगा। मानव का लक्ष्य बहुमुखी स्वतन्त्र विकास के लिए निमाणकारी कार्य करना है। यह विकास आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना नही हो सकता। आर्थिक स्वतन्त्रता निजी सम्पत्ति की समाप्ति पर ही प्राप्त होनी है। जब तक निजी सम्पत्ति रहेगी, शोषण रहेगा और साथ ही वग विभेद इत्यादि सभी बुराईया समाज म रहेगी। इस प्रकार सामाजिक स्वतन्त्रता की मुख्य आवश्यकता निजी सम्पत्ति को समाप्त करना है। प्रत्येक व्यक्ति का कतव्य है कि वह श्रमिक अनुशासन, सावजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा, समाजवाद की दृढता इत्यादि को बनाए रखे। इसी मे नागरिको की स्वतन्त्रता निहित है और इसी समाजवादी ढग से व्यक्ति समाज हित को प्राप्त करता हुआ व्यक्तिगत विकास को सम्भव बना सकता है।

अध्याय 23

समानता की अवधारणा

समानता की माग हमेशा से ही प्रचलित विषमताओ के विरुद्ध एक नारा रही है। इस नारे की नींव पक्की करने के लिए सैद्धांतिक तथा बौद्धिक तर्क भी दिये जाते रहे हैं। जैसे-जैसे प्रचलित विषमताओं का रूप बदला है, वैसे वैसे समानता का अर्थ भी बदलता रहा है। ऐतिहासिक सन्दर्भ मे, जिस प्रकार की विषमता के विरुद्ध कोई जूझ रहा था, उसी को ध्यान म रखकर उसने समानता की परिभाषा प्रस्तुत की।

समानता के औचित्य के आधार क्या है? क्या वे एक ही ज्योति के एक जैसे प्रतिरूप हैं या नहीं? क्या मनुष्य जन्म से समान है या असमान? क्या समाज में उनका महत्व समान है या नहीं? इन प्रश्नो पर विभिन्न लेखक न तो सहमत हुए हैं और न होंगे, परन्तु इस सदर्भ म एक बात निश्चित है कि स्वतन्त्रता के विचार को सार्थक बनाने के लिए समानता अनिवार्य है।

पश्चिम मे प्राचीन यूनानी तथा रोमी व्यवस्थाए विषमतामूलक थी। यदि समानता की कोई बात होती भी थी तो वह केवल नागरिकों तक ही सीमित रहती थी। मानव जाति का बहुसंख्यक भाग—दास औरतें, बच्चे तथा अन्य लोग इस सिद्धान्त के दायरे म नहीं आते थे। देखा जाये तो समानता की माग आधुनिक युग की माग है तथा इसका विकास स्वतन्त्रता की धारणा के साथ जुडा हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल म भारत मे समानता का आदर्श अपेक्षाकृत अधिक मान्य था। स्त्रियों, शूद्रों और दासों और परदेसियो की स्थिति म यूनान और रोम की तुलना मे अधिक उन्नत थी। स्त्रियां या दास आत्मा रहित ऐसे अनर्थकारी विचार को भारतीय समाज

का दकियानूसी अग भी नही मानता था। 'जन्म से सभी शूद्र हैं, कम से या सस्कार से द्विज बनते हैं'। ऊपर नीचे का क्रम था, पर समाज की सीढी म ऊपर चढ पाना कठिन अवश्य था, असभव नही नीचे गिरना सरल था, पर अनिवाय नही—स्तर पर समानता के सिद्धात का जन्म प्राचीन तथा मध्य युग में विशेषाधिकारो से सम्पन्न वग के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप म हुआ। जब अल्प-सख्यक कुलीन वग समाज की समस्त सुख सुविधाओ का उपभोग करने लगा तो बहुसख्यक वग म असन्तोष की भावना पनपी और इस व्यापक विषमता तथा बहुसख्यको के शोषण के विरुद्ध अनेक राजनीतिक विचारकों न समानता के लिए आवाज उठाई। आधुनिक काल म समानता के विचार का प्रारम्भ मध्य वग के उदय के साथ हुआ जिसने पुनर्जागरण तथा धम सुधारक आन्दोलनो के माध्यम से सामन्तवादी विषमता के विरुद्ध आवाज उठाई। इगलैड म 1649 तथा 1688 की क्रान्ति की घटनाए, अमेरिका म 1776 का घोषणा पत्र तथा फ्रास की 1789 की क्रान्ति समानता की दिशा म प्रमुख राजनीतिक आन्दोलन थे। इससे पहले रूसो न भी अपन 'निबन्ध विषमता की उत्पत्ति' (1754) म विषमता को सम्पत्ति की उत्पत्ति तथा सभ्यता के विकास के साथ जोडा। पूजी वाद ने अत्यधिक असमान परिस्थितियो को जन्म दिया। पूजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग के बीच की खाई इतनी तेजी से चौडी होने लगी कि दोना एक दूसरे के सामने खडे होन पर एक दानव प्रतीत होता था और दूसरा बौना। परिणाम-स्वरूप पूजीवादी अथव्यवस्था और मजदूरो का दयनीय स्थिति की ओर 19वीं शताब्दी मे काल्पनिक समाजवादियो न समाज का ध्यान आकर्षित किया। उन्ही दिनो माक्स और एगेल्स न मजदूरो की क्रांति का मत दिया और आर्थिक समानता की माग को पूजीवादी व्यवस्था और निजी पूजी की व्यवस्था के उन्मूलन के साथ जोडा। इगलैड जैसे पूजीवादी देशो म सुधारवादी कानून बनने लगे। अमेरिका म गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप गुलाम प्रथा का अन्त हुआ। वयस्क मताधिकार तथा 'एक व्यक्ति एक वोट' की माग उठाई। राजनीतिक विषमता का समाप्त करने की माग उठी। स्त्रियो न अपना मताधिकार प्राप्त करने के लिए सघष छेडा। 20वीं शताब्दी मे विश्व म अनक राष्ट्रीय आदोलनो एव क्रान्तियो का श्रीगणेश हुआ। रूस एव चीन म साम्यवादी क्रान्तिया हुईं। अफ्रीका तथा एशिया के अनक देशो मे असमानता के विरुद्ध जग लडी गई जो किसी रूप मे आज भी जारी है।

समानता को नकारात्मक तथा सकारात्मक दोना रूपों म व्यक्त किया जाता है। नकारात्मक रूप मे समानता का अथ वग विशेष के विशेषाधिकारो को समाप्त करना है। समानता का वास्तविक रूप सकारात्मक है, जिसका अथ है जहा प्राकृतिक असमानताओ को स्वीकार किया जाए, वहा सामाजिक विषम

ताओ को समाप्त करने का भी प्रयत्न किया जाए। सकारात्मक समानता से अभिप्राय है कि राज्य में सभी व्यक्तियों को अपने विकास के समान अवसर प्राप्त हों। सकारात्मक समानता केवल विशेषाधिकारों की समाप्ति नहीं वरन्, प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए समान अवसर प्राप्त कराने में निहित है।

समानता का अर्थ

समानता का अर्थ है कि सभी व्यक्ति अपने अपने व्यक्तित्व की गरिमा को लेकर समान हैं अतः उनमें भेद भाव करना अनुचित है। मानवीय इतिहास समानता के लिए लड़े गए संघर्षों की लम्बी कहानी है। स्वतन्त्रता और अधिकारों की मांग बहुत पहले की गई थी। इन्हीं की मांग के साथ एक अन्य मांग का उदय हुआ और यह थी समानता की भावना। समानता के भाव के उदय के साथ ही समान व्यवहार अन्यायों से त्राण की मांग उठी जिसकी कड़ी 'स्वतन्त्रता' और अधिकारों की मांग की कड़ी से जुड़ गई।

यूनानी सभ्यता के महान् चिंतक अरस्तु ने जिनका नाम लोकतन्त्र के आदर्श के साथ जोड़ा जाता है समाज में मौलिक रूप से असमानताओं को माना। उनका कहना था कि मालिक और गुलाम मौलिक रूप से विभिन्न हैं और उनमें समानता लाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है पर यूरोप में पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ जब सामन्ती ढांचे के विरुद्ध विद्रोह उठा, तब क्रान्तियों में स्वतन्त्रता व समानता का नारा बुलन्द हुआ। फ्रांस की राज्य क्रांति में ये ही नारे उठे अमेरिका में स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र में मुख्य रूप से समानता का दावा किया गया। सभी मनुष्य जन्म से समान हैं परन्तु समाज के सदस्य होने के नाते, विभिन्न स्थितियों और परिस्थितियों में पलने और पनपने के कारण संस्कार मतभेद पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार के अवसर और परिस्थितियां सभी को उपलब्ध हो सकें ताकि, संस्कारजन्य विभेद दूर हो, यह समानता का मूल मन्त्र है।

कुछ मौलिक विभिन्नताएं होते हुए भी समाज का आधार समानता ही होना चाहिये। समाज सभी व्यक्तियों को समान तो नहीं बना सकता परन्तु उनको समान अवसर तो प्रदान कर सकता है जिससे वे अपनी इच्छानुसार अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। समानता का अभिप्राय यह नहीं है कि सभी को बराबर वेतन मिले, या एक जैसे घर मिलें, परन्तु समानता में सभी के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाना या एक जैसे अवसर प्रदान करना तो अवश्य सम्मिलित है। जाति, धर्म, रंग भेद इत्यादि के आधार पर भेदभाव करना असामाजिक है।

लास्की के अनुसार समानता एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य समाज म उन बुराईयो को दूर करना है जो व्यक्ति को एक दूसरे से घृणा करना और किसी दूसरे का निम्न जाति का मानकर उसकी अवहेलना करना सिखाती है। प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता विभिन्न होने का अर्थ यह नहीं कि केवल शक्तिशाली का ही महत्व हो कमजोर का नही। अत जसे विशेषाधिकारो के होने से स्वतन्त्रता मे बाधा पडती है, उसी प्रकार समानता के रास्ते में यह विशेषाधिकारवाद भी एक रुकावट है। दूसरे समानता का अथ है सबको समान अवसरों की प्राप्ति। जन्म के आधार पर अधिक सुविधाए प्राप्त व्यक्ति को हम एक एक गरीब व्यक्ति के समान तो नही बना सकते बल्कि, ऐसी परिस्थिति का निर्माण अवश्य कर सकते हैं जहा कम सुविधाओ वाला व्यक्ति इच्छानुसार विकास कर सके। तीसरे, जीवन म कुछ ऐसी आवश्यकताए है जिनके बिना जीवन सभव नही है। प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम इतना अवश्य मिलना चाहिए कि वह इन मौलिक आवश्यकताओ को पूरा कर सके। चौथे, धन म अत्यधिक असमानता से स्वतन्त्रता मे बाधा पडती है। इसका अथ यह हुआ कि धनिक वग परिस्थितियो का प्रयोग इस ढग से करेगा कि अत्यधिक लाभ उन्हे ही प्राप्त हो सके। इसी प्रकार वग—विभाजन का अथ ही असमानता है।

प्राचीन युग म यूनानी दार्शनिक इस सिद्धान्त को नही मानते थे कि सभी व्यक्ति समान है। जन्म, शिक्षा धन इत्यादि के आधार पर बने विभेद को वे मौलिक मानते थे। गुलाम और स्त्री वग को अधिकार, स्वतन्त्रता या समानता के योग्य ही नही समझा जाता था। यूरोप म बहुत समय तक यही यूनानी दकियानूसी घर किए रही। पूजीवादी क्रांति के साथ साथ सामन्तीय समाज के विशेषाधिकारो की नीव पर प्रहार शुरू हुए जिसकी पूर्ण परिणिति फ्रांसीसी राज्यक्रांति मे हुई प्रतिक्रिया स्वरूप फ्रांस की क्रांति इतिहास के लिए के लिए एक उदाहरण सिद्ध हुई। व्यक्तियो ने समान अधिकारो की माग की तो उन्हे धर्म और अति अप्राकृतिक सत्ता का भय दिखाया गया परन्तु एक बार जागरूकता के आ जाने पर अधिक देर तक जनता को दबा कर नही रखा जा सकता था।

आधुनिक युग पूजी प्रधान युग माना जाता है। इसमे वगभेद धर्म से हटकर पूजी के आधार है। परन्तु राजनीतिक और नागरिक समानता का इस युग मे बहुत बल दिया गया। परन्तु आर्थिक समानता की कमी फिर भी बनी रही जिसके फलस्वरूप साम्यवादी क्रांति कुछ देशो म हुई जिनका प्रयत्न आर्थिक समानता स्थापित करने की दिशा म था।

ब्राइस ने चार प्रकार की समानताओ का वणन किया है—

1 नागरिक समानता—नागरिक समानता का अथ है कि सभी नागरिको के

पास एक जैसे अधिकार तथा स्वतन्त्रताए हो। सभी नागरिक कानून के सम्मुख समान हो। जाति धर्म, रग, वश इत्यादि के आधार पर नागरिकों मे भेद करना नागरिक समानता के सिद्धात के विरुद्ध है। समाज मे किसी वर्ग को विशेषाधिकारों के प्राप्त होने का अर्थ है कि कुल लोग ऐसी सुविधाओ का लाभ उठाएगे जिनसे अन्य व्यक्ति वचित ही रह जाएगे।

2 राजनीतिक समानता—इससे हमारा अभिप्राय उस समानता से है जो राजनीतिक अधिकारो पर आधारित है। लोकतन्त्र प्रणाली का आधार जनता की सहमति है। यह सहमति मत द्वारा ही दी जा सकती है। इसका अर्थ हुआ कि लोकतन्त्र और व्यस्क मताधिकार का चोली दामन का सम्बन्ध है। नागरिको को चुनाव म अपनी पसन्द के उम्मीदवार चुनने और सरकार की नीतियो के प्रति अपने विचार प्रकट करने का भी समान अधिकार होना चाहिए। जाति, रग, धर्म इत्यादि के कारण किसी को इन सुविधाओ से वचित नही रखा जा सकता। व्यक्तियो को अपनी इच्छानुसार दल निर्माण की समानता होनी चाहिये। विदेशियो, अपराधियो और पागलो को ही ऐसी राजनीतिक समानता से वचित किया जाता है। बहुत से देशो म बहुत समय तक स्त्रियो को मताधिकार नही दिया गया था, जो लोकतन्त्र के सिद्धान्तो के विरुद्ध था। इसी प्रकार जन्म, शिक्षा आर्थिक स्थिति इत्यादि के आधार पर कुछ लोगो को एक से अधिक मत दिया जाता था। ऐसी स्थिति को राजनीतिक समानता की स्थिति नही कहा जा सकता।

3 आर्थिक समानता—राजनीतिक समानता का महत्व और भी कम हो जाता है यदि साथ ही कुछ सीमा तक आर्थिक समानता लाने का प्रयत्न न किया जाए। कोई भी भूखा व्यक्ति पेट भरने के लिए अपने वोट को बेच सकता है। आर्थिक समानता का अर्थ यह नही कि सभी व्यक्तियो के पास एक जैसा ही धन हो। ऐसा कहना पूर्णत व्यर्थ होगा। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताए, क्षमताए इत्यादि विभिन्न हैं और साथ ही सामाजिक कार्य तभी हो सकते हैं जब जीवन म कोई प्रेरणा हो। यदि सरकार धन का सभी लोगो मे समान वितरण कर देगी तो यह प्रेरणा नही रहेगी। अत ब्राइस का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की आवश्यकताओ के साधन जुटाने के समान अवसर मिलें और ऐसा कर पाना सम्भव भी बनाया जा सके। मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद निजी सम्पत्ति अमीर गरीब मे भेद स्वाभाविक है। परन्तु किसी एक वर्ग का जीवन

यापन की सुविधाओं से पूर्णतया वंचित रखना
आर्थिक विभिन्नता पूर्ण सामाजिक ढांचे को
का मत है कि जिस देश में सम्पत्ति के साधन
में केन्द्रित होते हैं, उस देश की राजनीति
न्यायपालिका पर धन का ही नियंत्रण स्था
के समाज में अब भी धनिक लोगों के ह
इहल में भी राजनीतिक न्यायिक और स
से सम्बन्धित माना है। उनका कहना है कि
ताए होती हैं, शांति की सभावना वहीं
संतुष्ट समाज कभी भी उपद्रव और क्रा

4 सामाजिक समानता व्यक्ति सामाजिक
ताओं की पूर्ति समाज में ही रह कर हो
उन्हें उपेक्षित करें तो यह व्यक्ति के
होगा। सभी व्यक्ति समाज के लिए
उनका समान योगदान है तो उनमें
समाज इसी प्रकार की सामाजिक
धर्म इत्यादि के कड़े बन्धन थे और
को पशु के समान समझा जाता था
इत्यादि सभी से वंचित रखा जाता
तो बहुत प्रसिद्ध है। दक्षिणी अफ्री
व्यवहार, उन्हें मन्द बुद्धि ठहराया
विशेषाधिकार सा है। परन्तु कुछ
ऐसे समाज सुधारक हुए सभी
भारत में कबीर नानक, महर्षि
लूथर किंग इत्यादि के नाम को
भूत सिद्धान्त है कि काले गोर
असमानता को समाप्त किया जा
उठाना, स्त्रियों को समान अधि
लिये सभव बनाना इत्यादि सा
दलित वर्गों, स्त्रियों, बच्चों के
नागरिक समानता के विरुद्ध म

5 विधि के समक्ष समानता इस
भी दिया जाना है। कानून की

इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक व्यक्ति के लिए समान कानून हो और जाति, धर्म, वर्ण इत्यादि के आधार पर कानून व्यक्तियों मे भेद न करें। कानून के शासन की धारणा का उदय सर्वप्रथम इंगलैंड मे हुआ, जहा कहा जाता है कि प्रधानमंत्री से लेकर किसी साधारण नागरिक तक एक ही जसे कानून के अन्तगत आते है। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी पद पर हो उसे न्यायालय के समक्ष समान माना जायगा। इंगलैंड म केवल राजा ही एक ऐसा व्यक्ति है जो कानून से ऊपर। कहा जाता है कि "राजा कभी कोई गलती नही करता"। अर्थात् राजा कानून से ऊपर है। कानून उस पर लागू नही होता। क्योकि वह स्वय का विधि सृजक जो होता है।

भारत के संविधान मे भी इसी प्रकार के विधि के शासन की व्यवस्था की गई। प्रत्येक नागरिक समान प्रकार से कानून के अन्तगत है। अधिकार और कर्तव्य सभी के लिए समान है। और कानून सभी को एक समान सुरक्षा प्रदान करता है। राष्ट्रपति भी जनता द्वारा चुना गया अधिकारी होने के नाते उसी कानून के अन्तगत है कानून से ऊपर नही है। इसका अर्थ यह नही कि कुछ विशेष परिस्थितियो म किसी समूह के लिए विभिन्न कानून नही बनाये जा सकते हं। परिस्थितिया के अनुसार अलग अलग कानून होने आवश्यक ही है। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है कि जन्म, धर्म, लिंग, वर्ण, जाति इत्यादि के आधार पर कानून व्यक्तियो म असमानता नही लायेगा।

प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता, ज्ञान, प्रकृति इत्यादि विभिन्न है परन्तु जन्म से कोई भी छोटा बडा नही है। समाज के सदस्य होने के नाते सभी को समान परिस्थितिया म समान आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और नागरिक अधिकार तथा स्वतन्त्रताए प्राप्त होनी चाहिए।

स्वतन्त्रता और समानता मे संबंध

स्वतन्त्रता और समानता, देखने म, दोनो ही व्यक्ति जीवन के लिए महत्व-पूर्ण प्रतीत होती है, पर तु इनका आपस म क्या संबंध है इसके प्रति विभिन्न ही रहे है। उदारवादियो का कहना था कि व्यक्तियो को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दो तो समाज म समानता स्वय ही आ जायगी। इनके लिए आर्थिक समानता का महत्व इतना नही था जितना सामाजिक समानता का। परन्तु मार्क्सवादियो ने आर्थिक असमानता को ही सब बुराईयो की जड माना। उनके अनुसार आर्थिक समानता के बिना सभी स्वतन्त्रताए बेकार हैं। स्पष्ट

है कि स्वतन्त्रता और समानता के पारस्परिक संबंध के प्रति हमारे पास कोई एक स्पष्ट धारणा नहीं है। लार्ड एक्टन और 'द' ताकवी का विचार था कि "समानता की आकांक्षा से ही स्वतन्त्रता का नाश हुआ। उनके विचार में दोनों परस्पर विरोधी है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सामाजिक समानता के प्रयत्न किये जाए तो कुछ विशिष्ट वर्गों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। परन्तु यह स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही का गलत अर्थ है। स्वतन्त्रता और समानता दोनों ही ऐसे अवसरों के नाम है जिनके बिना व्यक्ति का विकास संभव नहीं हो सकता। इस रूप में दोनों सहयोगी प्रतीत होते हैं, विरोधी नहीं। नागरिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक इत्यादि समानताओं के बिना स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता बेकार है। यदि निजी सम्पत्ति और एकाधिकार के प्रति नागरिकों को खुली छूट होगी तो आम नागरिकों को अपनी उन्नति के अवसर प्राप्त नहीं हो पाएगे, अतः यह स्वतन्त्रता समानता के विरुद्ध होगी। आज के अधिकांश आधुनिक विद्वान इस बात से सहमत है कि समानता के बिना स्वतन्त्रता संभव नहीं है।

सामंतशाही, उच्च वर्ग पूंजीवाद की प्रथा इत्यादि ये सब आर्थिक असमानता के ही उदाहरण है। पण्डित नेहरू ने भारत के लोकतन्त्र बनने के समय उचित ही कहा था कि भूखे व्यक्ति को मत देने की स्वतन्त्रता का क्या महत्व है? उसके लिए वोट का बेचना अनैतिक नहीं होगा। महात्मा गांधी भी समाज में विशेषाधिकारों का त्याग कर एक ऐसा रामराज्य बनाने के स्वप्न देखते थे जहां सभी व्यक्ति समान हों। लास्की का भी कहना था कि आर्थिक विषमताओं को दूर किए बिना समाज का कल्याण संभव नहीं।

मार्क्सवादियों के विचार भी स्वतन्त्रता और समानता को अनुकूल ही मानते है। उनके आदर्श समाज का चित्रण समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। वर्ग भेद को समाप्त कर, उत्पादन के साधनों [पर श्रमिकों को नियंत्रण प्रदान कर एक ऐसे समाज का निर्माण किया जायगा जहां सभी व्यक्ति समान हो, सभी का जीवन की आवश्यकता आसानी से प्राप्त हो। शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान इत्यादि के लिए सभी को समान अवसर प्राप्त हों, तभी व्यक्ति स्वतन्त्र कहला सकते है। किसी सामंत, राजा या धनिक के चंगुल में फंसा व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं बल्कि, पराधीन है। निजी सम्पत्ति की समाप्ति सबसे पहले आवश्यक है। सम्पत्ति से ही समाज में विभिन्न असमानताएं जन्म लेती हैं।' अतः सामाजिक, कानूनी, राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए समाज में समानता की भावना का होना आवश्यक है। जो भी राज्य अपने नागरिकों को स्वतन्त्रताएं देने का इच्छुक है,

पहले आर्थिक असमानता को दूर करने का प्रयत्न करेगा।

इस विवेचन से इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि स्वतन्त्रता और समानता मे परस्पर विरोधी नही है। कानूनी, आर्थिक समानताए सबसे अधिक महत्वपूर्ण होगी तभी स्वतन्त्रता सभव हो सकती है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता का होना समानता के रास्ते मे बाधक नही बल्कि, सहायक है।

अध्याय 24

अधिकारो की अवधारणा

राजनीति विज्ञान के उषाकाल से ही यह कथन प्रचलित रहा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। अत वह अन्य व्यक्तियो के साथ रहता और जीता है।" पारस्परिकता एवम अन्योन्याश्रितता उसकी प्रकृति की प्रमुख प्रवत्तिया हैं। यही कारण है कि हम परिवारों, समुदायो, गावो तथा शहरो म रहते हैं। जीने के लिए हम दूसरे लोगो से अपनी आवश्यकताओ और सुविधाओ की माग करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व की कुछ मागें होती हैं जिन्हें अधिकारो के नाम से अभिहित किया जाता है। अधिकारों का सवाल केवल समाज म ही उठ सकता है। समाज ने व्यक्तियो के सम्बन्ध अन्तर्निहित होते हैं परन्तु प्राकृतिक अवस्था मे ये सम्बन्ध अनुपस्थित थे। सम्बन्ध कई तरह की मागों की अपेक्षा करते हैं जिन्हें सामाजिक एवम् सामजस्यपूर्ण जीवन के अनुरूप व्यवस्थित किया जाता है। इसके लिए प्रत्येक माग को सामाजिक स्वीकृति मिलना आवश्यक होता है। प्रत्येक व्यक्ति की माग में अन्य व्यक्तियो की वसी ही माग की स्वीकृति जुड़ी रहती है। अत अधिकारो से अभिप्राय व्यक्ति की ऐसी मांग अथवा शक्ति है जिसका प्रयोग करते समय वह न केवल अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके बल्कि, दूसरे व्यक्तियो के व्यक्तित्व के विकास म भी व्यवधान खडा न करे। व्यक्ति की "किसी माग विशेष" का होना ही काफी नही है, उस माग को अधिकार बनने के लिए सामाजिक स्वीकृति मिलना भी आवश्यक है। इसीलिए लास्की ने कहा है कि "अधिकार व्यक्ति की ऐसी मागें है जो समाज द्वारा स्वीकृत हो। राज्य इन मागो का निर्माण नही करता बल्कि, वह इन्हें केवल स्वीकार करता है।"

समाज मे रहते हुए व्यक्ति को पारस्परिक सम्बन्धो तथा व्यवहार को नियमित करना आवश्यक होता है। राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध भी निर्धारित होने आवश्यक है। व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है या राज्य का व्यक्ति के लिए, कहना कठिन है। राज्य एक मानवीय सस्था है और राज्य म रहते हुए व्यक्तियो को किन परिस्थितियो म रहना है अथवा उन्हे क्या सुविधाए प्राप्त है, इसकी जाच आवश्यक है। राज्य को चाहिये कि अपनी सत्ता बनाए रखने के साथ साथ व्यक्ति की प्रसन्नता और सुरक्षा को भी सम्भव बना सके। राज्य का काय केवल शक्ति प्रयोग द्वारा आज्ञा पालन करवाना ही नही बल्कि, नागरिको को व सब सुविधाए प्रदान करना है जिनके लिए व सगठित व्यवस्था को अपनाते हैं। नागरिको की कुल मौलिक आवश्यकताए होती हैं, जिनका प्रयोग किए बिना वे अपने व्यक्तित्व का न तो विकास कर सकते है और न ही अच्छे नागरिक बन सकते हैं। इन सुविधाओ तथा आवश्यकताओ को अधिकारो का नाम दिया जाता है। लास्की का कहना है कि "अधिकार जीवन की व परिस्थितिया हैं जिनके बिना व्यक्ति सामान्य रूप से अपना विकास नही कर सकता।"

व्यक्तियो को ये अधिकार केवल राज्य के माध्यम से ही प्राप्त हो सकते हैं। राज्य की सत्ता के अधीन प्राप्त किए हुए अधिकार ही अधिकार कहे जा सकते हैं, उसके बाहर नही। इसे स्पष्ट करते हुए लास्की कहते हैं कि राज्य, नागरिक को अधिक देता नही है, केवल उनकी स्वीकृति प्रदान करता है। अधिकार व्यक्ति के जीवन के अभिन्न भाग है। राज्य का काम तो यह निश्चित करना है कि वह नागरिको को कौन कौन से अधिकार देने के योग्य मानता है। किसी भी राज्य की पहिचान वहा के नागरिकों को प्राप्त अधिकारो से होती है अधिकार केवल व्यक्तिगत अधिकार ही नही बल्कि, ये समाज मे रहते हुए व्यक्ति तथा समाज के उचित विकास के लिए अधिकार है। इनकी मर्यादा सामाजिक हित है और हमें अधिकार वही प्राप्त हो सकते हैं जो राज्य विरोधी अथवा समाज विरोधी न हो। लास्की का कहना है कि (1) अधिकार, हॉब्स के विचारो की भांति इच्छा पूर्ति करने की शक्ति का नाम नही है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक इच्छा पूण करने योग्य नहीं होती। कोई भी राज्य लूट मार या कत्ल करन का अधिकार प्रदान नही कर सकता है। (2) इसी प्रकार अधिकारो का आधार कोई ऐतिहासिक तथ्य अथवा दाशनिक सिद्धात नही है। हमारे सम्मुख कोई भी ऐसा उदाहरण या आदश नही है जो हम बता सके कि कौन से अधिकार व्यक्ति को प्राप्त होने चाहिये। इनकी व्यापक सूची बना पाना असम्भव है। इतिहास हमे केवल इतना बता सकता है कि किसी विशेष समय या देश म किन अधिकारो की माग की गई थी और समाज ने किन अधिकारो को

आधारभूत मानकर इन्हें मान्यता प्रदान की थी। (3) अधिकार किसी प्राकृतिक अवस्था का परिणाम भी नहीं है। समाज का स्वरूप कभी निश्चित तथा स्थायी नही रहता। प्राकृतिक अवस्था की धारणा के विषय मे मतभेद भी इस दावे को झूठा सिद्ध करते हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ समाज के स्वरूप मे तीव्र परिवर्तन आते रहते हैं। हमारे सामने किसी ऐसे समाज का उदाहरण नही है जहा इस प्रकार की प्राकृतिक अवस्था को आधारभूत मानकर अधिकार मान लिए गए हों।

अत अधिकारों की उचित व्यवस्था कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ आधारभूत सिद्धान्तो को ध्यान मे रखें।

प्रथम, अधिकार समाज की सृष्टि है। समाज द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही मागें अधिकार का रूप धारण कर सकती हैं। जगल मे तथा एकाकी जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को प्राप्त स्वतन्त्रता अधिकार नही कही जा सकती। सभ्य समाज की पहिचान इन्ही अधिकारो से होती है। प्रत्येक व्यक्ति को समाज म रहते हुये अपने जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा का अधिकार है। समाज निर्माण के प्रारम्भ से ही हमे हत्या और चोरी के विरुद्ध कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। इन्ही नियमों के आधार पर ही हम सभ्य तथा असभ्य समाज मे अन्तर स्पष्ट कर पाते हैं।

द्वितीय, अधिकार परिवर्तनशील है। देश समय और परिस्थितियो के अनुसार इनमे परिवर्तन होता रहता है। अधिकारो का किसी विशेष समय या विशेष समाज मे अपना अलग महत्व होता है। आज से कुछ समय पूर्व विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की माग इतनी अधिक नही थी। अधिकारो के प्रति जागरूकता के साथ ही इस अधिकार की माग भी जोर पकडती गयी। आधुनिक युग मे बुढापे तथा बेराजगारी की स्थिति मे सहायता को भी एक आवश्यक अधिकार मान कर इसकी माग पर बल दिया जाता है।

तृतीय, अधिकार असीमित नही है। कोई भी अधिकार प्राप्त करने का अर्थ यह नही कि हम किसी भी रूप मे उसका उपभोग कर सकते हैं। असीमित अधिकार अनैतिक और समाजविरोधी रूप धारण कर सकते हैं। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार यह नहीं कि हम किसी की मान हानि कर सकते हैं या सार्वजनिक शान्ति को भग कर सकते हैं। अधिकारो की कल्पना कुछ उचित प्रतिबन्धों के बिना नही की जा सकती।

चौथे, अधिकार और कर्तव्यो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि व्यक्ति को कोई अधिकार प्राप्त हो तो उसका कर्तव्य भी है कि वह दूसरो को भी उस अधिकार का उपभोग करने का अवसर प्रदान करें। यदि मुझे जीने का अधिकार है तो, मेरा कर्तव्य भी है कि मैं दूसरों को भी जीने दू। इसके साथ ही

व्यक्ति का कर्तव्य भी है कि वह अपने अधिकारो के प्रति भी जागरूक रहे। राज्य के आदेशों का पालन करते हुए अपने अधिकारो और कर्तव्यो के प्रति सचेत रहने से ही व्यक्ति, समाज और राज्य को उचित स्वरूप प्रदान कर सकता है।

पाचवे, राज्य का काम केवल अधिकारो को स्वीकृति प्रदान करता है। लास्की के अनुसार किसी राज्य की पहिचान इसी से ही होती है कि उसने किन अधिकारो को स्वीकृति प्रदान की है। प्रत्येक देश मे परिस्थितिया विभिन्न होती है। अत राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारो के स्वरूप मे भिन्नता होनी आवश्यक है। प्रत्येक राज्य मे कुछ ऐसे अधिकार होते हैं जो मान्यता प्राप्त न होने पर भी वर्जित नही होते तथा कुछ अधिकार ऐसे होते हैं जो वैधिक होने पर भी नागरिक की पहुच से परे रहते है।

छठे, अधिकारो का आधार नैतिक भी है। जो अधिकार नैतिक-दृष्टि से उचित प्रतीत होते है उन्ही को राज्य और समाज द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। अनैतिक अधिकार मान्यता प्राप्त होने पर भी समाज मे उचित अधिकारो का स्थान नही ले पाते।

आठवें, अधिकारो का अस्तित्व व्यक्ति के विकास के साथ राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भी है। एक लोकतन्त्रात्मक सरकार ही व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे सकती है। इसी प्रकार अधिनायकतन्त्र या साम्यवादी सरकार बुढापे और बेरोजगारी भत्ते का अधिकार देती है।

आठवें, अधिकार सब को समान रूप से दिए जाने चाहिए। असमान स्थिति पैदा करने वाले अधिकार अपना महत्व खो बैठते हैं। अधिकार का आधार समानता है और जहाँ तक हो सके समान परिस्थितियों मे असमानता को दूर किया जाना चाहिये।

अधिकारो की प्रकृति के प्रति इन विशेषताओ के आधार पर इनकी कुछ परिभाषाए दी जा सकती हैं। बोसांके के अनुसार "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता है तथा राज्य लागू करता है।"

वाकर के अनुसार "अधिकार राज्य द्वारा सुरक्षित उस क्षमता का नाम है जिसके द्वारा समाज म सम्मान तथा कुछ कार्यों को करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।" लास्की के अनुसार "अधिकार उन्ह कहा जाता है जिन्ह राज्य ने मान्यता प्रदान कर दी हो या समाज उन्ह मान्यता दिलाने मे प्रयत्न म हा।" ग्रीन के अनुसार "अधिकार जन कल्याण के लिये मांगी गई तथा मान्यता प्राप्त शक्ति है।' आमड का कहना है कि "अधिकारों का सम्बन्ध हितों से है। कानूनी दृष्टि से अधिकार वह हित है जिसे कानून मान्यता देता है और सुरक्षा प्रदान करता है।"

अधिकार के विभिन्न सिद्धान्तो का विकास

अधिकार कोई आधुनिक युग की देन नही है। यह धारणा प्राचीन युग से ही चली आ रही है। हमे बहुत से ऐसे उदाहरण प्राप्त होते है जहा राजा और प्रजा म ऐसी ही कुछ सुविधाओ की प्राप्ति के प्रति सघर्ष चलता था। प्रजा सदा ही अपने अधिकारो के प्रति सचेत रही है। राजा के अधिक शक्तिशाली होने या अन्य किन्ही परिस्थितियो के फलस्वरूप कुछ को जाग्रत होने नही दिया गया। परन्तु यह स्थिति सदा ही बनी नही रह सकती थी। नागरिको को सामाजिक अधिकार प्राप्त होते थे। "जनता की इच्छा" राज्य का आधार न होते हुये भी इन राज्यो म सुरक्षा तथा जीवन यापन के अधिकारो का होना आवश्यक था। ऐसे भी राजतन्त्र थे वहा कर (टैक्स) लगाने से पहले जनता या उसके प्रतिनिधियो का परामर्श लिया जाता था।

परन्तु 16वी तथा 17वी शताब्दी म व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना की जाने लगी तथा साथ ही अधिकारो और कर्तव्यो के प्रति विभिन्न धारणाए भी सम्मुख आने लगी। राजा का दावा था कि वह भगवान का अवतार है और उसकी आज्ञा का पालन करना जनता का कर्त्तव्य है। व्यक्तिवादियो का दावा था कि राजा का काम केवल सुरक्षा प्रदान करना है। व्यक्ति के जीवन म हस्तक्षेप अनुचित है। आदर्शवादियो के अनुसार नैतिकता ही अधिकारो का आधार है। मार्क्सवादी राज्य को अधिकारो के रास्ते म रुकावट मानते हुये इसे शोषण की एजेंसी मानते है। इन सभी धारणाओ का उदय कब हुआ और इनकी विचारधारा क्या थी, इस पर विस्तार से विचार करना होगा।

प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धान्त राजा के दैवी अधिकारो के दावे से तग आकर कुछ विचारको ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन लेखको ने यह माना है कि व्यक्ति को कुछ प्राकृतिक अधिकार प्राप्त है जो किसी भी रूप मे छीने नही जा सकते है। ये अधिकार प्राकृतिक हैं तथा मूलभूत है। ये अधिकार राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक प्राकृतिक तथा वैधिक दृष्टि से मान्य होते है। लाक इस सिद्धान्त के मुख्य विचारक थे। उनके सामाजिक समझौते का स्वरूप इसी विचार पर आधारित है। अमेरिका का स्वतन्त्रता सग्राम, फ्रास की राजनीतिक क्रान्ति, इन सभी की जडें प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त मे ही निहित थी। 1791 मे थामस पेन ने अपनी रचनाओ म इसी सिद्धान्त का समर्थन किया था।

प्राकृतिक अधिकारो का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि समाज के सदस्य होने के नाते प्रकृति द्वारा मनुष्य को ये अधिकार प्रदान किये गए

हैं। ये अधिकार सर्वव्यापी हैं, अतः किसी देश-काल का [illegible]
पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हॉब्स और [illegible]
कहा कि ये अधिकार समाज से पूर्व भी थे और [illegible]
इनकी रक्षा के लिए किया गया था। समाज के [illegible]
तिक न रह कर वधिक बन गए। [illegible]
सामाजिक रूप से आवश्यक हैं।" 17वीं [illegible]
अधिकारों का आधार इसी प्रकार प्रकृति [illegible]
था कि "व्यक्ति जन्म से ही कुछ अधिकार [illegible]
कारों का स्रष्टा नहीं, वह तो [illegible]
भी अधिकारों के अस्तित्व को [illegible]।

परन्तु यह सिद्धान्त तर्क की [illegible]
अधिकार क्या प्रदान किए, [illegible]
की जानकारी प्राप्त की गई, [illegible]
थेका के पास नहीं था। [illegible]
परिस्थिति में परिवर्तन [illegible]
से बाहर इन अधिकारों की [illegible]
सिद्धान्त कमजोर पड़ जाता [illegible]
प्रकृति ही कर सकती है। [illegible]
दायित्व लेने की आवश्यकता [illegible]

कानूनी अधिकारों का [illegible]

समस्त साधनो से नागरिकों के अधिकारा की रक्षा करता है और ये अधिकार गतिशील हैं अर्थात कानून और राज्य के स्वरूप मे परिवतन आने पर इनम भी परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण से राज्य अधिकारो को निश्चित करता है, सीमित करता है और उनके रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर करता है। मेक्फरसन के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों का अथ है, अधिकारो का न होना अर्थात अधिकार केवल कानूनी ही हो सकते है अन्यथा नही।

परन्तु इस सिद्धान्त मे भी हम अधिकारा का केवल एकाकी दृष्टिकोण ही दिखाई देता है और इस सिद्धान्त का प्रयोग करके राज्य ने पूण सत्ता हासिल की और निरकुश रूप धारण करना शुरू किया। अधिकार न तो प्रकृति की देन है और न राज्य की। इनका अस्तित्व व्यक्ति के व्यक्तित्व मे निहित है। राज्य का काम तो केवल उन्हे सुरक्षित करना है। अत अधिकारो के प्रति किसी ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी जो व्यक्ति और समाज म उचित सम्बन्ध निर्धारित कर सकें।

आदर्शवादी-सिद्धान्त

इस मत के विचारक अधिकारा मे नैतिक पक्ष का अत्य त महत्व देते है। ये अधिकार व्यक्तिगत सुविधा और विकास के लिये हैं, अत व्यक्ति को ऐसे मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये जो उसके व्यक्तित्व के विकास म पूण सहयोग दें। अधिकारो का दुरुपयोग करने पर समाज मानव को सजा दे सकता है। ग्रीन के मतानुसार अधिकार वे शक्तिया हैं जो मनुष्य को नैतिक प्राणी होने के नाते प्राप्त होती हैं। कान्ट का कहना है कि "नतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये कुछ अधिकार आवश्यक हैं। राज्य का काम वे परिस्थितिया पैदा करना है जिनम व्यक्ति नतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सके।" इस सिद्धान्त के विचारको के अनुसार आत्म चेतना नैतिकता की प्राप्ति, स्वतन्त्रता और समानता के लिये अधिकारो की आवश्यकता है, जो राज्य ही दे सकता है। इस प्रकार अधिकारो का मुख्य उद्देश्य सामान्य हित है और इस अथ मे उन्हे कत्तव्यो से पृथक् नही किया जा सकता। राज्य द्वारा व्यक्ति को सुरक्षा तथा व्यक्तित्व के विकास के लिये उचित परिस्थितियो की प्राप्ति होती है अत व्यक्ति को चाहिये कि वह भी राज्य के प्रति अपने कत्तव्यों को जाने और उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करे। हेगल का कहना था कि समाज का सदस्य होने के नाते ही व्यक्ति को स्वतन्त्रता और सुरक्षा प्राप्त होती है। राज्य में ही व्यक्ति अपने बाह्य व्यक्तित्व को ऊचा करके अपने आदर्शों की पूर्ति कर सकता है। इस स्वतन्त्रता की अनुभूति, समाज मे (1) कानून द्वारा (2) समाज द्वारा प्राप्त नतिक मूल्या द्वारा

तथा (3) सामाजिक संस्थाओं द्वारा जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं, होती हैं। रूसो ने भी राज्य को व्यक्तियों की "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधि मानते हुये कहा है कि राज्यों की सत्ता इसी इच्छा पर निर्भर है। यह इच्छा व्यक्तियों की अपनी इच्छा है जो समाजकल्याण की भावना से प्रेरित होती है। अत इसी इच्छा द्वारा नियन्त्रित होने से ही व्यक्ति स्वतन्त्र रह सकता है। और अपने व्यक्तित्व का विकास भी कर सकता है। राज्य की सत्ता इसी जन कल्याण की इच्छा को नियमित करने की इच्छा है।

यह सिद्धान्त राज्य के आदर्श स्वरूप और व्यक्ति तथा समाज के वास्तविक सम्बन्धो की व्याख्या नही करता। परन्तु इस पर भी इससे स्पष्ट होता है कि अधिकार कुछ ऐसी मागे हैं जिन्हे राज्य उचित समझकर प्रदान करता है। यह सिद्धान्त व्यक्ति को बताता है कि सभी मानव समान हैं और राज्य उनकी भलाई के लिये है।

उदारवादी-सिद्धान्त

उदारवादी सिद्धान्त का जन्म यूरोपीय समाज मे बढते हुये राजतन्त्र, सामन्तशाही और निरंकुशता इत्यादि तत्त्वो के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे हुआ। इस धारणा का जन्म किसी निश्चित तथा क्रमबद्ध रूप मे नही हुआ। इस सिद्धान्त का आधार हमे लोकतन्त्रवाद तथा व्यक्तिवाद दोनो मे ही प्राप्त होता है। यह तो स्पष्ट था कि अधिकारो का अस्तित्व मानव कल्याण के लिये हैं। व्यक्तिवादियो का दावा था कि राज्य, समाज और व्यक्ति की भलाई के लिये है और व्यक्ति की भलाई के उद्देश्य के लिये राज्य को कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। अधिकारों का स्वरूप मानवतावादी होने के नाते ये अधिकाश वर्ग के लिये लाभदायक तथा उपयोगी होने चाहियें। इसका अर्थ यह नही कि अल्प सख्यक वर्गों को अधिकारों की सुविधा प्राप्त न हो पाये। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकारों की आवश्यकता अपनी भलाई के लिये होती है और किसी एक व्यक्ति का अधिकार दूसरो के रास्ते मे रुकावट नही बनना चाहिये। उदार वादी मनुष्य को समाज मे एक स्वतन्त्र इकाई मानते है। व्यक्ति जन्म से समान होते हैं। अर्थात् जन्म के आधार पर किसी से भी भेद भाव नही किया जाना चाहिये।

इस सिद्धान्त के मुख्य विचारक लॉक, मिल, जेफरसन, मैकाइवर, लास्की तथा ग्रीन इत्यादि हैं। लास्की के अनुसार भी "लोक कल्याण ही अधिकारों का आधार है।" ये लेखक इस विचार को आधार मानकर चलते हैं कि मानव का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वे ऐसे किसी प्रकार के बन्धन नहीं

चाहते जो इस व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालते हो। उदारवादी राज्य की निरकुश सत्ता के विरोधी हैं। उन्होंने निरकुशता के विरुद्ध राजनीतिक स्वतन्त्रता की माग है। राजनीतिक सत्ता किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये शासक को दी जाती है। अत इस सत्ता का दुरुपयोग करने का शासक को कोई अधिकार नही है। अधिकार पूर्ण अधिकार है और शासक इन पर अनुचित बन्धन नही लगा सकते। पाप के आधिपत्य का भी उदारवादी विरोध करते हैं। मेकाइवर का कहना था कि राज्य को व्यक्ति के विचारो तथा मत की अभिव्यक्ति पर किसी भी प्रकार का बन्धन नही लगाना चाहिये। लास्की ने कहा कि राज्य अधिकार प्रदान नही करता, अधिकारो का अस्तित्व राज्य से पूर्व भी था, राज्य का कार्य तो मात्र उन्हे मान्यता प्रदान करना है। इन लेखकों का विचार था कि जो सरकार व्यक्तिगत जीवन मे कम से कम हस्तक्षेप करती है, वही सर्वोत्तम है। व्यक्ति अपने विवेक के प्रयोग द्वारा अपना जीवन अधिक सुखी बना सकता है। अत राज्य को निजी जीवन को अकेला ही छोड देना चाहिये। जितनी अधिक शक्ति केन्द्रित करने का राज्य प्रयत्न करेगा उतना ही वह अधिकारो के रास्ते म बाधा बनेगा।

उदारवादियो के अनुसार सबसे अधिक महत्वपूर्ण अधिकार जीवन की सुरक्षा, बोलने लिखने, घूमने सगठन इत्यादि बनाने के अधिकार है। इसके अतिरिक्त जिस अधिकार की माग पर सबसे अधिक बल दिया गया वह है, सम्पत्ति का अधिकार। निजी सम्पत्ति द्वारा ही व्यक्ति, समाज, राज्य और अन्य शक्तियो का बलपूर्वक सामना कर सकता है। जान लाक, थामस पेन इत्यादि ने सरकार की असमर्थता और अक्षमता पर उससे यह सत्ता छीन लेने का अधिकार भी व्यक्ति को दिया है।

अमेरिका तथा वर्तमानयुग के अन्य देशो के सविधानो मे सम्मिलित अधिकारो की सूची इन्ही धारणाओ पर आधारित थी। इसी के आधार पर हम आज प्राय सभी देशो म मजदूरो के निश्चित काम घण्टे उनके न्यूनतम वेतन, सामूहिक बीमे बीमारी और अक्षमता भत्ते, बच्चो और स्त्रियो को कठिन कामो मे लगाने की मनाही, निजी सम्पत्ति, स्वतन्त्रता समानता, राजनीतिक अधिकार तथा कानून का शासन इत्यादि व्यवस्थाए प्राप्त होती है। भारत के सविधान म सम्मिलित मौलिक अधिकारो का स्वरूप भी इसी प्रकार का है।

उदारवादियो के अनुसार अधिकारो की सुरक्षा के लिये राज्य को कुछ बातें ध्यान मे रखनी चाहियें। (1) अधिकारो का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिये। शक्तियो के पृथक्करण का सिद्धान्त भी इसी विचार पर ही आधारित था। (2) प्रत्येक राज्य का एक लिखित सविधान होना चाहिये जिसम अधिकारो का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाए। (3) निष्पक्ष न्यायालयो की

व्यवस्था की जाए। (4) नागरिक स्वतन्त्रताओ और व्यक्तिगत विकास के रास्ते मे कम से कम रुकावटे डाली जाए। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि (5) व्यक्ति अपने अधिकारो के प्रति सचेत रहे, राज्य के कार्यों की निगरानी करते हुये राज्य को कभी अनुचित हस्तक्षेप की अनुमति न दे।

यह सिद्धान्त अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और बहुत समय तक राजनीति का एक मुख्य आधार बना रहा। राज्य और समाज के सम्बन्ध स्पष्ट और निश्चित थे। और राज्य लोक कल्याण का साधन मान लिया गया था। राज्य का अस्तित्व समाज और व्यक्तियो के लिए है, व्यक्ति का राज्य के लिए नही। परन्तु अत्यधिक सुख की कल्पना से भी समाज म स्वार्थी और आतकवादी तत्वो का भय रहता है। जब राज्य के विरुद्ध विद्रोह की अनुमति प्राप्त हो जाती है तो राज्य की स्थिरता निश्चित नही रह सकती। सरकार का अधिक ध्यान लोक-कल्याण की ओर न होकर अपनी स्थिति सुरक्षित करने की ओर लगा रहता है। इसके अतिरिक्त इस विचारधारा से किसी एक विशेष वर्ग को ही लाभ होता है, यह विशेष वग है पूजीवादी वग। निजी सम्पत्ति के कारण अमीर और गरीब म अन्तर बढता है। एक वग को सभी सुविधायें प्राप्त हो जाती है जबकि अन्य वग अत्यधिक पिछडेपन की स्थिति की ओर अग्रसर रहता है। इसमे सन्देह नही कि अत्यधिक समय तक इस सिद्धान्त को मान्य सिद्धान्त का पद मिला और आज हमारे मूलभूत अधिकार, जसे कि—जीवन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, व्यक्तिगत सुरक्षा, स्वतन्त्रता, शिक्षा, धर्म विचार—अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इत्यादि सभी अधिकार इसी सिद्धान्त की ही देन हैं। समय के साथ उदारवादी विचारधारा मे भी परिवतन आता रहा। अधिकारों के साथ-साथ कत्तव्यो पर भी बल दिया जान लगा। लास्की न सम्पत्ति के अधिकार की आवश्यकता क साथ निजी लाभ और एकाधिकार की बुराइयो पर भी प्रकाश डाला। लास्की ने इन बुराइया का किसी भी प्रकार से दूर करन की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कम से कम वतन और आवश्यक सुविधायें प्राप्त करने का अधिकार है। उत्पादन का उद्देश्य, निजी लाभ अजन नही बल्कि, जन कल्याण होना चाहिए। लास्की ने दास प्रथा को भी अनतिक माना। इस दृष्टि से लास्की पर उभरती हुई समाजवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

अधिकारो का मार्क्सवादी सिद्धान्त

मार्क्स ने अलग से अधिकार के किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित नही किया। परन्तु अधिकारो के प्रति उनकी धारणा का परिचय उनके लोकतन्त्र और

राज्य से सम्बंधित विचारो से मिलता है। इस विषय मे मार्क्स, एजेंल्स, लेनिन इत्यादि के विचार विचारणीय है। उनके अनुसार किसी समाज मे अधिकारो का स्वरूप और चरित्र उस समाज की उत्पादन व्यवस्था पर निभर है। अधिकार, स्वतन्त्रता, समानता, इत्यादि सभी का सम्बन्ध उत्पादन की व्यवस्था से है। अधिकार न तो कानूनी है, न प्राकृतिक—ये तो ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित दिशा मे वर्ग सघर्ष की देन हैं। अधिकारो की धारणा पूजीवादी विश्व की धारणा है। प्रत्येक समाज दो वर्गों मे विभाजित रहता है। जिस वर्ग का प्रभुत्व होता है अधिकार वास्तव मे उसी के पास होते हैं। प्रारम्भिक समय मे जब दास प्रथा प्रचलित थी तो यह विभेद स्पष्ट था। सभी अधिकार मालिको को प्राप्त थे। अत इन अधिकारो को समाज की अर्थव्यवस्था से हटकर नही देखा जा सकता है। पूजीवादी व्यवस्था मे चाहे प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार दिए भी जायें तो भी मजदूर वर्ग को अधिकार केवल नाम मात्र ही प्राप्त होंगे, वास्तविक नही। यह स्पष्ट करने के लिए इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि सम्पत्तिहीन को समाप्ति के अधिकार का क्या लाभ। इसी प्रकार स्वतन्त्रता के अधिकार का एक भूखे व्यक्ति का क्या लाभ हो सकता है ?

मार्क्सवादी मे व्यक्ति और समाज के हित मे कोई अन्तर नही माना जाता। समाज से बाहर और समाज के विरुद्ध कोई अधिकार नही हो सकते। मार्क्सवाद के अनुसार क्रान्ति द्वारा वर्ग विभाजन को समाप्त कर देने पर उत्पादन के साधनो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा। उत्पादन के साधनो का प्रयोग लाभ के लिए नही बल्कि, जनकल्याण के लिए किया जाएगा। इसी प्रकार के समाज मे ही व्यक्ति हित और समाज हित एक ही होगे और अधिकारों का प्रयोग सामाजिक व्यक्ति, सामाजिक प्रवृत्तियो के विकास के लिए करेगा।

मार्क्सवादी सिद्धान्त मूल रूप से राज्य विरोधी है। राज्य सदा ही शासक वर्ग के द्वारा शोषण का साधन ही रहा है। लोकतन्त्र के समानता के उच्च आदर्श केवल धोखा है जिनकी आड मे मजदूर का शोषण किया जाता है। राज्य द्वारा न्याय व्यवस्था के उपकरण भी खोखले हैं अत नाम मे अधिकार दिए जाने पर भी आम जनता उनका उपभोग नहीं कर पाती। लास्की ने कहा कि 'किसी भी व्यक्ति को धन, विद्या व पद प्राप्त करने की मनाही नही है लेकिन वास्तविकता यह है कि इन सुविधाओ को प्राप्त करने के साधन न के बराबर हैं।" इस स्वरूप मे मार्क्स का कहना है कि अधिकार दे देना ही काफी नही, इनके उपयोग के लिए सामाजिक परिस्थितियो को पैदा करना भी आवश्यक है। ये परिस्थितियां वर्ग विभाजित सघर्ष मे सम्भव नहीं हो सकतीं। इनकी सभावना केवल समाजवाद मे ही है। जब तक निजी सम्पत्ति, शोषण, असमान अधिकार इत्यादि रहेंगे सामाजिक अधिकारो का अस्तित्व नहीं हो सकता। ●●

10707